

प्राचीनता का भविष्य

प्रस्तावना धर्मगुरु दलाईलामा
परिचय पीटर मैथिसीन



भूमंडलीकरण की और अगसर विश्व की लड़ाख की सीख

हेलेना नॉर्बर्ग-होज़



प्राचीनता का भविष्य

भूमंडलीकरण की ओर अग्रसर विश्व को
लदाख की सीख

हेलेना नॉर्बर्ग-होज़

भाषांतर — ज्वाला प्रसाद मिश्रा



बनियन ट्री

जॉन को, उसके प्यार और सहायता के लिये,
और लद्दाख के लोगों के लिये,
जिनसे मैंने इतना कुछ सीखा

प्राचीनता का भविष्य

भुमंडलीकरण की ओर अग्रसर विश्व को लद्दाख की सीख
हेलेना नॉर्बर्ग-होज

प्रथम हिन्दी संस्करण 2013

बनियन ट्री

1-बी, धेनु मार्केट, दूसरा माला

इन्दौर — 452003, इण्डिया

टेलीफोन : 91-731-2531488, 2532243

मोबाइल : 91-9425904428

ई-मेल : banyantreebookstore@gmail.com

वेबसाइट : www.banyantreebookstore.weebly.com

First published in English as

ANCIENT FUTURES

Lesson from Ladakh for a Globalizing World

by Helena Norberg-Hodge

Original edition Copyright © 2009, 1991 by Helena Norberg-Hodge. All rights reserved.

Hindi edition Copyright © 2012 by International Society for Ecology and Culture (ISEC)

मूल संस्करण कॉपीराइट © 2009, 1991 हेलेना नॉर्बर्ग-होज, सर्वाधिकार सुरक्षित।

हिन्दी संस्करण कॉपीराइट © 2012 इंटरनेशनल सोसायटी फॉर इकोलॉजी एण्ड कल्चर (आइसेक)

“भाषांतर एवं प्रकाशन अनुमति पूर्वक।”

ISBN: 978-93-82400-01-1

टाइपसेटिंग / आवरण डिज़ाइन : शुभम पाटिल

मुद्रक : स्वाध्याय मंदिर, इंदौर

PRACHINTA KA BHAVISHYA

अनुक्रमणिका

आभार iv

प्रस्तावना: धर्मगुरु दलाई लामा vi

परिचय: पीटर मैथिसेन viii

मंगलाचरण: लद्दाख से सीख ।

भाग एक: परंपरा

1. “छोटा तिब्बत” 9
2. ज़मीन के साथ रहना 19
3. चिकित्सक और शमन 37
4. हमें साथ मिलकर रहना है 45
5. लयबद्धता रहित नृत्य 55
6. बुद्धवाद: जीवन की एक शैली 71
7. जोड़े डी विवरे 82

भाग दो: परिवर्तन

8. पश्चिम का आगमन 89
9. मंगल ग्रह के लोग 92
10. पैसा है तो दुनिया बस में 99
11. लामा से अभियन्ता 103
12. पाश्चात्य रीति से सीखना 108
13. केन्द्र की तरफ खिंचाव 112
14. विभाजित लोग 119

भाग तीन: लद्दाख से सीख

15. न कुछ श्याम है, न कुछ श्वेत है 131
 16. विकास का छल 139
 17. प्रति-विकास 155
 18. लद्दाख परियोजना 165
- उपसंहार: “प्राचीनता का भविष्य” 177
- बाद में: सुख का अर्थशास्त्र 189

आभार

यह पुस्तक बिना मेरे लद्दाखी मित्रों की सहायता के कदाचित नहीं लिखी जा सकती थी। दुर्भाग्य से मित्रों की संख्या इतनी अधिक है कि प्रत्येक के नाम का उल्लेख नहीं किया जा सकता है। परंतु ताशी राबग्यास और ग्येलांग थुबस्तन पाल्दान को विशेष धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने वर्षों तक मेरा पथ प्रदर्शन किया; दोल्मा त्सेरिंग को, जिसने स्त्रियों को जोड़ने में गज़ब के नेतृत्व का प्रदर्शन किया; और त्सेवांग रिगज़िन लागरूक को उसके शांत विवेक एवं दयालुता हेतु, जो मेरे लिये उस सबका मानवीकरण है, जिसका लद्दाख प्रतिनिधित्व करता है।

हर बात में मेरे साझीदार जॉन एलेक्जेंडर पेज आरंभ से अंत तक धैर्यपूर्वक सहयोग और परामर्श देते रहे, जबकि हिल्डर जैक्सन ने मुझमें पुस्तक के प्रति विश्वास उत्पन्न किया तथा पहली पांडुलिपि तैयार करने में मदद की।

मैं सुसन मून, स्टीवेन गोरलिक, क्रिस्टनस्टील-टाम्पसन और पीटर गोरिंग की हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे विचारों को जीवंत रखने हेतु मुझे हौसला दिया और मुझमें ऊर्जा का संचार किया; और मेरी एन स्टीवर्ट, जिसका उत्साह और पुस्तक के प्रति रुचि ने मुझे पुस्तक को पूरी करने हेतु अग्रसर किया। मैं अपने मित्र तथा मूल संपादक डैनी मोजेस का भी धन्यवाद करना चाहूँगी और डायना लांडाऊ का भी, जो इस संस्करण के संपादक हैं।

बतौर सचिव सहायता उपलब्ध कराने हेतु मैं एलेन आमेरान का धन्यवाद करना चाहूँगी जिसने अनेक मजमूनों का टंकन एवं दुबारा टंकन किया; लेना हैडेन; फेलिसिटी वाइट; तथा शुमाकर कॉलेज, इंग्लैंड के मेरे छात्र: गिनी कीगन, कैजुआरिना मोरमान, ब्रिजेट विलियमसन, नताशा आर्नल्ड, रायावान इन्नोन, और एंथनी व्हिटवर्थ का।

लद्दाख में निष्पादित कार्य, मेरे पति जॉन के नेतृत्व गुण; स्टीवेन गोरलिक की प्रशासकीय एवं चहुँमुखी कुशलता; और इयान वोराल की अतुलनीय प्रतिभा; का हमेशा ऋणी रहेगा, जिन्होंने एक दशक से अधिक समय तक हमारी समुचित तकनीकी परियोजनाओं का संचालन किया। बेकी टाबोर्टटन और एलेक्स जेनसेन भी अपने योगदान के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में, मैं उन लोगों के प्रति आभार प्रकट करना चाहती हूँ, जिन्होंने सालों तक उदारतापूर्ण सहायता और परामर्श दिया, जो बहुमूल्य था। मैरियन वेबर, एन रॉबर्ट्स, जोनाथन और डायना रोज, वर्जीनिया मड, बोनी मित्सुई, कैरोल ब्लैक और नील मार्लेन्स, यवान और मलिनडा चोडनार्ड, मिकी और पीटर बकले, डाउग टांपकिन्स, टेड्डी व जैक गोल्डस्मिथ, पाउला पेस, और बारबरा कैन्ट ने आइसेक का कार्य करने तथा लद्दाख परियोजना को आकार देने व आगे बढ़ाने में मेरी बहुत सहायता की। उनकी मित्रता और सहयोग का मेरे लिये अत्यधिक महत्त्व रहा।

नोट : पुस्तक में मैंने अधिकांश व्यक्तिगत नामों को निजता के रक्षार्थ बदल दिया है।

प्रस्तावना

धर्मगुरु दलाई लामा

हेलेना नार्बर्ग-होज़ लद्दाख तथा वहाँ के लोगों की बहुत समय से मित्र रही है। इस पुस्तक में वे पारंपरिक लद्दाखी जीवन शैली की मुक्त कंठ से सराहना करती हैं और उसके भविष्य को लेकर कुछ चिंतित भी लगती हैं।

तिब्बत व शेष हिमालय क्षेत्र की भाँति लद्दाख का आत्मतुष्ट अस्तित्व शताब्दियों तक लगभग अक्षुण्ण रहा है। कठिन जलवायु और कठोर पर्यावरण के बावजूद, लोग कुल मिलाकर सुखी एवं संतुष्ट हैं। निःसंदेह यह अंशतः मितव्ययिता के कारण है, जो कि आत्मनिर्भरता से आती है और अंशतः प्रमुख बौद्ध संस्कृति के कारण है। लेखिका ने लद्दाखी समाज के मानवीय मूल्यों को रेखांकित किया है, जो उचित ही हैं; एक दूसरे की मौलिक आवश्यकताओं के प्रति गहन सम्मान तथा पर्यावरण की प्राकृतिक सीमाओं की स्वीकृति। इस प्रकार की उत्तरदायी प्रवृत्ति ऐसी है, जिसकी हम सराहना कर सकते हैं और उससे कुछ सीख सकते हैं।

हाल के दशकों में लद्दाख में जो एकतरफ़ा परिवर्तन हुए हैं, वे वैश्विक वृत्ति के प्रतिबिंब हैं। जैसे-जैसे हमारा संसार छोटा होता जाता है, पहले के अलग-थलग पड़े लोग स्वयमेव वृहत्तर मानवीय परिवार में लाए जाते हैं। प्राकृतिक रूप से समन्वय स्थापित करने में समय तो लगता ही है, जिसके दौरान परिवर्तन होना लाज़मी है।

हमारी धरती के पर्यावरण के लिये जो संकट पैदा हो रहा है, उसके प्रति लेखिका की चिंता से मैं सहमत हूँ और उसने आधुनिक विकास की अनेक समस्याओं के लिये वैकल्पिक समाधानों की दिशा में जो कार्य किये हैं, उनकी प्रशंसा करता हूँ। यदि लद्दाखियों के प्राकृतिक संसाधनों, उनके एक-दूसरे के प्रति और पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को बचाकर रखा जा

सकता है तथा उसे नई स्थितियों पर लागू किया जा सकता है, तो मैं सोचता हूँ कि हम लद्दाख के भविष्य के प्रति आशावादी हो सकते हैं। यहाँ पर युवा लद्दाखी भी हैं, जिन्होंने आधुनिक शिक्षा पूरी की है और अपने लोगों की सहायता करने की इच्छा रखते हैं। इसके साथ ही पारंपरिक शिक्षा को मठवादी व्यवस्था में पुष्ट किया गया है और इसके लिये तिब्बत के मठों से, जो कि निर्वासित अवस्था में ही फिर से स्थापित किये गये हैं, से संबंध जोड़ा गया है। और अंत में लद्दाख के प्रति विदेशों में सहानुभूति रखने वाले मित्रों की कमी नहीं है, जो इस लेखिका की तरह हर संभव सहायता एवं प्रोत्साहन देने को तत्पर हैं।

पारंपरिक ग्रामीण समाज चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न दिखाई दे, उसके लोगों को आधुनिक विकास के फायदों का आनंद लेने के अवसर से वंचित नहीं किया जा सकता। किंतु, जैसा कि यह पुस्तक सुझाव देती है, विकास व सीख केवल एक ही दिशा की और उन्मुख नहीं होना चाहिये। पारंपरिक समाज के लोगों में, जैसे कि लद्दाख में, प्रायः एक आंतरिक विकास होता है, एक संतुष्टि व दिली अनुभूति, जिसका हम सब को अनुसरण करना चाहिये।

परिचय

पीटर मैथिसेन

काश्मीर के हिमालयी क्षेत्र में, काराकोरम के अंतर्गत, लद्दाख, दूर-दूर तक फैली हुई बंजर घाटी है, जिसमें 20,000 फुट तक ऊँची चोटियाँ हैं। यह हिमालय के वाटरशेड के उत्तरी रेनशैडो में स्थित है, जो उच्च मरुस्थलीय तेज़ हवाओं एवं तपा देने वाले सूरज का प्रदेश है। उत्तर में तिब्बत की ओर उपमहाद्वीप, हिमालय को पार कर के जाना आसान है और वहाँ के लोग तिब्बती भाषा की एक बोली बोलते हैं। आसाम, भूटान तथा नेपाल के मुस्तांग और डोलपो क्षेत्रों की भाँति तथा महान हिमालयीन सीमांत इलाकों की तरह लद्दाख भी गत एक सहस्र वर्षों से तिब्बती बुद्धवाद का क्षेत्र रहा है।

राजनैतिक नज़रिये से 'ला डार्स' (भूमि), एक अर्ध-स्वशासी विभाजित ज़िला है (अंग्रेज प्रशासन ने 1947 में उसे मुस्लिम पाकिस्तान और हिंदू भारत में विभक्त कर दिया था।) सांस्कृतिक दृष्टि से यह और भी अधिक प्राचीन है। यह दो हजार वर्ष पुराने तातार चरवाहों के उस साम्राज्य की भूमि रही है, जिन्होंने जौ तथा कुछ अन्य कठोर फसलों को उगाना सीख लिया था — मटर, शलगम, आलू — इन ऊँचाइयों पर अल्पकालिक उपजाऊ काल में। काले अखरोट और ख़ुबानी के पेड़ निचले पहाड़ों पर उगाये जाते हैं। लद्दाखियों के जीवन की यह साहसिक रीति, पतली मिट्टी वाली ज़मीन और अत्यल्प जल और पालतू पशुओं — भेड़, बकरी, कुछ गधे, छोटे-मैलेकुचैले घोड़ों तथा विशेषतः 'दज़ो', एक एशियाई मवेशी, अर्ध-वनैला काला सांड, जिसे याक के नाम से जाना जाता है, के कौशलपूर्ण उपयोग के कारण संभव हो सकी है। ये पशु संसाधन लोगों को माँस और दूध, मक्खन और चीज़, सस्ता श्रम और परिवहन, ऊन एवं ईंधन, सब कुछ उपलब्ध कराते हैं। इस वृक्ष विहीन भूमि में जानवरों के गोबर के कंडे वर्ष भर इकट्ठे किये जाते हैं, जो कि बेशकीमती

संसाधन होते हैं, जो न केवल खाना बनाने हेतु ईंधन का प्रदाय करते हैं, बल्कि लंबी सर्दियों में जब तापमान 40 डिग्री फ़ैरनहाइट तक गिर सकता है, ज़रूरी ऊष्मा भी देते हैं।

अभी कुछ वर्षों पहले तक लद्दाखियों की बुनियादी ज़रूरतें — रोटी, कपड़ा और मकान — स्थानीय तौर पर एवं हाथ से तैयार किये जाते थे और इसलिए सामुदायिक श्रम बहुमूल्य स्रोत होता था, जो कि घर बनाने (पत्थर, मिट्टी, जिस पर चूना पोत दिया जाता था) में उदारतापूर्वक दिया जाता था, या फसल कटाई के समय, या ढोरों की रखवाली के लिये। अधिक ऊँचाई पर हरियाली निचले क्षेत्र से अधिक है, अतः पशुओं को ऊपरी चारागाहों पर गर्मियों में ले जाया जाता है और इस प्रकार उन्हें जौ के छोटे-छोटे खेतों तथा सब्जियों के बागों से दूर रखा जाता है। पशुओं से प्राप्त गोबर को ईंधन के रूप में भोजन बनाने तथा सर्दियों में घर गर्म रखने के लिये एकत्रित किया जाता है और मानव मल को राख एवं मिट्टी में मिलाकर बगीचों में बिखरा दिया जाता है; यहाँ पर कोई प्रदूषण नहीं है। इस तरह कुछ भी बर्बाद नहीं किया जाता है और न कुछ फेंका जाता है; हर वस्तु का उपयोग ढूँढ़ लिया जाता है।

लद्दाखी जीवन के कण-कण में बौद्ध शिक्षा का असर देखा जा सकता है, जो बर्बादी को रोकने और भूमि एवं जल के मितव्ययतापूर्ण कुशल प्रबंधन को प्रोत्साहित करती है — मितव्ययिता। जिसे हेलेना नाबैंग-होज़ कंजूसी कहती है, वह कंजूसी कदापि नहीं है (बौद्ध शिक्षा भी जिसका विरोध करती है), अपितु वह भूमि के सीमित स्रोतों के प्रति सम्मान और कृतज्ञता से उत्पन्न होती है। पानी हिम स्रोतों से सावधानी पूर्वक लिया जाता है — एक पीने के लिये तो दूसरा धुलाई के लिये। वस्तुतः, प्रत्येक प्रयोजन के लिये कष्टसाध्य प्रयास है और प्रत्येक क्षण इस आत्मनिर्भर संस्कृति को संभव बनाता है और उसके बाद भी लद्दाखियों के पास फुर्सत के कई पल होते हैं।

एक माँ और उसकी दो बेटियों को खेत में पानी देते हुए मैंने उन्हें एक छोटी नहर को खोलते और भूमि के पानी से तर हो जाने पर फावड़ा भर मिट्टी से बन्द करते देखा। उन्होंने बड़ी ही कुशलता पूर्वक पानी को बराबरी से चारों ओर फैलने का प्रबंध किया, यह जानते हुए कि पानी किस ओर आसानी से बहेगा और कहाँ उसे मदद की ज़रूरत होगी। एक फावड़ा भर खुदाई यहाँ, थोड़ा उधर वापस रख देना, चट्टान को हल्का सा सरका देना ताकि धारा खुल जाए। यह सब समय के अत्यंत नाज़ुक क्षणों की समझ के साथ। बीच-बीच में वे अपने फावड़ों पर झुककर आपस में बातें भी करती जाती थीं, एक आँख पानी की प्रगति पर रखते हुए।

होपी व अन्य आमेरइंडियन लोगों की तरह (जिनके विषय में अब यह माना जाता है कि वे भी उसी क्षेत्र, लेक बैकल एवं गोबी मरुस्थल के पास से आए थे, जैसे कि तातार लोग जो बाद में इस हिमालयी इलाके में आए), लद्दाखी भी वृत्ताकार वास्तविकता की तिब्बती अवधारणा को मानते हैं,

जिसमें जीवन और मृत्यु “सतत लौटते रहने वाली प्रक्रिया के दो पहलू हैं,” भौतिक संस्कृति के कुछ मामलों में आमेरिंडियनों से इनकी तुलना बहुत रोचक है। जौ का मांड जो लदाख में ‘नोम्पे’ कहलाता है, तिब्बती में उसे ‘त्साम्पा’ कहते हैं। बहुत कुछ इसी प्रकार का मांड अमेरिका में एंग्लोकियनों द्वारा बनाया जाता है, वह ‘साम्प’ कहलाता है।

यदि ‘साम्प-त्साम्पा’ मात्र संयोग ही हों, तो भी अन्य साम्यताओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। जैसे कि यह परंपरा कि बस्ती पूर्वाभिमुखी ही हो, सूर्योदय की ओर, सर्दियों में कहानियाँ सुनाने पर प्रतिबंध, कुछ ऐसे उपचार जो पश्चिमी लोगों को अचरज में डाल दे तथा वृद्धों और बच्चों के प्रति गहरी श्रद्धा, जिनका प्रतिदिन की हर एक गतिविधि में स्वागत किया जाता है। अमेज़न घाटी की आमेरिंडियन जनजातियों में किसी व्यक्ति के क्रोध व्यक्त करने पर उसे निर्वासित कर पास के वनों में छोड़ दिया जाता है, ‘स्वोन चान’ (जो शीघ्र कुपित हो जाता है), लदाखी भाषा में सबसे बड़ा अपमान है। पश्चिमी लोगों की भाँति क्रुद्ध होने के बजाय लदाखी कहता है — ‘ची चोएन’, क्या फर्क पड़ता है? यहाँ “दर्पहीनता” को गुण मानते हैं, क्योंकि अहं से अभिमान आता है, जिससे इन आत्मभिमानी बौद्ध लोगों का कुछ लेना-देना नहीं है। मैंने इसे शेरपाओं (तिब्बती में “पूरबी”) के साथ हिमालय की यात्राओं के दौरान कई बार देखा और लदाखियों की भाँति ही डोल्पो लोग शुद्ध तिब्बती बौद्ध संस्कृति का जीवन जीते हैं।

यद्यपि मुझे लदाख की यात्रा करने का अवसर उससे पहले कभी नहीं मिला जब दस वर्ष पूर्व लेखिका ने मुझे पहली बार आमंत्रित किया था, किंतु इस भूमि और डोल्पो के बीच की सौंदर्यपरक एवं आध्यात्मिक अनुरूपता, लेखिका के वर्णन में प्रत्यक्ष से उठती है। दोनों ही शुष्क, भयावह, किंतु वृक्ष विहीन पर्वतीय इलाके हैं, जहाँ स्तूप व चोर्टेन, प्रार्थना ध्वज और कलश तथा पाषाणों पर उत्कीर्ण प्रार्थना दीवारें हैं। मुख्य वनैले पशु नीली भेड़ (दरअसल एक बकरा), एशियाई भेड़िया और हिम तेंदुए हैं। लेखिका ने एक चरवाहा महिला के अनुभव का वर्णन किया है जो बीहड़ में मवेशियों को चरा रही थी:

रास्ते के ठीक ऊपर एक बस्ट (एक प्रकार की झाड़ी जो ईंधन के रूप में प्रयुक्त होती है) का गोला छोटे पथरों से ढँकी हुई पहाड़ी से गुलाटी खाता नीचे आने लगा। वह उछल नहीं रहा था, जैसी की अपेक्षा थी, अपितु सरलता से ऊँचे-नीचे पथरों पर से फिसलता हुआ आ रहा था। वह चकित थी; उसने ऐसा पहले कभी नहीं देखा था। वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, उसे ओर निकट आते हुए देखती रही। जब वह कुछ गज की दूरी पर आकर पशुओं के पास रुक गया, उसने उसकी ओर देखा, उस झाड़ी ने और तब उसने (चरवाहा महिला ने) एकाएक पाया कि वह एक हिम तेंदुआ था।

यहाँ पर पारंपरिक लदाखी जीवन के जो उत्सव होते हैं वे उल्लास तो उत्पन्न करते हैं, परंतु अवसाद भी, जैसे कि कोई दूसरे जीवन के स्वर्ग की अर्धस्मृति अब खो गई हो! यह इतनी प्रबोधक होती है कि मुझे लगा — मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि क्या — वह क्रिस्टल मोनेस्ट्री के लिये “घर की याद” पीड़ित बनाती है? या कदाचित “घर वापसी” की याद, मानों कि मैं गुम हुए स्वर्ग की ओर लौट रहा हूँ, वह प्राचीन एवं समन्वित जीवन शैली जो कि कभी पश्चिम के लोग जानते थे — और वस्तुतः अभी भी जानते हैं, पुराने यूरोप के दूरस्थ कोनों में।

लदाखियों का जीवन — एवं मृत्यु — के प्रति दृष्टिकोण कदाचित नश्वरता की सहजबुद्धि की समझ पर आधारित है और उसके फलस्वरूप मोह का अभाव है। ... बजाय इस विचार से जुड़े रहने के, कि चीजें कैसी होनी चाहिये, उन्हें इस बात का आशीर्वाद प्राप्त है कि चीजे जैसी भी हैं, वे उनका स्वागत करने की योग्यता रखते हैं।

आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्थाओं तथा पारंपरिक प्रौद्योगिकियों के सपने देखना आसान है और जैसा कि लेखिका स्पष्ट करती है, उनके फायदों की अनदेखी करना, पशुओं की सहायता से खेती करने की सांवत्ना प्राप्त करना बजाय ट्रैक्टरों के और अनाज को जलशक्ति से चलने वाले पहियों से पीसना, बजाए इंजन के, भी आसान है। अनेक प्राचीन समाज ज़मीन से उनके रिश्तों के मामले में हमारी अपेक्षा अधिक टिकाऊ रहे हैं और उनके रहने का ढंग, मनोवैज्ञानिक संतुलन के लिये अधिक सहायक है — और जैसा कि लेखिका का कहना है, “हमारे अपने उस मानवीय स्वभाव के अनुकूल है, जो बताता है कि शांति और आनन्द जीने का एक ढंग हो सकता है।” जिस किसी को भी ऐसे समाज का अनुभव है, वह इस बात की पुष्टि करेगा कि यह न तो कोरी कल्पना है और न स्वप्नदर्शिता है। जो भी हो श्रीमती हेलेना नार्बर्ग-होज मूलतः सिद्धांतवादी और पक्के इरादों वाली महिला है।

“प्रगति का एक आयामी नज़रिया, जिसका अर्थशास्त्री और विकास विशेषज्ञ अत्यधिक समर्थन करते हैं, ने आर्थिक वृद्धि के नकारात्मक पहलू को ढँकने में बड़ी सहायता की है --- इससे स्थिति को समझने में बड़ी भूल हुई है और विश्व के अधिसंख्य लोग — तीसरी दुनिया के ग्रामीण खंड के लाखों लोग — भ्रमित हैं — इसने विकास कार्यक्रमों को ऐसा मुर्खौटा पहना दिया है, जो दरअसल बजाय लोगों को लाभ पहुँचाने के, अधिकांश मामलों में उनके जीवन स्तर को नीचे ले गया है।”

आधुनिक तकनीकें, जो पूँजी और जीवाष्प ईंधनों पर आश्रित हैं, अंततः केंद्रीकरण की ओर ले जाती हैं, नकद फसलों की ओर बजाय प्रचलित कृषि और वस्तु विनिमय की ओर, समय बर्बाद करने वाली यात्राओं की ओर एवं अजनबियों के बीच तनावपूर्ण शहरी जीवन की ओर। और उनसे श्रम की बचत अत्यंत संकीर्ण अर्थ में ही होती है, क्योंकि अपनी जीविका नए तरीके से चलाना जो प्रतिस्पर्धात्मक है बजाय सामुदायिक और जो अधिक समय की माँग करता है। माल और सामग्री

हेतु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर निर्भरता अंततः एकल संस्कृति की ओर ले जाती है — भौतिक एवं अभौतिक दोनों आवश्यकताओं के लिये एक जैसे स्रोत तथा संसाधन; पोषाकों से संगीत तक — और सतत बढ़ती हुई एक आम भाषा (अधिकतर मामलों में विकृत अंग्रेजी)। और तो और एक जैसी शिक्षा तथा मूल्य और उसी अनुपात में स्थानीय संस्कृति के प्रति घृणा एवं अवमानना। आधुनिक शिक्षा स्थानीय संसाधनों का अनादर करती है, बच्चों को इस तरह पढ़ाया जाता है कि वे न केवल अपनी पारंपरिक संस्कृति को अपितु स्वयं को ही नकारे।

इसी बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा जो कि वस्तु विनिमय और सामुदायिक प्रयासों का स्थान लेती जा रही है, अनिवार्य रूप से असंतोष, लोभ, झगड़ों, बल्कि युद्धों की ओर ले जाती है। यह सब एक खास किस्म की अर्थव्यवस्था की तरफ, जिसे स्थानीय लोग नहीं अपना सकते और यदि अपना भी सके, तो वह लदाख (तथा तीसरी दुनिया के सीमित संसाधनों वाले भूमार्गों) के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होगी। फिर भी ऐसे देशों का भविष्य, विकास निगमों तथा वित्तीय संस्थाओं के हाथों में है, जिसमें विश्व बैंक भी शामिल है और जहाँ निर्णय पाश्चात्य अर्थप्रणालियों के आधार पर लिये जाते हैं, न कि संबंधित राज्य के लोक कल्याण के आधार पर।

जनसंख्या वृद्धि दूसरा दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिफल है, जिसकी वजह से विश्व भर में संस्कृतियाँ टूट रही हैं। अभी कुछ समय पूर्व तक लदाख की आबादी का कृषि योग्य भूमि और जल एवं पशु चारे के न्यूनतम संसाधनों से बढ़िया अनुकूलन था। अब बाहरी दुनिया पर बढ़ती निर्भरता के कारण, लेखिका के मतानुसार “वैयक्तिक दायित्वों का क्षय हो रहा है तथा लोग इस तथ्य को भूल रहे हैं कि संसाधन सीमित हैं। आशावादियों की सोच यह है कि हम संसाधनों की कमी के लिये कोई ओर रास्ता ढूँढ़ निकालेंगे, कि विज्ञान किसी न किसी तरह धरती की प्रचुरता का अनादि काल तक दोहन करता रहेगा। ऐसा विचार उस हकीकत की ओर से आँखें मूँद लेता है कि प्राकृतिक संसार की अपनी भी कुछ सीमाएँ हैं, जिन्हें बदलने की ताकत हममें नहीं है और यह काफी सुविधाजनक ढंग से पूँजी के पुनर्वितरण की आवश्यकता को नज़रअंदाज करता है। वैश्विक अर्थव्यवस्था को बदलने की आवश्यकता नहीं है, यदि आप विश्वास करते हों कि हमें अधिक से अधिक प्राप्त होता रहेगा।

क्या (जैसा कि यहाँ बतलाया जा रहा है) भावी निगमित विकासकर्ता और भावी लाभ कमाने वाले, अपनी असंगत (इनएप्रोप्रिएट) तकनीकों के चलते वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं, या वे वस्तुतः, अन्यो की अपेक्षा अधिक जानते हैं — कि ऋण, निर्भरता और पर्यावरणीय प्रदूषण, पूर्व की स्वच्छ और स्वावलंबी संस्कृति पर लादा जा रहा है। बावजूद इसके वे सरल मुनाफे के पीछे भाग रहे हैं और अपने पीछे न केवल प्रदूषण बल्कि हताशा, व्यथा और क्रोध को छोड़ते जा रहे हैं? बौद्ध शिक्षा का आधार जो एकता और सभी जीवों की पारस्परिक निर्भरता पर आश्रित है, वह पश्चिमी मानदंडों में पूर्णतः अनुपस्थित है और वही लदाख के लोगों पर थोपा जा रहा है।

स्थितियों के अनुरूप ढाल लेने की बौद्ध योग्यता, हर परिस्थिति में प्रसन्न रहने का गुण अब नहीं रहा और वह “गहन संतुष्टि भी नहीं रही, जिसके वे आदी थे।” मात्र सोलह वर्ष पूर्व जब हेलेना नार्बर्ग-होज पहली बार लदाख आई थी, लोग अपना मक्खन रखने का लकड़ी का पात्र, जो कुछ पर्यटक खरीदना चाहते थे, किसी भी कीमत पर देने को तैयार नहीं होते थे; आज वे उसे बेचने हेतु लालायित रहते हैं, वे अपने मक्खन को टिन के डिब्बों में रखने लगे हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण से, गलत ढंग से हुए विकास के कारण जो क्षतियाँ होती हैं, वे भौतिक क्षति से कहीं अधिक पीड़ादायक हो सकती हैं। जैसा कि लेखिका कहती है, छोटे समुदाय और लदाखी जीवन के बड़े विस्तृत परिवार “पलने-बढ़ने” की बेहतर आधार शिलाएँ हैं, बनिस्बत अस्वाभाविक रूप से घर छोड़कर बाहर रहने के, जो अंततः छोड़ने और पकड़ने वाली प्रवृत्तियाँ एवं रिश्तों की तरफ ले जाती हैं, जिसका बौद्ध शिक्षा भी निषेध करती है। अपनी संस्कृति के प्रति नफरत के अलावा, उसे चाहने की इच्छा जो व्यक्ति को पढ़ाई गई है पर कभी प्राप्त नहीं होगी (अधिकांश मामलों में), को दुषित तकनीकी प्रगति और उसके साथ सृजित होने वाली अनेक बुराइयों से प्रोत्साहन मिलता है। विशेषज्ञता के आने के कारण, कार्य घर से दूर किया जाता है, जिससे सामाजिक जीवन व्यवसायिक सहभागियों और अजनबियों पर निर्भर हो जाता है और बच्चों को लगातार अलग-थलग रखा जाता है। जिसे तथाकथित प्रगति कहा जाता है, वह संस्कृति को तेज़ रफ्तार से छिन्न-भिन्न कर रही है, लदाखियों को अपनी जमीन से अलग कर रही है, एक-दूसरे से अलग और उससे अलग जिसे बौद्ध “अपनी खुद की सच्ची संस्कृति” कहते हैं।

जैसा कि “द अनसेटलिंग ऑफ अमेरिका” में वेन्डेल बेरी लिखते हैं:

विशेषज्ञता की प्रक्रिया के अंतर्गत होता यह है कि यद्यपि समाज अधिकाधिक पेचीदा होता जाता है, उसका ढाँचा टूटता जाता है। वह अधिकाधिक संगठित होता जाता है किंतु उतना ही अव्यवस्थित भी! समुदाय बिखर जाता है, क्योंकि वह रूपों और वस्तुओं तथा प्रक्रियाओं के बीच के नियम-कायदों के संबंधों की, सिद्धांतों एवं क्रियाओं की, विचारों एवं यथार्थ की, अतीत एवं वर्तमान की, वर्तमान और भविष्य की, पुरुषों एवं स्त्रियों की, शरीर एवं आत्मा की, नगर एवं देश की, सभ्यता और बीहड़ की, वृद्धि और क्षय की, जीवन एवं मृत्यु की — आवश्यक समझ को खो देता है — ठीक उसी तरह जैसे एक व्यक्ति का चरित्र, इन संबंधों में जिम्मेदारियों की सहभागिता के बोध को खो देता है . . .

वर्तमान में एक जिम्मेदार आचरण ही भविष्य की खात्री (गारंटी) है। जैसी कि आजकल की प्रवृत्ति है, जब हम आने वाले कल की ज़रूरतों का उपयोग, वर्तमान के दूराचरण को सही ठहराने हेतु करते हैं, तब हम वर्तमान को दुषित और भविष्य को क्षीण करते हैं . . .

यद्यपि जिम्मेदाराना उपयोग को परिभाषित, प्रचारित किया जा सकता है और कुछ हद तक संगठनों को उसकी जरूरत भी हो सकती है, पर वह उनके द्वारा न तो लागू किया जा सकता है और न बनाया जा सकता है। वे उसे प्रभावी ढंग से बलपूर्वक नहीं लागू कर सकते। दुनिया का इस्तेमाल अंततः एक निजी मामला है और स्वास्थ्य के लिहाज से दुनिया की सुरक्षा, सहनशीलता से और अधिकाधिक लोगों की देखभाल से ही सकती है . . .

हेलेना नार्बर्ग-होज़ यकीनन उन लोगों में से एक है और उनकी बहुमूल्य पुस्तक चीख-चीख कर उन लोगों से कहती है, जो ऐसे नहीं हैं। गत वर्षों में कई अवसरों पर मैंने उनकी वाकपुटतापूर्ण सार्वजनिक अपीलें सुनी हैं और मैं जानता हूँ कि वे कितनी प्रभावी प्रवक्ता हैं, न केवल अपनी विद्वता, गम्भीरता और अपनी उपस्थिति के कारण, बल्कि अपनी दृढ़ प्रतिबद्धता के कारण, जो उन्हें गत सोलह वर्षों से हर साल आधे वर्ष के लिये लद्दाख ले आती है।

एक उच्च प्रशिक्षित भाषाविद्, जिसने पाँच देशों में अध्ययन किया है और जो छः भाषाएँ बोलती हैं, ने लद्दाखी बोली अपने पहले वर्ष में सीखी थी। और तब से वह अपने आपको सामाजिक, पर्यावरणीय एवं वैकल्पिक ऊर्जा अनुशासनों का प्रशिक्षण देती रही हैं, जिन्हें समझना उसके लिये ज़रूरी था, ताकि वह अपनी अत्युत्तम लद्दाख परियोजना को स्थापित कर सके। “लद्दाखियों को वर्तमान विकास के दीर्घकालीन ‘परोक्ष-प्रभावों’ के प्रति सावधान कर सके और उनके समक्ष व्यावहारिक विकल्प रख सके, स्कूली बच्चों को सौर उष्मा प्रणाली के फायदों को प्रत्यक्ष रूप से दिखला सके।” अपनी स्थापना के बाद से ही परियोजना को विश्व के ख्यातनाम लोगों का जबर्दस्त समर्थन मिला है। ‘एन्शेन्ट फ्यूचर्स’ बौद्ध सिद्धांतों के कतिपय जटिल विचारों के ज्ञान को उद्घाटित करती है, जिससे उसे इस प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को बेहतर ढंग से समझने में आसानी होती है — पुरानी रीति के मानवीय तरीके जो कारगर थे, न केवल भावनात्मक दृष्टि से अपितु आर्थिक दृष्टि से भी, जिस पर आज खत्म होने का खतरा मंडरा रहा है, उन तरीकों के कारण जो कारगर नहीं हैं।

कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि लद्दाख में व्याप्त मानवीय खुशहाली सदा के लिये विलुप्त हो गई है। वस्तुतः यह इस किताब का एक गुण है कि वह यथार्थपरक समाधान बतलाती है और उसका अंत आशा व संकल्प की टिप्पणी के साथ होता है। जैसा कि लेखिका ने कहा है, हमें लद्दाखी संस्कृति से बहुत कुछ सीखना है और यदि हम उसकी अवहेलना करते हैं, तो इससे हमारा ही नुकसान होगा।

मंगलाचरण

लद्दाख से सीख

दुनिया एक से दूसरे संकट की ओर क्यों लड़खड़ाती हुई जा रही है? क्या हमेशा से ऐसा ही था? क्या हालात अतीत में और भी खराब थे? या बेहतर थे?

1975 के बाद से लद्दाख, जो कि तिब्बती पठार की प्राचीन संस्कृति है, के अनुभवों ने इन प्रश्नों के प्रति मेरी प्रतिक्रिया को नाटकीय ढंग से बदल दिया। अब मैं अपनी ही औद्योगिक संस्कृति को एकदम नये आलोक में देखने लगी हूँ।

लद्दाख जाने से पहले मैं यह मान कर चलती थी कि “प्रगति” की दिशा अवश्यंभावी है, जिस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है। इसके फलस्वरूप मैंने उदासीनता पूर्वक बीच के विचारों के नए रास्ते को स्वीकार कर लिया; इस्पात और काँच से निर्मित बैंक जहाँ दो सौ वर्ष पुराना चर्च खड़ा है, कोने की दूकान के बदले सुपर बाज़ार और यह तथ्य कि जीवन दिन प्रति दिन अधिक कठिन तथा तेज़ होता जायेगा। अब मैं वैसा नहीं सोचती। लद्दाख ने मुझे विश्वास दिला दिया है कि भविष्य के लिये एक से अधिक रास्ते हैं तथा इसने मुझे अतीव साहस और आशा दिलाई है।

लद्दाख में मुझे अधिक सुलझे हुए जीवन-पथ का अनुभव करने का अवसर मिला और स्वयं मेरी अपनी संस्कृति को बाहर से देखने का। मैं एक ऐसे समाज में रहती आई थी जिसके सिद्धांत मूलतः एकदम अलग थे और मैंने उस संस्कृति पर आधुनिक जगत के प्रभावों को देखा था। जब मैं अनेक दशकों के बाद पहले बाहरी व्यक्ति में से एक के रूप में यहाँ आई, तब लद्दाख पर पश्चिम का प्रभाव नहीं पड़ा था। किंतु परिवर्तन तेज़ी से हुआ। दो संस्कृतियों के बीच का टकराव विशेष रूप से नाटकीय था, जो अत्यंत कठोर और स्पष्ट तुलना उपलब्ध करता था।

मैंने अपने औद्योगिक समाज की मदद करने वाले मनोविज्ञान, मूल्य तथा सामाजिक एवं तकनीकी ढाँचों के विषय में कुछ सीखा है; और उनके बारे में भी जो प्राचीन प्रकृति-आधारित समाज की सहायता करते हैं। यह एक बिरला अवसर था कि मैं अपनी सामाजिक-आर्थिक पद्धति की तुलना उससे करूँ जो अधिक मौलिक अस्तित्व की विधि है — एक व्यवस्था जो मनुष्य तथा जमीन के बीच सह-विकास पर आधारित है।

लद्दाख के जरिये ही मेरी समझ में आया कि विनाशकारी परिवर्तन के समक्ष मेरी उदासीनता, कुछ हद तक इस कारण से थी कि मैं संस्कृति तथा प्रकृति के बीच भ्रमित हो गई थी। मैं यह न समझ सकी कि वे तमाम नकारात्मक प्रवृत्तियाँ जो मैंने देखी थी वो मेरी अपनी औद्योगिक संस्कृति का परिणाम थी, बजाय कि कुछ प्राकृतिक, परिवर्तनवादी ताकत की, जो हमारे नियंत्रण से परे थी। उसके विषय में विचार किये बिना, मैंने यह धारणा भी बना ली थी कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है, अन्यो के साथ प्रतिस्पर्धा स्वयं बचे रहने के लिये करता है, और यह कि अधिक सहकारी समाज एक सुखद स्वप्न से अधिक कुछ नहीं है।

मैं ऐसा सोचती थी, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यद्यपि मैं अनेक अलग-अलग देशों में रह चुकी थी, वे सारी औद्योगिक संस्कृतियाँ थीं। विश्व के “अल्प विकसित” भागों की मेरी यात्राएँ यद्यपि काफी थीं पर वे उनके भीतर झाँक कर देखने के हिसाब से पर्याप्त नहीं थी। कुछ बौद्धिक यात्राएँ, जैसे ऑल्डस हक्सले और एरिक फ्रॉम को पढ़ना, ने कुछ द्वार अवश्य खोले, किंतु शुद्ध रूप से, मैं औद्योगिक समाज का उत्पाद थी, ऐसी शिक्षा पर पली-बढ़ी जिसमें आँखों के चारों ओर पर्दे डले हुए थे, जैसे कि हर संस्कृति अपने को बनाए रखने हेतु ऐसे उपाय करती है। मेरे मूल्य, इतिहास की मेरी समझ, मेरे विचारों के प्रादर्श, सब *होमो इन्डस्ट्रिएलिस* के ही प्रतिबिंब थे।

एडम स्मिथ से लेकर फ्रॉयड तक के मुख्य पाश्चात्य विचारकों और आज के अकादमिकों का प्रयास यही रहा है कि वे पश्चिमी या औद्योगिक अनुभव का भूमंडलीकरण करें। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे मानते हैं कि जिन प्रवृत्तियों का वे वर्णन करते हैं वे सब मानवीय स्वभाव के ही लक्षण हैं, बजाय औद्योगिक संस्कृति का एक उत्पाद। पश्चिम के अनुभव के सामान्यीकरण की यह प्रवृत्ति लगभग अपरिहार्य हो जाती है, जैसे ही पाश्चात्य संस्कृति यूरोप और उत्तरी अमेरिका से बाहर निकलकर धरती के अन्य सारे लोगों को प्रभावित करने लगती है।

प्रत्येक समाज स्वयं को ब्रह्माण्ड के केंद्र में रखने का प्रयास करता है और अन्य संस्कृतियों को अपने रंगीन चश्मे से देखता है। पाश्चात्य संस्कृति इस कदर सर्वव्यापी और सशक्त हो चुकी है, कि उसने अपने स्वयं के परिदृश्य को ही खो दिया है; ऐसा कोई “दूसरा” तो है ही नहीं, जिससे उसकी तुलना की जा सके। वह मान कर चलती है कि अन्य सभी या तो उसी के

जैसे हैं या उसके जैसे बनना चाहते हैं।

अधिसंख्य पश्चिमी लोगों का विश्वास है कि अज्ञानता, बीमारियाँ और निरंतर नीरस-कठिन कार्य औद्योगिक युग के पूर्व के समाजों की नियती थी और निर्धनता, बीमारियाँ तथा भुखमरी जो आज हम विकासशील संसार में देखते हैं, वह प्रथम दृष्ट्या इस धारणा को पुष्ट करती दिखाई देती है। किंतु वास्तविकता यह है कि अगर सब नहीं, तो तीसरी दुनिया की अधिकांश समस्याएँ, काफी हद तक उपनिवेशवाद एवं अदूरदर्शी विकास का परिणाम हैं।

गत कुछ दशकों में अलास्का से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक की भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ औद्योगिक एकल संस्कृति द्वारा अतिक्रमित हुई हैं। आज के विजेता हैं “विकास”, विज्ञापन, मीडिया और पर्यटन। दुनिया के हर कोने में “डलास” लोगों के घरों को रोशन कर रहा है; पिन स्ट्राइप सूट अब “डी रिग्यूर” है। इस वर्ष मैंने लद्दाख एवं स्पेन के दूरस्थ पर्वतीय गाँवों में खिलौनों की लगभग एक जैसी दुकानें देखी हैं। दोनों जगहों पर वही सुनहरे बालों व नीली आँखों वाली बार्बी गुड़ियाएँ और मशीनगन से लैस रेम्बो बिक रहे हैं।

औद्योगिक एकल संस्कृति का फैलाव एक बहुआयामी त्रासदी है। प्रत्येक संस्कृति के ध्वस्त होने के साथ ही, हम सदियों से एकत्रित ज्ञान को मिटाते जा रहे हैं और जब विविध जातीय समूह यह महसूस करते हैं कि उनकी पहचान के लिये संकट पैदा हो रहा है, तो झगड़े तथा सामाजिक ढाँचे की टूटन कैसे रुक सकती है?

अब यह भावना बढ़ती ही जा रही है कि पाश्चात्य संस्कृति ही सामान्य रास्ता है — बल्कि एकमात्र रास्ता। और जैसे-जैसे दुनिया भर के लोग प्रतिस्पर्धी, लालची और घमंडी होते जाते हैं, इन प्रवृत्तियों के लिए मानव स्वभाव को जिम्मेदार माना जाता है। इसके प्रतिरोध में लगातार आवाजें उठने के बावजूद, पाश्चात्य समाज पर हावी सोच पुरख्ता हो गई है कि हम तो स्वभाव से ही आक्रामक होते हैं और निरंतर डार्विन के अंतहीन संघर्षों में रत रहते हैं। इस दृष्टिकोण का अर्थ है जिस तरह से हम हमारी सामाजिक संरचनाएँ बनाते हैं, वह एक बुनियादी महत्व का प्रश्न है। मानव स्वभाव के बारे में हमारे अनुमान, चाहे हम अंतर्निहित भलाई या बुराई में विश्वास करें या न करें, हमारी राजनैतिक विचारधाराओं की बुनियाद होते हैं और उन संस्थाओं को आकार देने में मदद करते हैं, जो हमारी ज़िंदगियों को संचालित करती हैं।

अपनी मुख्यधारा संस्कृति में हम अपनी समस्याओं के लिये जन्मजात मानवीय कमजोरियों को दोष देते हैं, पर “विकास” या “प्रगति” नामक संरचनात्मक बदलावों में अपनी खुद की भूमिका की ओर नहीं देखते। यांत्रिकी विकास को हम विकासशील परिवर्तन की निरंतरता (इवोल्यूशनरी चेंज) का हिस्सा मानते हैं। इसी तरह जैसे मानव ने सहस्र शताब्दियों के दौरान विकास किया है — सीधे खड़े होकर चलना, भाषाओं का प्रयोग करना, हाथ से वस्तुएँ बनाना

— उसी तरह यह सोचा जाता है कि उसने एटम बम और बायोटेकनालॉजी का अविष्कार किया है। हम क्रम-विकास (इवोल्यूशन) तथा वैज्ञानिक क्रांति द्वारा लाए गये परिवर्तनों में फर्क नहीं कर पाते; यह भूल जाते हैं कि जब यूरोप में औद्योगीकरण के कारण बदलाव आ रहा था, तब विश्व का ज्यादातर भाग अन्य सिद्धांतों और मूल्यों के अनुसार जीवन यापन कर रहा था। ऐसा करके हम प्रभावशाली ढंग से कहते हैं कि पश्चिम के लोग, पारंपरिक लोगों की अपेक्षा अधिक विकसित (इवोल्व्ड) हैं।

हम तकनीकी बदलाव को मौसम बदलने से भी अधिक प्राकृतिक मानते हैं और ऐसे विश्वास में बंध गए हैं कि वैज्ञानिक अविष्कार हमें जहाँ भी ले जाएँ, वहाँ हमें जाना चाहिये। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव स्वभाव का काला पक्ष भी होता है, या कि विकास की प्रक्रिया से हम लाभान्वित हुए हैं, किंतु लद्दाख ने मुझे दिखलाया है कि यह प्रक्रिया हमें लोभ, प्रतिस्पर्धा और आक्रामकता की ओर ले जाती है और साथ ही विध्वंस की क्षमता को बढ़ाती है। पहले मौसम को बदलना असंभव था, समुद्रों को विषाक्त नहीं किया जा सकता था, जंगलों, पशुओं की प्रजातियों तथा संस्कृतियों को उस गति से समाप्त नहीं किया जा सकता था, जिस गति से आज हम कर रहे हैं। हमारी विनाशक शक्ति का पैमाना और रफ्तार इतनी तेज़ कभी नहीं थी, इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। हमारी स्थिति विलक्षण है और समय हमारे साथ नहीं है।

बड़े पैमाने पर पर्यावरणीय विध्वंस, मुद्रास्फीति और बेरोजगारी उस तकनीकी-अर्थ प्रणाली की गति के प्रतिफल हैं, जिसका “दक्षिण” या “वाम” राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है। बुनियादी तौर पर दुनिया ने सिर्फ एक ही विकास पद्धति का अनुभव किया है, जो एक ही तरह के विज्ञान एवं तकनीक पर आधारित है। इसके परिणाम स्वरूप विशेषज्ञता तथा केंद्रीकरण के चलते जीवन में नाटकीय परिवर्तन हुआ है, जिसने पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच के अंतर को दरकिनार कर दिया है या ढँक दिया है।

लद्दाख में, मैंने एक ऐसे समाज को जाना है, जिसमें न तो कोई वस्तु व्यर्थ है और न ही कोई प्रदूषण है। एक समाज जिसमें अपराध के लिये कोई गुंजाइश नहीं है, समुदाय स्वस्थ और सुदृढ़ है और युवा पुत्र को इससे कोई शर्म नहीं आती कि वह अपनी माता अथवा दादी के प्रति सौम्य एवं स्नेही हो। जब आधुनिकीकरण के दबाव के चलते समाज का टूटना आरंभ हो जाता है, तब उसके सबक लद्दाख ही नहीं उसके बाहर भी प्रासंगिक हो जाते हैं।

यह मूर्खतापूर्ण लग सकता है कि कोई तिब्बती पठार की “आदिम” संस्कृति, हमारे औद्योगिक समाज को कुछ सिखा सकती है। परंतु हमें एक आधार रेखा चाहिये, जिससे कि हम अपनी जटिल संस्कृति को बेहतर ढंग से समझ सकें। लद्दाख में मैंने देखा है कि प्रगति ने

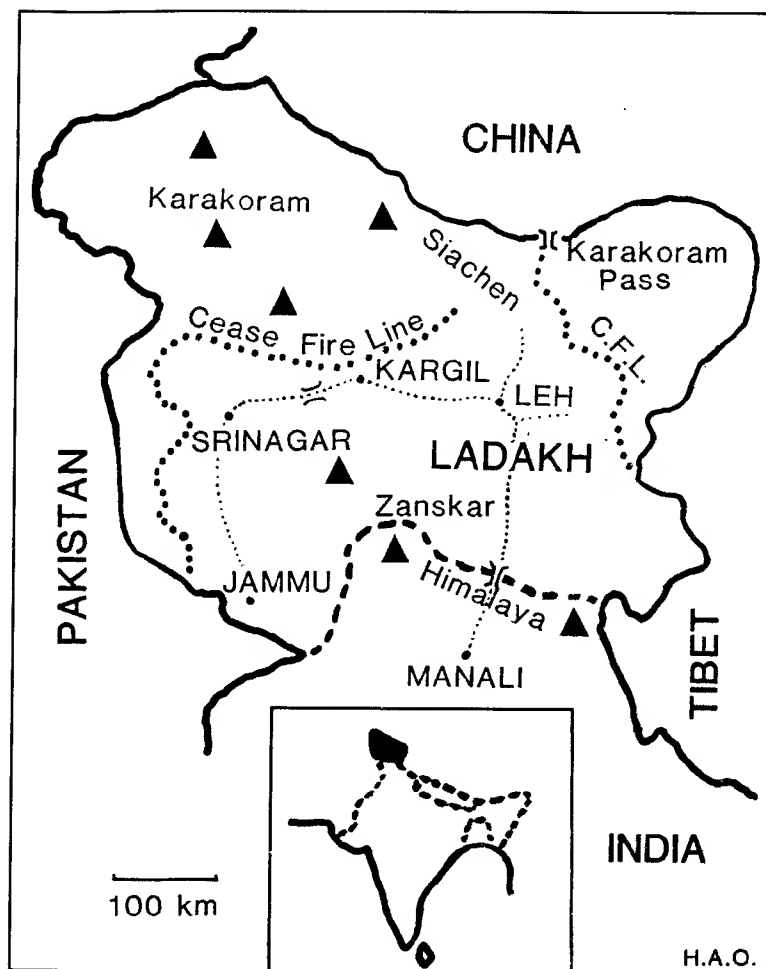
लोगों को ज़मीन से अलग कर दिया है, एक-दूसरे से अलग और अंततः स्वयं अपने से भी अलग। मैंने सुखी लोगों को अपनी आत्मिक शांति को खोते देखा, जब उन्होंने हमारे मानदंडों के अनुसार रहना शुरू किया। इसके फलस्वरूप मुझे इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा कि व्यक्ति को बनाने में संस्कृति की भूमिका उससे कहीं अधिक होती है, जितना मैं पहले सोचती थी।

वर्तमान में बढ़ता हुआ संकीर्ण सोच हमें अपनी अनेक समस्याओं की जड़ों की ओर देखने से रोकता है; हम वनों को सिर्फ वृक्षों के लिये नहीं देख सकते। पाश्चात्य संस्कृति उन विशेषज्ञों पर आश्रित है जिनका ध्यान अधिकाधिक विशेषज्ञता-कृत तथा तात्कालिक है, हमारे व्यापक और दीर्घकालीन दृष्टिकोण की कीमत पर आर्थिक शक्तियाँ विश्व को अधिक विराट विशेषज्ञता एवं केंद्रीकरण तथा और भी अधिक पूँजी-व-ऊर्जा-आधारित जीवन शैली की ओर तेज़ी से धकेल रही है।

हमारे लिये इस बात की तात्कालिक आवश्यकता है कि हम एक टिकाऊ संतुलन की ओर बढ़ें — शहर और गाँव, पुरुष और स्त्री, संस्कृति और प्रकृति के बीच के संतुलन की ओर। लद्दाख, हमें हमारे समाज को आकार देने वाली आपस में एक दूसरे से जुड़ी हुई शक्तियों की गहरी समझ देकर रास्ता दिखाने में मदद कर सकता है। यह व्यापक दृष्टिकोण, यह सीखने की ओर एक ज़रूरी कदम है कि कैसे हम हमारा और हमारे इस ग्रह का उपचार करें।

भाग एक

परंपरा



लद्दाख भारत के जम्मू व काश्मीर राज्य का भाग है। यह दो जिलों में विभाजित है: लेह जो मुख्यतः बौद्ध है और कारगिल जो मुख्यतः मुसलिम है। पूरा क्षेत्र 40,000 वर्गमील तक फैला हुआ है और लगभग 1,30,000 की जनसंख्या का पोषण करता है।

यह पुस्तक क्षेत्र की बौद्ध संस्कृति पर दृष्टि केंद्रित करती है, जो लेखिका के लेह जिला एवं कारगिल की झंस्कार घाटी के अनुभवों पर आधारित है। सुविधा की दृष्टि से “लद्दाख” शब्द सामान्य रूप से दोनों “उप-क्षेत्रों” को समाहित करता है।



अध्याय एक

छोटा तिब्बत

यदि स्थान पहचाना न जा सके
यही वह स्थान है जहाँ से सम्पूर्ण भूभाग दिखाई देता है।

द गीसर सागा

श्रीनगर से ऊबड़-खाबड़, बल खाती हुई सड़क लेह को जाती है, जो प्राचीन लद्दाख राज्य की राजधानी है। यह कार्ड के हरे रंग के चीड़ के काश्मीरी जंगलों के बीच से चढ़ती हुई ज़ोजी-ला दर्रे तक जाती है, जो दो संसारों के बीच की नाटकीय सीमा है। आपके सामने हिमालय की वर्षा-छाया में ज़मीन बंजर है। हर दिशा में पर्वत हैं, विस्तृत पठार की चोटियाँ जंग लगे लाल रंग से लेकर पीले-हरे रंगों की दृष्टिगत होती हैं। ऊपर बर्फ से आच्छादित शिखर, शांत नीले आकाश को स्पर्श करते हैं; तो नीचे शराबी लाल रंग के पत्थरों के ढेर व कठोर चाँद जैसी घाटियाँ हैं।

ऐसी वीरान जगह पर कैसे जीया जा सकता है? हर चीज़ बंजर है। आपके हर कदम पर धूल और रेत के बादल उड़ते हैं। फिर भी आपकी आँखें जो देखती हैं उसे समझने लगती हैं — देदीप्यमान, दमकते हुए मरुद्यान पर दृष्टि स्थिर हो जाती है, जो हाथी की चमड़ी सदृश्य मरुस्थल में ऐसा दिखाई देता है मानों उसमें पत्रे जड़ दिये गए हों।

फिर जौ के खेत दिखना शुरू हो जाते हैं, जिनके चारों ओर जंगली फूलों के गुच्छे, झाड़ियाँ तथा हिमनदों का स्वच्छ जल है। खेतों के आगे घरों के समूह हैं, श्वेत चमकीले, तिमंजिले, जिनके झरोखों को खुबसूरती से तराशा गया है। उनकी छतों के ऊपर चमकीले रंगों वाले प्रार्थना ध्वज फड़फड़ाते रहते हैं। इससे भी ऊपर, पहाड़ों के बाजू में ऊँचे स्थान पर एक मठ पूरे गाँव की ओर निहारता सा खड़ा है।

आप जब खेतों में घूमते हैं या घरों के बीच की संकरी गलियों से गुजरते हैं, तो मुस्कराते हुए चेहरे आपका स्वागत करते हैं। यह असंभव लगता है कि लोग ऐसे अलग-अलग स्थानों

पर समृद्ध हो सकते हैं, किंतु फिर भी सारे संकेत यही बताते हैं कि वे हैं। हर काम सावधानी से किया गया है। खेत, पर्वतों के किनारों को काट कर बनाए गए हैं और उनकी परतें एक के ऊपर एक शृंखलाबद्ध बनाई गई हैं। फसलें अच्छी व घनी हैं और इस करीने से ऊगी हुई हैं जैसे किसी कलाकार ने उनके बीज बोए हों।

हर घर के आसपास, सब्जियों और फलों के पेड़ों को बकरियों से बचाने हेतु पत्थर की दीवारें हैं। इन पर गोबर के कंडे थपे जाते हैं जिनका उपयोग रसोई में खाना बनाने के लिये किया जाता है। सूरज की ऊष्मा से वे सुखते रहते हैं। सपाट छत पर जानवरों का चारा — अल्फाल्फा, सूखी घास, जंगली आइरिस के पत्तों के साथ अच्छे से बने गट्टरों में शीतकाल के लिये रखे होते हैं। खूबानी को याक के बालों से बने कंबलों पर सूखाया जाता है और चितकबरे गेंदे चटक नारंगी छटा बिखेरते हैं।

लद्दाख नाम कदाचित तिब्बती शब्द 'ला-डाग्स' से बना है, जिसका अर्थ है "पहाड़ी दरों की भूमि।" हिमालय की छाया में स्थित लद्दाख बहुत ऊँचाई का मरुस्थल है, जिसमें विशाल पर्वत शृंखलाएँ एक-दूसरे को काटती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इसके प्रथम निवासी दो आर्य समूह थे। उत्तरी भारत के मान और गिलगिट के दार्द, जो काफी समय पूर्व (संभवतः 500 वर्ष ईसा पूर्व) एक ज्यादा बड़े मंगोलियाई खानाबदोश के तिब्बत से आने वाले समूह से जुड़ गए। आज के लद्दाखी इन्हीं तीन जातियों से मिश्रित वंशज हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से लद्दाख, तिब्बती है और प्रायः उसे छोटा तिब्बत कहा जाता है। भाषा, कला, शिल्प, औषधि और संगीत में यह विरासत झलकती है। तिब्बत का महायान बुद्धवाद यहाँ का मुख्य धर्म और दलाई लामा आध्यात्मिक धर्मगुरु हैं। सदियों से लद्दाख के भिक्षु तिब्बत के मठों में अध्ययन करते रहे हैं तथा दोनों के बीच सतत् वस्तुओं एवं विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है।

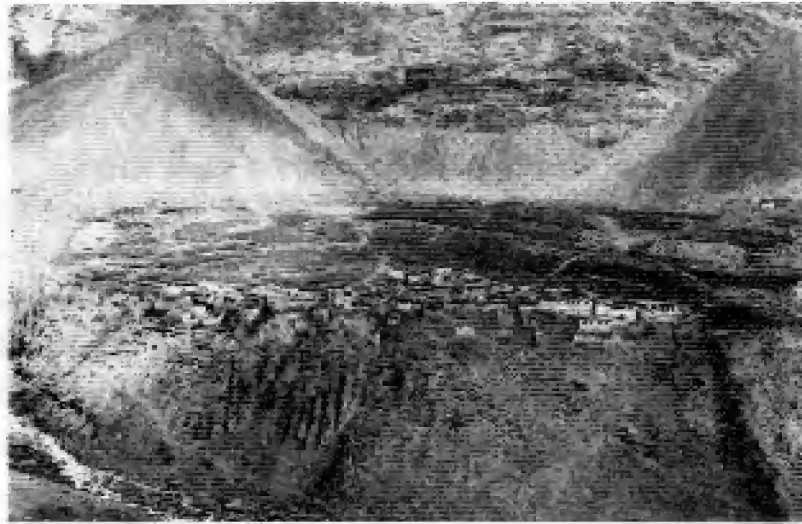
तिब्बत के साथ इस नज़दीकी सांस्कृतिक संपर्क के बावजूद लद्दाख 950 ई. से 1834 ईस्वी तक, जब इस पर हिंदु डोगराओं का आक्रमण हुआ, एक स्वतंत्र राज्य था। जब डोगराओं का नियंत्रण काश्मीर, लद्दाख तथा पड़ोस के बाल्तिस्तान पर हो गया, तब ये सब जम्मू और काश्मीर के महाराजा के शासन के अंतर्गत आ गए। 1947 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के पश्चात् बाल्तिस्तान क्षेत्र युद्धविराम रेखा के उस ओर पाकिस्तान के कब्जे वाले हिस्से में चला गया और लद्दाख का शेष भाग भारत के जम्मू काश्मीर राज्य का अंग बन गया। भारत व पाकिस्तान के बीच बढ़ते तनाव, 1950 के दशक के तिब्बत पर चीन के हमले तथा 1962 में अक्साई चीन क्षेत्र पर चीनी कब्जे के कारण लद्दाख भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रणनीतिक क्षेत्र बन गया है।

लद्दाख में जीवन मौसम द्वारा प्रभावित रहता है — शायद, विश्व के किसी भी अन्य स्थान की अपेक्षा सर्वाधिक, जहाँ लोग निवास करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य आग बरसाता है तथा शीतकाल में आठ महीनों के दौरान पूरा क्षेत्र जम जाता है; जब तापमान शून्य से चालीस डिग्री नीचे तक चला जाता है। यह भयंकरतम जलवायु है: मरुस्थल के खाली मेहराबों में तेज़ हवा के तूफान चलते हैं; वर्षा इतनी कम होती है कि उसके होने को आसानी से भूला जा सकता है।

लद्दाखियों की आबादी का सबसे बड़ा भाग कृषकों का है, जो छोटे-छोटे समूहों में पूरे मरुस्थल में बिखरे हुए हैं। प्रत्येक गाँव का आकार जल की उपलब्धता पर निर्भर होता है, जो बर्फ के पिघलने पर पहाड़ों से बहकर आता है। कई पीढ़ियों पूर्व ऊपर की ओर से पिघले पानी को नीचे खेतों तक लाने के लिये नालियाँ बनायी गयी थीं। प्रायः पानी की नालियाँ कई मील लंबी होती हैं, जो खड़ी चट्टानों व पत्थरों की ढेरियों से होती हुई आती हैं तथा उन्हें जहाँ तक हो सके लंबा खींचा जाता है। छोटी नालियों का सुप्रबंधित, सुसंधारित संजाल प्रत्येक गाँव से होकर गुजरता है।

10,000 फीट या उससे अधिक ऊँचाई पर जहाँ फसल उगने का मौसम चार महीनों से किंचित ही अधिक होता है, लद्दाखियों द्वारा यह निर्णय पहले ही ले लिया जाता है कि कौन सी फसल बोई जाए। तिब्बत के पठार के अन्य स्थानों की भाँति यहाँ कि प्रमुख फसल जौ है। आहार भुने हुए आटे पर आधारित होता है जिसे 'न्याम्फे' कहते हैं। करीब दो तिहाई खेतों में जौ बोई जाती है और शेष में तेज़ी से उगने वाली गेहूँ की किस्में। ज्यादातर किसानों के पास मटर के खेत और शलजम के बाग भी होते हैं। 11,000 फीट से नीचे की घाटियों में खूबानी और अखरोट के विशाल वृक्ष हैं। जो स्थान बहुत ज्यादा ऊँचाई पर हैं तथा जहाँ जौ भी नहीं उगाई जा सकती है वहाँ लोग मुख्यतः पशुपालन करते हैं।

प्रति परिवार औसतन पाँच एकड़ के खेत होते हैं; कभी-कभी किसी परिवार के पास दस एकड़ तक भी हो सकता है। एक परिवार के पास अधिकतम कितने एकड़ होना चाहिये, इसका फैसला परिवार के आकार के अनुसार किया जाता है — मोटे तौर पर हर परिवार के प्रत्येक काम करने वाले सदस्य को एक एकड़ की पात्रता होती है। इससे अधिक ज़मीन का कोई खास उपयोग नहीं है। इतनी अधिक ज़मीन रखने का कोई मतलब नहीं है जिस पर आप काम न कर सकें। (इसका खुलासा इस तथ्य से होता है कि लद्दाखी भूमि का नाप इस हिसाब से लेते हैं कि उस पर हल चलाने में कितना समय लगेगा। खेत के आकार का वर्णन "एक दिन," "दो दिन" — आदि के अनुसार होता है।)



हंगझर में स्टेडोलेमन नाल।



मोन्सु नाल। बरिशवाँ एक से सौ या अधिक बारों तक की होती है।

यहाँ की अर्धव्यवस्था में पशुओं की अहम भूमिका होती है। वे गेवरा, जो कि मुख्य ईंधन हैं, के अलावा परिवहन, श्रम, ऊन और दूध का प्रदाय करते हैं। सबसे प्रमुख पालतू पशु भेड़, बकरी, गधे, घोड़े, गाय तथा प्रसिद्ध धक होता है। 'गुजो', स्थानीय गाय और चाक का वर्ण संकर है, जिसका भारवाहक के रूप में सर्वाधिक उपयोग किया जाता है।

विस्तृत चारागाह (जु), जो हिमनदों के निकट 15,000 से 18,000 फीट की ऊँचाइयों पर होते हैं, का उपयोग पशुओं को चराने के लिये होता है। अल्पकालिक गर्मियों में, यहाँ जंगली पौधे रक्षाएक ऊगते हैं, जिनमें ईडेलविस भी होता है। यूरोप के सम जलवायु क्षेत्रों के विपरीत, यह बंजर क्षेत्र ज्यादा ऊँचाइयों पर भी हल-भर रहता है। यह वन्य प्राणियों का भी पोषण करता है, जिनमें भाल, एकान्तप्रिय हिम तेंदुआ और भेड़िये होते हैं। जुलाई से सितंबर तक कुछ परिवार अपने पशुओं की देखभाल करते, गोनर इकट्ठा करते और सार्दियों के लिये पक्खन तथा चीज बनाते अपना समय यहाँ बिताने हैं।

मैंने अपने शुरुआती वर्ष लद्दाख में भाषा का विश्लेषण करने तथा लोक जीवन की कहानियाँ एकत्रित करने में बितया, जिनका उपयोग लंदन में स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज में होना था। शास्त्रीय तिब्बती यहाँ की लिखित भाषा है, जिसमें सभी धार्मिक किताबें लिखी गई हैं। यह सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली तिब्बती बोली, जो कि तिब्बती भाषा से ही निकली हुई है, से विलुप्त अलग है और उसे पृथक भाषा कहा जा सकता है। पारंपरिक रूप से वह केवल बोली जाने वाली भाषा थी। अधिकांश समय मैं एक बौद्ध भिक्षु ग्येलांग पाल्दान के साथ लद्दाखी-अंग्रेजी शब्दकोश पर काम करती रही और पहली बार उस भाषा को तिब्बती लिपि में लिखा गया। लद्दाख के एक अग्रणी विद्वान तारी राबग्यास मेरे मार्गदर्शक बने और उस जटिल व्याकरण को खोलने के प्रयास में मेरी सहायता की जो कि विश्व का सर्वाधिक पेचोदा व्याकरण है। ये दोनों शीघ्र ही मेरे अच्छे मित्र बन गए।

पाल्दान तीस में कुछ कम उम्र का मृदुभाषी, गंभीर दिखने वाला और तीखे-शुष्क हाजिरजवाब वाला व्यक्ति था। वह श्रीलंका में युवा भिक्षु के रूप में समय बीत चुका था और बाद में तिब्बत के अनेक गढ़ों में उसने अपना समय व्यतीत किया था। तारी उससे पंद्रह वर्ष बड़े थे और वर्यापि वे भिक्षु नहीं थे, किंतु लद्दाख के सर्वाधिक सम्माननीय दार्शनिक थे। उनकी तेजस्विता संक्रान्त थी। उनका चौड़ा चेहरा सदैव चमकनाती मुस्कान से दीप्त रहता था। तारी के लिये कुछ भी नीरस नहीं था; वे आनंदपूर्वक किसी भी बात पर, आइन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धांत पर बहस से लेकर लद्दाखी क्रिया के कोष्टयोजन (न्याकरण) पर चर्चा कर सकते थे। विद्वान होने के अतिरिक्त, वे समस्त लद्दाख में अपने काव्य एवं संगीत के लिये जाने जाते थे।

मैंने उनके साथ काम करना आरंभ किया उसके कुछ ही समय बाद उन्होंने निम्नांकित कविता मेरे लिये लद्दाखी में लिखी और बाद में उसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया :

महान यूरोप जहाँ तुमने जन्म लिया था,
अनेक स्वतंत्र राज्य फल-फूल रहे हैं,
अकल्पनीय भौतिक समृद्धि के साथ,
उद्योग और टेक्नालॉजी।

वहाँ सांसारिक सुख अधिक हैं,
जीवन अधिक व्यस्त है।
अधिक विज्ञान व साहित्य,
हालातों में अधिक परिवर्तन।

यद्यपि यहाँ हम प्रगति में पीछे हैं,
हमारे पास सुखी मन की शांति है।
यद्यपि हमारे पास टेक्नालॉजी नहीं है,
हमारे पास गहन धर्म का मार्ग है।

हमारी भाषा लद्दाख और तिब्बत में,
विद्वान लामाओं की ज़बान है।
यह कोश धर्म से भरा है,
कोई और ज़बान इसकी समतुल्य नहीं है।

घटना के समस्त वैभव को,
सर्तक मन से देखो।
क्या कोई लोकोत्तर अर्थ है?
मुझे कोई अर्थ नहीं मिला।

किसी के पास अत्यधिक वस्तुएँ भोग हेतु हो;
समृद्ध सुख अकूत हो;
किसी के पास बहुत ख्याति व शक्ति हो;
मृत्यु उससे भी सब छीन लेगी।

मृत्यु के समय, कार्यों को छोड़कर,
विभाजित धन को ले जाने का कोई उपाय नहीं है।
हम जो भले या बुरे कृत्य करते हैं
वे ही हमारे सुख या दुःख के सर्जक हैं।

यदि धर्म तत्त्व को नहीं पा सके,
तो द्वंद्व की भ्रांति रह जाएगी।
जब तक कि समझ, शब्दों से आगे नहीं जाती,
शब्दावली के शब्दों का कोई अंत नहीं है।

अब मन लगाकर कठोर श्रम करो,
शीघ्र ही समझ जाओगी।
तुम वह स्मरणीय दृश्य देखोगी,
मेरा कहा भी स्पष्ट हो जाएगा।

यद्यपि लद्दाखी भाषा मेरे कार्य की प्राथमिकता बनी रही पर लोगों के प्रति मेरे मन में सम्मोहन बढ़ता गया। उनके मूल्यों और वे दुनिया को किस नज़र से देखते हैं, इसको लेकर। वे क्यों सदा मुस्कराते रहते हैं? और वे अपने को ऐसे प्रतिकूल वातावरण में किस तरह बचाकर आरामदायक स्थिति में रखते हैं?

पारंपरिक जीवन से मेरा प्रथम परिचय सोनम से प्राप्त हुआ जो हेमिस शुक्पाचन गाँव का एक नवयुवक था। लगभग पाँच फुट दो इंच की ऊँचाई के कारण वह बहुत छोटा था और हर कोई उसे 'बालू' अर्थात् बौना कहता था। सोनम लेह में शिक्षा विभाग में लिपिक था, जबकि उसका परिवार गाँव में ही रहता था। मेरे वहाँ पहुँचने के कुछ ही समय बाद वह घर जा रहा था और उसने मुझे साथ चलने के लिये आमंत्रित किया।

हम सबसे पहले रिज़दांग के मठ में गए। सोनम के भाई थुंडप से मिलने, जो वहाँ का 'गोनियर' या चाभी-धारक था। लद्दाख के सभी मठों में रिज़दांग सर्वाधिक सम्माननीय है। यहाँ के भिक्षु तिब्बती महायान बुद्धवाद की पीली टोपी धारण करने वाले होते हैं, जिसकी स्थापना महान सुधारक त्सांगपा ने सोलहवीं शताब्दी में की थी और जिन्हें सामान्यतः अधिक कठोर एवं पुराने लाल टोपी वर्ग की तुलना में अधिक अनुशासित माना जाता है।

मठ का आदर एवं भय उत्पन्न करने वाला भवन बंजर पहाड़ों के मध्य स्थित है और यहाँ इसकी अनंत शांति व खामोशी फैली हुई है। उसके आगे विशाल सफेद दीवारें हैं जिन पर गहरा बैंगनी रंग किया हुआ है जो ऐसा लगता है कि वह स्वयं किसी चट्टान का हिस्सा हो। ऊँचा, आड़ा-तिरछा रास्ता जो हमें घाटी के नीचे से पहाड़ के ऊपर प्रवेश द्वार तक ले गया, उसमें लाल-लबादाधारी आकृतियों की लंबी कतार थी। पहले यह किसी जुलूस जैसा लगा, पर जब हम निकट तक आए तो देखा कि भिक्षु लोग पत्थरों को उठा कर व्यवस्थित ढंग से रख रहे थे और कीचड़ के ढेर तथा पत्थरों के टुकड़ों को हटा रहे थे। तूफान ने रास्ते के एक भाग को

बहा दिया था। इन शिशुओं की अद्भुत साधना के बारे में मैंने बहुत कुछ सुन रखा था। मैं यह देखकर चकित रह गई कि वे काम करते हुए एक दूसरे से मजाक भी करते जा रहे थे और गाते भी जा रहे थे।

रिजवांग से हेमिस शुक्पानन चार घंटे पैदल चलने की दूरी पर था। एक वृद्ध शिक्षु भी हमारे साथ आया। वह भी हेमिस का था और उसका नाम मोर्बू था। उसका सिर गंजा और मुस्कुराहट संक्रामक थी, जिसके पीछे चमकती रेत पंक्ति नजर आती थी। रास्ते में 13,000 फीट की ऊँचाई पर एक दर्रे को काटा। जमीन बंजर थी, नद्यों ने एवं रेत धूप से तप गई थी। मोर्बू को सिरदर्द था फिर भी वह मुस्करा रहा था और उसमें इतनी ऊर्जा थी कि वह कुछ प्रार्थना मनाकर जिन पर पवित्र वायु अश्व 'रिह्यस्त' मुद्रित था और जिसे दर्रे के ऊपर के मंड पर लहरना था, सिलता जा रहा था। यहाँ से नीचे के गाँव के खेत किसी हरे सर्प की भाँति पर्वतों के बैंगने पत्थरों के बीच जैसे कुडली मारे हुए लग रहे थे।

रास्ता खड़ी चढ़ाई वाला और पथरोला था, फिर भी लदाखी इतनी कुशलता से नीचे उतरते थे जैसे वह बाकायदा निर्मित पथ हो। हेमिस ग्राम में गोपल वृक्ष ऊँचे और सीधे थे और सफेद पुते हुए घर सायंकलीन श्रृंग में सुनहरे चमक रहे थे, जो कि सैकड़ों प्रकार की विभिन्न हरे रंगों की पकती फसलों के आसपास स्थित थे। हम पत्थरों की दीवारों के बीच धूमकर पहुँचे जिन्हें अनेक पीढ़ियों पूर्व पहाड़ों की नाजुक मिट्टी के बचाकर रखने हेतु बनाया गया था। गाँव में प्रवेश करने पर, धार्मिक प्रथा के अनुसार हमें थोड़ा रास्ता चलकर 'चोटैन' (स्तूप) के बाईं ओर जाना पड़ा जो तिब्बत बौद्ध धर्म का शक्ति प्रतीक चिह्न है।

'चोटैन', जो शतरंज की शिखर में बड़े प्यादों की तरह प्रत्येक गाँव के प्रवेश स्थल पर भूमि से पर्वतों की भाँति निकलते हुए सुशोभित हैं, प्रायः सफेद पुते पत्थरों और मिट्टी से बने ये ऊपर की ओर लगभग बीस फुट संकरे होते हुए उठते हैं और मीनारनुमा आकृति बनाते हैं। पूरी संरचना बौद्ध शिक्षा के मूलतत्वों का प्रतिनिधित्व करती है। एकदम शिखर पर अर्धचंद्र, सूर्य को झुलता हुआ, जीवन की एकता का प्रतीक है, द्वैतात्मकता की समाप्ति, जो ऊपर से गुजरने वालों को याद दिलाती है कि सभी वस्तुएँ, यहाँ तक कि सूर्य और चंद्र भी, जो इतने अलग दिखलाई देते हैं, वस्तुतः आपस में अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हैं।

जब हम गाँव पहुँचे तो तंग रास्तों से चलते हुए सपाट हलों वाले, बड़े घरों के बीच से गुजरते हुए, सज्जियों के बगीचों एवं खूबानों की फल बाटिकाओं को पार करते हुए आए। बच्चे मित्रवत और निर्भिक होकर इधर-उधर दौड़ रहे थे। स्त्रियाँ ऊन बुन रही थीं, प्रसन्नता पूर्वक बातें कर रही थीं और कुछ अपने छातियों से चमकते गालों वाले शिशु लिये थीं। मैंने वृद्ध लोगों को देखा जिनके मुलों पर हज़ारों झुर्रियाँ थीं। युवा लड़कियों के लंबे-काले केश चौड़ी चोटियों



चोटैन या स्तूप, तिब्बती बौद्ध धर्म के सार्वव्यापक प्रतीक हैं।

से सवरे हुए थे। एक नवजात बछड़ा, बकरे से दूधन माँग रहा था। 'जुलें, काम स्करोंवात-ले?' से सब हमारा स्वागत कर रहे थे। 'हैलो, आप कैसे हैं?' (मतलब कि 'आप कहां जा रहे हैं?')

हम सोनम के घर पहुँचकर पत्थरों की सीढ़ियों से चढ़ कर प्रथम माले पर गए। वह मुझे रसोई कक्ष में ले गया जो बाहर की अपेक्षा अत्यधिक अंधकारमय था। कुछ देर तो मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दिया। उस बड़े कमरे में, करीब तीस कदम दूर बहुत छोटी शिड़कियाँ मोटी दीवारों पर थी और हवा में धुएँ की गंध व्याप्त थी, जो चूल्हे से निकल रहा था। चमकते काँसे व पीतल के बर्तन काली दीवारों के सामने दमक रहे थे।

सोनम की माँ, त्सोरिंग दोल्कार ने चूल्हे पर चढ़े एक बड़े पात्र को हिलाया। जब सोनम ने उन्हें बताया कि मैं कौन हूँ तब त्सोरिंग दोल्कार गर्म मुस्कान के साथ उमने इनार स्वागत किया। उसने आग्रह किया कि मैं चूल्हे के बाजू में बैठूँ। उस सम्मान की जगह जो प्रायः दादा के लिये अरक्षित होती है। हम गंदेदार गलीबों पर बैठे जो दीवारों के साथ अंग्रेजी अक्षर L के आकार में रखे हुए थे, छोटी टेबलें या 'होग्लें' हमारे सामने रखी थीं। हमने प्रसिद्ध तमकीन मक्खनो चाय पी — कुछ वस्तुओं के मिश्रण से तैयार किया गया एक स्वाद। चाय का पात्र काँसे का था जिस पर आकर्षक आकारों की फल्लीकारी थी और अंदर से चाँदी का अस्तर था। उसके हैंडल

और टोंटी ड्रेगन जैसी आकृति वाली थी। सोनम के चाचा फुत्सोग एक छोटी बच्ची को सुलाने के लिये झुला रहे थे। वे उसे एक कपड़े में बांधकर अपनी पीठ पर लटकाए मंद गति से आगे-पीछे हो रहे थे। 'अबी-ले' या दादी लकड़ी के मनकों से बनी माला फँरती हुई प्रार्थना कर रही थी। "ॐ मनी पदमे हम्, ॐ मनी पदमे हम् ...।" जिस शांत और व्यावहारिक ढंग से उन्होंने एक अजनबी को स्वीकार किया था — जैसे कि मैं उनके घर पहले कई दफा आ चुकी हूँ, इससे मुझे उन लोगों में घुल मिल जाने में आसानी हुई।



अध्याय दो

जमीन के साथ रहना

फसल इतनी भारी उगे कि वह हल की रेखाओं के नीचे दब जाए!
वह इतनी घनी हो कि सौ नवयुवक उसे काट न सकें!
इतनी भारी हो कि सौ युवतियाँ उसे उठाकर न ले जा सकें!

लद्दाख का बुआई गीत

लद्दाख में कृषि चक्र फरवरी व जून के बीच शुरू होता है और यह ऊँचाई पर निर्भर करता है। बुआई का समय संगीतमय सौंदर्य है। सूर्य का चाप अब ऊँचा होता है और घाटी पुनः जीवन्त हो गई है। गाँव के पूर्व की ओर ऊँचाई पर पत्थरों का बड़ा ढेर चौकोर मीनार की आकृति का 'न्यीथो', कृषि जंत्री (केलेंडर) का काम करता है। नीचे जिस बिन्दु पर छाया पड़ती है, तय करती है कि विविध गतिविधियाँ कब प्रारंभ की जाएँ। बुआई, पानी देना, कटाई के निर्दिष्ट संकेत होते हैं। सूर्य जब बुआई के लिये सही स्थान पर पहुँचता है, तब ज्योतिष से राय ली जाती है। वह तालिकाओं का अध्ययन करके बतलाता है कि अमुक शुभ दिन कार्यारंभ किया जा सकता है; वह धरती और जल तत्त्वों का समन्वय यथाशक्य कर लेता है। जिस किसी में भी उसे लक्षण दिखाई दें उसका चयन पहला बीज बोने के लिये किया जाता है।

इसके बाद धरती और जल के देवताओं — 'सदक' एवं 'इहू' — को संतुष्ट किया जाना आवश्यक है: भूमि के कीट, झरनों की मछलियाँ, भूमि की आत्मा। इन्हें आसानी से क्रोधित किया जा सकता है; गैंती चलाना, पत्थरों को तोड़ना, यहाँ तक कि ज़मीन पर चलने से उनकी शांति भंग हो सकती है। बुआई के पहले, उनके सम्मान में भोज तैयार किया जाता है। सारा दिन भिक्षुओं का समूह प्रार्थना करता है; कोई उस दिन मांसाहार नहीं कर सकता और 'चांग' (स्थानीय जौ की बीयर) नहीं पी सकता। पेड़ों के झुरमुट में, जो गाँव के सिरे पर हैं, जहाँ देवताओं के लिये मिट्टी की ईंटों की छोटी वेदी बनाई गई है, दूध चढ़ाया जाता है। जैसे ही सूर्यास्त होता है, अन्य वस्तुएं धारा में चढ़ाई जाती हैं।

खाद, कुछ सप्ताह पूर्व गधों की पीठ पर लाद कर लाई जाती है और उसकी ढेरियाँ खेतों के पास बनाई जाती हैं। अब उषाकाल में महिलाएँ उसे फुर्ती से हल की रेखाओं में बिखेर देती हैं। सूर्योदय होते ही पूरा परिवार इकट्ठा हो जाता है। दो लोग लकड़ी का हल उठाते हैं; उसके आगे विशाल 'दज़ो' की जोड़ी होती है, जिनका नेतृत्व बच्चे करते हैं। काम और उत्सव एक ही है। लोग चाँदी की कलाई वाले पात्रों में 'चांग' पीते हैं और वायुमण्डल में समारोह का स्वर व्याप्त हो जाता है। गहरा बैंगनी लबादा धारण किये हुए एक भिक्षु पवित्र मंत्रों का पाठ करता है; हँसी व गीत खेत से खेत तक गुंजारित हो उठते हैं। सर्दियों का उल्लास समाप्त होता है।

'दज़ो' के कंधों पर हल चढ़ा दिया जाता है। ये बड़े सुस्त पशु हैं किंतु गर्वीले भी हैं; उन्हें दौड़ाया नहीं जा सकता। वे मंथर गति से हल खींचते हैं। उनके पीछे बुआई करने वाला बीज फेंकता और गाता हुआ चलता है:

मंजूश्री, विवेक की मूर्ति हार्क!

देवता, ल्हु और आत्माओं की स्वामिनी धरतीमाता, हार्क!

एक बीज से सौ पौधे ऊगें!

दो बीजों से हजार ऊगें!

प्रत्येक दाना जुड़वा हो!

कृपया इतना दें कि हम बुद्ध और बोधिसत्व को चढ़ा सकें,

कि हम संघ की सहायता कर सकें व निर्धनों को दें!

एक बार बुआई का काम पूरा हो जाए तो फसल की विशेष देखभाल करने की आवश्यकता नहीं रह जाती — केवल पानी देना होता है, जो कि आम तौर पर क्रमवार दिया जाता है, कभी-कभी पासा फेंक कर भी तय करते हैं। अधिकांश गाँवों में सिंचाई का कार्य 'चुपॉन' के जिम्मे होता है, जिसकी नियुक्ति या चुनाव ग्रामवासी करते हैं। वह आवश्यकतानुसार पानी को रोक कर या छोड़ कर जल प्रवाह को संचालित करता है। सभी घरों को प्रति सप्ताह कुछ निश्चित समय दिया जाता है जिसके दौरान वे मुख्य नहर को अपने खेतों की ओर मोड़ सकते हैं।

मैंने माँ और उसकी दो बेटियों को पानी देते हुए देखा। वे छोटी नालियाँ खोलतीं और जब भूमि तर हो जाए, उसे फावड़ा भर मिट्टी से बन्द कर देती थी। वे जल के फैलाव को बड़ी ही सरलता से नियंत्रित करती थीं। वे जानती थी कि पानी कहाँ सरलता से जाएगा और कहाँ उसे जाने हेतु मदद करनी पड़ेगी। फावड़ा-भर खुदाई इधर कर, थोड़ी भराई उधर करवा, पत्थर को खिसकाना कि नाली खुल जाए, यह सब समय की सही समझ का अद्भुत उदाहरण था। बीच-बीच में वे अपने फावड़ों पर झुक कर अपनी पड़ोसिन से बातें करतीं, किंतु एक नज़र पानी के बहाव पर रखती।

एक दूसरा उत्सवी अवसर कटाई का होता है। फसल काटने वालों की कतार जिसमें वृद्ध और युवा, स्त्री व पुरुष होते हैं, फसल को अपनी हंसियों से गाते हुए काटते हैं। शाम को लोग गाने, पीने और नाचने हेतु एकत्रित होते हैं। रसोई में मक्खन का दिया जलाया जाता है तथा गेहूँ, जौ तथा मटर की मालाएँ लकड़ी के खंभों के चारों तरफ लपेटी जाती हैं।

फसल को गट्टरों में जमाया जाता है और फिर पीठ पर लाद कर कुटाई हेतु ले जाते हैं। कुटाई के लिये भूमि पर लगभग तीस फुट व्यास का गोल घेरा बनाया जाता है। अनेक पशु बीच के खंभे से एक पंक्ति में बाँध दिये जाते हैं, वे फसल को कुचलते हैं और झुक कर दानों को खाते भी हैं। इस कार्य के लिये 'दज़ो' सर्वश्रेष्ठ हैं; वे न केवल भारी-भरकम हैं, अपितु एक बार हाँकने पर घंटों बिना रुके खुशी-खुशी घूमते जाते हैं। अक्सर यहाँ अनेक जानवरों का झुंड होता है — बारह के करीब, जिनके मध्य में 'दज़ो' होता है जो बहुत छोटी दूरी में चक्कर लगाता है, जबकि घोड़े व गधे बाहर की ओर दौड़ लगाते हैं। इन सबके पीछे कुटाई करने वाला — कभी-कभी बच्चा पशुओं को हाँकता हुआ और गाते हुए उपदेश देता है: "हा-लो बाल्दुर, हा-लो बाल्दुर . . .।" पशुओं का गोबर या लीद गिरकर अनाज को खराब न कर दे इसलिए कुटाई करने वाला एक खपची और बाल्टी लिये रहता है और गोबर के गिरने से पूर्व उसे बड़ी ही सरलता से झेल लेता है। एक अतिरिक्त 'दज़ो' पास ही अपनी बारी आने की प्रतीक्षा में खड़ा रहता है, जबकि अन्य जानवर जिन्हें ग्रीष्मकालीन चरागाहों से लाया गया है, खेतों में कटी हुई फसल की खंटियों को खाते रहते हैं।

दावन का कार्य तो कमाल की गरिमा के साथ होता है। एक खास सरल, लयबद्धता के साथ फसल को हवा में उछालते हैं; भूसी हवा में उड़ जाती है और अनाज भूमि पर गिरता है। दो लोग एक दूसरे के सम्मुख सुपड़े लेकर साथ काम करते हैं। वे काम करते हुए हवा को आमंत्रित करते सीटी बजाते हैं और कभी-कभी गाते हैं:

हे, वायु की पवित्र देवी!

हे, पवन की सुंदर देवी!

भूसे को ले जाइये!

ओंग्ला स्क्रियोट!

भूसे को अन्न से अलग कर दो!

जहाँ कोई मानवीय सहायता न हो

वहाँ ईश्वर हमारे सहायक हों!

हे, सुंदर देवी,

ओंग्ला स्क्रियोट!

तत्पश्चात् अनाज को छानते हैं। ढेरियों में धरने से पहले एक छोटी धार्मिक अकृति या कर्पो-कभी उसका चित्र समारोह पूर्वक एक ढेरी के ऊपर पर रखा जाता है, फसल को आशीर्वाद देने के लिये।

सोनम ने मुझे अपने घर स्कांगखोल, प्रथम कटाई उत्सव के लिये निमंत्रित किया था। मेरी निद्रा जलते हुए 'शुक्ल' या जूनिपर को सुगंध से खुली। चाचा फुल्लसोंग अगर क बनने लिये हुए एक कमरे से दूसरे कमरे में घूम रहे थे और सुगंध जोने-जोने में फैल रही थी। वह दैनिक क्रिया आध्यात्मिक शुद्धि सुनिश्चित करती है और सभी बौद्ध घरों में पूरी की जाती है।

मैं बातकर्म में गई। पूरा परिवार — चाचा-नाना, माता-पिता, बच्चे — खेतों में काम कर रहे थे, कुछ कटाई कर रहे थे, कुछ ढेरियाँ बना रहे थे और कुछ दावन कर रहे थे। प्रत्येक क्रिया के लिये उसका एक निर्धारित गीत था। कमल सुनहरी ढेरियों में रखी थी, हर खेत में सैकड़ों ढेरियाँ थी। कहीं धी धूमि वमुश्किल दिखाई देती थी। घाटी साफ प्रकाश से नहा रही थी, तीव्र आलोक पर्यवेक्ष्य था। इस जमीन पर कोई कुरूप ज्वामितो नहीं लादी गयी थी, कोई पत्ति दोहराई नहीं गयी थी। हर बात जान्नों की भली और आत्मा को शांतिदायक लगती थी।

घाटी के और थोड़ा नीचे एक व्यक्ति गा कर अपने मवेशियों से कह रहा था जो उसके खेतों को जोत रहे थे:

ओ, तुम दो महान बैल, दाक के पुत्र!
तुम्हारी याँ भले ही गाव थी, न तुम शेर व सिंह हो!
तुम बाज की तरह हो, शक्ति का राजा!
क्या तुम ऊँची चोटियों पर नर्तन नहीं करते हो ?
क्या तुम वह नहीं हो जो पर्वतों को अपनी गोद में ले लेता है ?
क्या तुम वह नहीं हो जो एक घूंट में महासागर को ले लेता है ?
ओ, तुम दो महान बैल, खींचो! खींचो!

छत पर मेरे ऊपर गड़गड़ाता हुआ 'जान्सुंग' (आठ फुट लंबा तांबे का भौंसा) का खर बज रहा जो इस बात का संकेत था कि समारोह आरंभ होने वाला है। सभी धार्मिक आयोजनों को भौंति यह भी एक सामाजिक आयोजन था और अनेक अतिथि पहले ही आ चुके थे। पुरुषों एवं महिलाओं की अव्यक्त पृथक कमरों में की जा रही थी। वे छोटी चौकियों पर बैठे थे जिन पर ड्रगन तथा कमल-पुष्प उकेरे गए थे। दीवारों पर कई पोड़ियों पुरानी चित्रकारी थी। पुरुष हाथ के दुने लम्बे लम्बे 'शेन्यास' पहने हुए थे, कुछ प्राकृतिक हल्के पुरे रंग के थे, कुछ जो पहाड़ियों के ढंगनी रंग जैसे रंगे गए थे। अनेकों ने लंबे फीरोजा बाल पहने हुए थे और



साइड के अग्रिम में अलू के खेत की जुलाई। दायाँ, बाएँ व गाव का नंकरा लहास
सब प्राथमिक मूल्यवान मानविक पशु हैं।

पारंपरिक केश सज्जा — पीछे चोटी तथा सामने से बुटा हुआ सिर था। औरतें चूरे बल धारण की हुई थीं, ऊपर वेल्डकोट, जिस पर जूरी का कागज था। उन्होंने शानदार आभूषण पहन रखे थे — कंगन, अंगूठियाँ, डार और चमकते 'ड्रेक', सिर की टोपी पर दर्जनो फररोज और मूँगे जड़े हुए थे। एक लूट ने मुझे बुला कर अपने पास बिठाया। "वह मेरी नई बहू है," उसने औरतों से मेरा परिचय कराने हुए कहा। उसकी आँखों में शगरत झलक रही थी, जब वे सब हँस पड़े।

सोनम अपने मेहमानों के पास बार-बार जा कर उन्हें चाय और 'कांग' पेश करता था। जब वह ग्लास भरने लगता तो आप से आशा की जाती थी कि आप हर बार मना करें, अपना गिलास कुछ इंच पीछे ले जाएँ, ताकि उसे उसमें पेय डालने से रोका जा सके, और अंत में मान जाएँ। ऐसी विनम्रता से इनकार ('इजांग कोन्नेन') कभी-कभी मेजबान और मेहमान के बीच गीत का रूप ले लेता है:

मैं अधिक चांग नहीं निबुंता।
सिर्फ तब जब कोई नीलाकाश को अपनी गोद में ले ले, मैं चांग लूंगा।

सूर्य और चंद्र नीलाकाश को अपनी गोद में लेते हैं।
ठंडा चांग पीजिए! पीजिए! पीजिए!

मैं और चांग नहीं पियूंगा।
तभी जब कोई झरने के पानी का जूड़ा बांध सके, मैं चांग लूंगा।

सुनहली आँखों वाली मछलियाँ झरनों का जूड़ा बांधती हैं
ठंडा चांग पीजिए! पीजिये! पीजिये!

भिक्षुगण परिवार के उपासना कक्ष 'त्योत्खांग' में समारोह करवा रहे थे। उन्होंने मक्खन मिश्रित जौ के आटे का पिरामिड बनाया और फूलों की पंखुड़ियों 'स्तोर्मा' से उसे सजाया, यह बौद्ध धर्म के पाँच धर्मपदों को अर्पित किया जाता है जो धर्म के रक्षक देवता हैं। अब दो दिनों तक सोनम का परिवार 'स्कांगसोल' का उत्सव मनाएगा; कटाई का कार्य समाप्त हो गया था तथा कृषक के वर्ष का नया चक्र शुरू हो जाएगा। प्रार्थनाएँ आनंद और समृद्धि हेतु की जाती हैं, सिर्फ उसी एक परिवार के लिए नहीं अपितु ब्रह्माण्ड के हर एक व्यक्ति के लिये। भिक्षु के मंत्रोच्चार की घुटी आवाज और ढोल की लयबद्ध थापें सारे गाँव में अंधेरा होने तक सुनी जा सकती थीं।

लद्दाख में आने के तुरंत बाद, मैं अपने कुछ वस्त्र एक जलधारा में धो रही थी। ठीक जब मैं मैले वस्त्र पानी में डालने वाली थी, एक लड़की जिसकी आयु सात वर्ष से अधिक नहीं होगी, जल धारा के ऊपरी गाँव से आई। "आप अपने वस्त्र उस पानी में नहीं डाल सकती", उसने संकोचपूर्वक कहा। "नीचे के लोग उसे पीते हैं।" उसने इशारे से एक गाँव को दिखाया जो धारा से एक मील नीचे की ओर था। "आप उस तरफ की धारा का उपयोग कर सकती हैं, वो केवल सिंचाई के लिये है।"

मैं धीरे-धीरे समझने लगी थी कि लद्दाखी किस प्रकार ऐसे कठिन वातावरण में जीवित रहते हैं। 'मितव्ययिता' शब्द का अर्थ भी मेरी समझ में आने लगा था। पश्चिम में 'मितव्ययिता' का आशय वृद्ध आंटियों और तालाबंद अलमारियों से होता है। किंतु जो 'मितव्ययिता' आप लद्दाख में पाते हैं और जो लोगों की समृद्धि का मूलाधार है, वह एकदम अलग है। सीमित संसाधनों का सही ढंग से इस्तेमाल का कृपणता से कुछ लेना-देना नहीं है; इस मितव्ययिता का मूलार्थ है "उपयोगिता": कम से अधिक प्राप्त करना।

आप और कहाँ ऐसा पाएँगे कि जो वस्तु एकदम जीर्ण-शीर्ण हो गई हो, किसी योग्य न रह गई हो और जिसे फेंक दिया जाता है, लद्दाखी उसका भी कोई उपयोग तलाश लेते हैं। कोई भी चीज़ फेंकी नहीं जाती। जो खाया नहीं जा सकता, वह पशुओं को खिलाया जाता है; जिसका

बतौर ईंधन उपयोग नहीं हो सकता, उससे भूमि को उर्वर बनाया जा सकता है।

सोनम की दादी, अबी-ले, जौ की 'चांग' बनाने के बाद शेष को फेंक नहीं देती थी। उन्होंने उबले और खमीर उठे जौ में पानी मिलाया और उससे चार अन्य प्रकार के पेय बनाए। उसके पश्चात् भी उसे फेंकने के बजाय, उन्होंने अनाज को याक के बालों के कंबल पर सुखा दिया ताकि उसे बाद में पीस कर खाने के काम लाया जा सके। उन्होंने खूबानी के गूदों के कुचले हुए अवशिष्ट, गहरे भूरे लईनुमा आटे में से, जिससे तेल पहले ही निचोड़ कर निकाल लिया गया था, छोटे-छोटे कप बनाए; बाद में जब वे कड़े हो जाएंगे, तब वे उनका प्रयोग अपने चरखे के तकुओं के तौर पर करेंगी। वे बर्तन धुले पानी को भी बचाकर रखती थी, जिसमें कुछ भोजन के कण बच रहते थे, जिससे पशुओं को किंचित अतिरिक्त पोषक तत्त्व मिल सके।

लद्दाखी अपने घर के बुने लबादों में तब तक थिगड़े लगाते जाते हैं, जब तक की और थिगड़े लगाना संभव न हो जावे। जब शीतकाल में वे एक के ऊपर एक, दो या तीन लबादे पहनते हैं, तो जो सबसे अच्छा हो, उसे सबसे अंदर पहनते हैं, ताकि वह विशेष अवसरों के लिये अच्छी स्थिति में रहे। जब घिस चुके लबादे को सिलकर रखना नामुमकिन हो जाता है, तब उसमें मिट्टी भर दी जाती है और सिंचाई की नाली के कमज़ोर स्थानों पर टूँस दिया जाता है, ताकि रिसाव न हो।

सभी पौधे, झाड़-झंखाड़, झाड़ियाँ जो तेज़ी से बढ़ती हैं, या तो सिंचित भूमि के किनारों पर या पर्वतों पर जिन्हें हम "घास" (वीड) कहते हैं — को एकत्रित किया जाता है और उनका उचित उपयोग किया जाता है। 'बर्त्स' का प्रयोग ईंधन और पशु चारे हेतु; 'याग्दज़ा' का घरों की छतों के लिये; काँटेदार 'त्पेमीग' का बागों व खेतों में बागड़ लगाने हेतु जिससे कि पशु अंदर न आ सके; 'डेमोक' का लाल रंग बनाने हेतु। अन्य का उपयोग औषधि, खाद्य पदार्थ, अगर तथा टोकरियाँ बनाने के लिये किया जाता है।

घुड़सालों की मिट्टी को खोदकर उसका उपयोग खाद के रूप में होता है, यह पशु मूत्र के पुनर्चक्रीकरण की बेहतर मिसाल है। गोबर केवल पशुशालाओं व जानवरों के बाड़ों से नहीं बल्कि चरागाहों से भी एकत्रित किया जाता है। यहाँ तक कि मानव मल को भी व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता। हर घर में खाद बनाने वाले छोटे कमरेनुमा शौचालय हैं, उसमें फर्श में एक छोटा छिद्र होता है। यह खड़े ढलवाँ मार्ग पर बना होता है, जो आम तौर पर एक मंजिल ऊपर होता है। रसोई के चूल्हों से जो मिट्टी और राख निकलती है, उसे उसमें डाल देते हैं, इस प्रकार रासायनिक अपघटन होता है और बेहतर खाद तैयार होती है, साथ ही दुर्गन्ध भी दूर हो जाती है। साल में एक मर्तबा शौचालय को भू-स्तर तक खाली किया जाता है और खाद को खेतों में प्रयुक्त करते हैं।

इन उपायों से लदाखी परंपरा के अनुसार हर चीज का पुनर्चक्रीकरण करते आए हैं। अक्षरशः कोई भी वस्तु वहाँ फालतू है ही नहीं। अपने अत्यंत कम संसाधनों से, कृषकों ने लगभग संपूर्ण आत्मनिर्भरता का प्रदर्शन किया है, वे केवल चाय, नमक तथा कुछ धातुओं, जिनसे वे खाना बनाने के पात्र एवं औजार बनाते हैं, के लिये ही बाहरी जगत पर आश्रित हैं।

हर दिन प्राप्त हुए नए अनुभवों से मैंने लदाख में इस आत्मनिर्भरता का मतलब जाना है। “सस्टेनेबिलिटी” (स्वयं को बनाए रखने की क्षमता) तथा “इकोलॉजी” (पर्यावरण विज्ञान) की धारणाएँ मेरे लिये तब तक कोई मायने नहीं रखती थी, जब मैं यहाँ पहली दफा आई। कुछ वर्षों में न सिर्फ मैं लदाखियों का प्रकृति से सफलता पूर्वक अनुकूलन करने के जज्बे का आदर करने लगी अपितु अपनी और साथ ही पश्चिमी जीवन शैली का पुनर्मूल्यांकन करने के लिये भी मजबूर हुई जिसकी मुझे आदत थी।

प्रकृति के अधिक निकट रहने के मेरे कुछ श्रेष्ठतम अनुभव अधिक ऊँचाई के चारागाहों ‘फू’ से प्राप्त हुए। पशुओं के लिये भी ‘फू’ स्वर्ग है। वसंत के आरंभ में कृषक ने उनके इस आनंद को उनसे गाकर कहा:

ओह, तुम सुंदर पशु, हे बलवान पशु!
तुम्हारी पूँछ लंबी है, और तुम्हारे सींग आकाश तक जाते हैं!
कृपया हमारे खेतों की जुताई करो,
अब कृपया हमारे लिये कठोर श्रम करो,
और हम तुम्हें चारागाहों में ले जाएंगे,
जहाँ तुम लंबी घास और फूलों को खा सकते हो,
और सारा दिन कोई काम न करना!
हे सुंदर पशु!

न्यिमालिंग के ‘फू’ तक पहुँचने के लिये जो “धूप का घास-मैदान” है, हमें ऊँचे गोंगमारू-ला दर्रे को पार करना पड़ा, जो 17,500 फुट लंबा है। यह एक दिन लंबी यात्रा है। मेरे मित्र त्सेरिंग और मैं तो शीघ्र लौट आएँगे, पर उनकी बहन देसकित व बच्चे उसके चाचा नोर्बू के साथ रहेंगे तथा मक्खन और चीज बनाएंगे और लकड़ी एवं गोबर इकट्ठा करेंगे। पूरी गर्मियों के दौरान, वे लगभग एक टन सूखा गोबर एकत्र कर लेंगे, जिसका उपयोग खाना पकाने एवं अत्यधिक सर्द महिनों में कमरा गर्म रखने के लिये किया जाएगा। बाकी परिवार बीच-बीच में यहाँ आटा और ‘चांग’ लेकर तथा एकत्रित सामग्री को गाँव लाने के लिये लौटता रहेगा।

जिस सुबह हमें जाना था, हम जल्दी उठ गए। हमने उन वस्तुओं को गधों पर लादा जिनकी हमें आवश्यकता पड़ेगी: गर्म कपड़े व कंबल, जौ के आटे का कट्टा, नमक, चाय तथा सूखी

खूबानी। मध्याह्न भोजन के समय तक हम घाटी के शिखर के समीप पहुँच गए थे और हिम जलधारा के किनारे पर रुक गए। दोनों ओर खड़ी ढलान वाली पर्वत की दीवारें तपते सूर्य से अब तक हमारा बचाव कर रही थी, इसलिए हमारा समय अच्छा कटा। पर अब गर्मी बढ़ रही थी और हर कोई आराम चाह रहा था। मार्ग के दोनों ओर से कुछ टहनियाँ और गोबर इकट्ठा किया गया और त्सेरिंग ने थोड़ी-सी आग जलाई। नमकीन मक्खनी चाय बड़ी राहत देने वाली थी; अब तक मैं उसे पसंद करने लगी थी। शुष्क गर्मी में दूर तक चलने के बाद आपके शरीर का जो नमक खप चुका है आपको उसकी पूर्ति करने की आवश्यकता महसूस होती है, जबकि आपके सूखे होठों की पुकार होती है कि उन्हें आर्द्र करने हेतु थोड़ा मक्खन चाहिये।

दोपहर में जैसे-जैसे हम घाटी में ऊपर की ओर चढ़ने लगे, खामोश भू-दृश्य के अनुपम सौंदर्य ने मेरे मन में उल्लास और अतीव प्रसन्नता भर दी। फिर भी उतनी ऊँचाई पर चढ़ना बहुत ही मुश्किल और थकाने वाला काम था। साँस लेने एवं किंचित हल्का महसूस करने हेतु मुझे आराम के लिये रुकना पड़ा। त्सेरिंग, देसकित, और बच्चे भी रुक गए, यद्यपि वे अभी भी दौड़कर ढलान चढ़ सकते थे। सूर्यास्त के समय हम दर्रे के शिखर पर पहुँच गए। हम आश्चर्यचकित होकर दूर के अनगिनत पर्वत शिखरों और दर्रों को निहार रहे थे जो अस्ताचल गामी सूर्य की अंतिम किरणों से आलोकित हो रहे थे। हमने रस्म के अनुसार, “किकि सोसो, इहार ग्यालो” (“ईश्वर की जय हो”) के नारे लगाए और ‘इहातो’ पर कुछ क्षण आराम किया, इहातो या प्रार्थना ध्वज वाले स्तूप में लदाख के हर एक पहाड़ी दर्रे के मार्ग संकेतक होते हैं।

हम ‘फू’ के शुरूआती घरों के नज़दीक अंधेरा होते-होते पहुँचे; सूरज डूब गया था, उजाला और एक घंटे तक रहा, जिससे सौ मील दूर की झंस्कार की चोटियों की आकृतियाँ दिखाई दे रही थी। आकाश में तिमिर का प्रभाव बढ़ने के साथ-साथ तारे दृष्टिगत होने लगे। दरवाजे पर खड़े होकर चाचा नोर्बू ने घाटी का मुआयना किया, यह जाँचने हेतु कि उन्होंने सभी बकरियों को घेर लिया है; रात होने से पहले उन्हें बाड़े में बंद करना ज़रूरी था।

भेड़, बकरियाँ, गाय, याक और ‘दजो’, सब अपना ग्रीष्मकाल न्यिमालिंग में गुजारते हैं। भेड़ों व बकरियों को घाटी के ऊपर पहाड़ियों में ले जाया जाता है, हर दिन अलग क्षेत्र में ताकि एक ही जगह अधिक न चर जाएँ। इस बीच गायें घाटी की तलहटी में घूमती रहती हैं। दजो और याक, सदैव ऊपर हिमनदों के आसपास चरने के लिए मुक्त होते हैं। अपनी भारी काया के बावजूद, ये शाही जानवर कठिन, खड़ी पर्वतीय चट्टानों पर बड़ी सरलता से चढ़ जाते हैं और गज़ब की गति से घूमते हैं। गर्मियों में काफी समय ‘दजो’ को ढूँढ़ने में लग जाता है क्योंकि वे अपनी आदत से लाचार मीलों तक दूर निकल जाते हैं — कभी-कभी तो दो या तीन



लहास की अर्धजंगल में पशुओं की अत्यंतपूर्ण भूमिका होती है, वे घास, दुग्ध उत्पाद, ऊन, अंस एवं ईंधन उपलब्ध कराते हैं।

दिनों की पैदल दूरी तक — वह भी ऊँचे पर्वतीय दरों पर। प्रायः वे अप्रत्याशित रूप से गाँव लौट आते हैं, वे अपने चारागाह के रास्ते को पहचान लेते हैं। फसल को बचाने हेतु, उन्हें तुरंत वापस 'फू' लाया जाता है। इतनी दूर से मेरी आँखें उन्हें बैंगनी पहड़ के आगे एक जाले धब्बे से ज्यादा नहीं देख पाती थी, लेकिन देसकित का दस वर्षीय पुत्र आंगचुक न केवल यह बता सकता था कि वे 'इजो' हैं, न कि याक और गार्व, बल्कि वह अपने पशुओं को दूसरों के पशुओं में से भी पहचान सकता था।

नियमातिंग : घाटी के जटोरे के ऊपर 21,000 फुट ऊँची चोटी; हरित भूमि छण्ड, जंगली फूलों के कालीन; एरु-दुसरे पर सीटी ली बजाते मारनोट; हवा में गुंजती बोंसुरी की जैसी आवाज तथा छोटे चरवाहों के गीत। 'फू' के उन घंटे दिनों में, मैंने देखा कि जीवन हजारों वर्षों तक कैसा रहा होगा। भूमि, लोगों और पशुओं के बीच की घनिष्टता — एक दूजे पर उनकी निर्भरता अत्यंत मार्मिक थी — कुछ ऐसा जो मेरे जीवन का हिस्सा कभी नहीं रहा, फिर भी जो जाना पहचाना सा लगता था।

हम एक पत्थर के झोपड़े में रहे, जिनका उपयोग गर्मियों में रहने हेतु किया जाता है, गाँव के मकानों की तुलना में वे अत्यंत साधारण हैं। छोटे प्रवेश द्वार के बाद, एक लघु, अंधेरी रसोई से होकर पंडारण क्षेत्र आता है जहाँ हमने अपने साथ लाये अटे के बैलों को रखा। पत्थर की दीवारों और पाँच फुट ऊँची छत से गुफा के जैसा माईल बनता था। फिर भी शाम को खचाखच

भूँआ युक्त कमरा, जिसमें दिव्य के प्रकार में केवल चेंहरों की पहचान जा सकता था, अपनात्व को गर्माहट और उत्साह से भर उठता था। हम गाते थे, बल्ले नाचते थे और कहानियाँ तो होती ही थीं।

एकाएक बाहर कुछ दूटने की आवाज आई और हमने नोर्बू चाना को चिल्लाते सुना "शॉगकू! शॉगकू!" हम सब दौड़कर बाहर निकले और बाड़े के दूसरी ओर मैंने एक काली छया जो रात के अंधकार में गुन होते देखा। भेड़िया! नोर्बू अंदर से दिया लेकर आए और शिशु बछड़े के पास गए, अन्य सभी पशु बाड़े के दूसरी ओर थे। बछड़ा अधिक समय तक जीवित नहीं रहेगा; उसके पुच्छ के बड़ा भाग जैसे उससे से काट दिया गया हो। मैं भय से जीप रही थी और अचरज कर रही थी कि दाँत इतने सफाई से कैसे काट सकते हैं।

लहास की शान्त थे। नोर्बू बछड़े को बाड़े में ले गए जहाँ वह अपने अंतिम घंटे शांति से व्यतीत करेगा। रसोई में वापस आकर उन्होंने बताया कि, कैसे उन्होंने एकाएक बड़े के पत्थर की दीवार के ठीक बाहर भेड़िये को देखा, जब वे बकरों को अंदर ले जा रहे थे। उन्होंने एक पत्थर फेंका जो उसे नहीं लगा और भेड़िया, बछड़े को चीरता हुआ रुका रहा। जब वे कूद कर दीवार के उस ओर गए और छड़ी से भेड़िये को पीटने लगे तभी वह अपने शिंजार को छेड़कर पर्वतों की ओर चला गया।

'फू' में भेड़ियों का सदा डर रहता है, भेड़ों व बकरियों के लिये अधिक; बड़े पशुओं के लिये कम। दिन के समय में भी जब दो सौ से तीन सौ पशुओं के झुंड को घाटी के ऊपरी भाग में चराने हेतु ले जाया जाता है, तब युवा चरवाहों को सतर्कता रखनी पड़ती है। मैंने देखा कि जब हम चल रहे थे, तब आंगचुक अपनी गुल्ले-गोफंद की जाँच कर रहा था। मुझे मालूम था कि इस प्रकार के हमलों को पहड़ों में स्वीकार करना पड़ता है पर उसके बावजूद लहासियों की प्रवृत्ति प्रशंसनीय थी। मैंने उनमें किसी तरह की कटुता या आत्मदया के चिह्न नहीं देखे। कुछ भी उनकी संप्रवृद्धि को प्रभावित नहीं करता।

बाद में, त्सेरिंग ने अपना एक संस्मरण सुनाया। वह कुछ भेड़ों को 'फू' के निकट बीहड़ों में ले गई थीं। रास्ते के थोड़ा ही ऊपर, 'बर्ले' (एक झाड़ी जिसका ईंधन के रूप में उपयोग किया जाता है) का एक गोला — पत्थर के टुकड़ों पर से लुढ़कता हुआ नीचे आ रहा था — उछल नहीं रहा था, जैसा कि आप सोच रहे होंगे बल्कि बड़ी सुगमता से फिसल रहा था — बड़े पत्थरों के ऊपर भी। उसे आश्चर्य हुआ; ऐसा उसने पहले कभी देखा नहीं था। अचरज से उसने उसे निकट आते देखा। जब वह पशुओं से कुछ दूर पर आकर रुक गया, उसने त्सेरिंग की ओर देखा, इस झाड़ी ने, और त्सेरिंग ने एकाएक पहचाना कि वह क्या था — हिम तेंदुआ। यह निश्चयीय पशु स्वयं का रूप बदलने में इतना कुशल होता है कि उसे कोई नहीं देख पाता। किंतु

उसके आक्रमण असली होते हैं। केवल कुछ सप्ताह पूर्व ही पड़ोसियों की तीन भेड़े मारी गई थी जब उनके बाड़े की छोटी दरार से तेंदुआ अंदर आ गया था। केवल पदचिह्नों से ही उसका पता चलता है।

“क्या आपने हमारे सभी तरह के विभिन्न व्यंजन चखे हैं — *स्व्यू, चु तागी ...?*” लोग अक्सर मुझसे मुस्करा कर पूछते हैं। प्रश्न ऐसे किया जाता मानो असंख्य व्यंजनों में से चुनाव करना हो। पर वास्तविकता यह थी कि चुनाव सीमित था — वे जौ को छः अलग-अलग ढंग से बनाते थे और उतने ही पकवान गेहूँ से बनाते थे।

लदाखी अपने भोजन को पसंद करते हैं जो यद्यपि सादा होते हुए भी पौष्टिक होता है। अनाज और मक्खन की चाय से उन्हें मुख्य तत्त्व मिलते हैं। जौ ज्यादातर भूनी जाती है और फिर पीस कर आटा बनाया जाता है, उससे झटपट खाना बन जाता है। ‘*न्याम्फे*’: इसे किसी तरल पदार्थ में जैसे चाय, ‘*चांग*’ या पानी में मिला कर तुरंत खाया जा सकता है। बगैर भुना जौ का आटा सूप बनाने के काम आता है, या सुखाए गए मटर में मिलाकर एक प्रकार की ब्रेड पुडिंग बनाई जाती है। एक पतले पेन केक के आकार की ब्रेड ‘*तागी सामो*’ को चुल्हे के ऊपर रख कर पकाया जाता है और मोटी, गोल पावरोटी ‘*खम्बीट*’ जो कि राख में पकाई जाती है, गेहूँ के आटे से बनती है। अधिकांशतः अतिरिक्त जौ — कभी-कभी कुल पैदावार का एक तिहाई — ‘*चांग*’ बन जाती है। छोटे शिशुओं को भी खमीर उठा जौ दिया जाता है। खमीर और जौ का मिश्रण खाने में विटामिन ‘बी’ का महत्वपूर्ण स्रोत होता है।

मक्खन चाय ‘*सोल्द्जा*’ एक तरह की हरी चाय से बनाई जाती है। पत्तियों को करीब एक घंटे तक नमक और सोड़े के साथ उबालते हैं। फिर मक्खन मिलाते हैं और मिश्रण को लकड़ी की बेलनाकार मथानी में उड़ेल देते हैं, जिसका मजेदार नाम है ‘*गुङ्गुङ*’। हर किसी को यह चाय पसंद है और सारा दिन जब लोग खेतों के काम कर रहे हों, पात्र उनके पास रहता है जिसे लकड़ी के कोयले से गर्म कर लेते हैं।

अधिकतर दूध ‘*ओमा*’ का मक्खन ‘*मार*’ बना लिया जाता है। कोई भी लदाखी पशु ज्यादा दूध नहीं देता किंतु वह बहुत पौष्टिक होता है। याक का दूध तो बहुत ही पौष्टिक होता है और उसका मक्खन मलाईदार गहरे पीले रंग का होता है। बचे हुए मछुंटे से कम वसा वाला चीज़, ‘*चुपें*’ बनाते हैं जिसे सुखा कर धूप में कड़ा कर लेते हैं। कुछ सब्जियों के साथ ‘*चुपें*’, खूबानी (एकमात्र मीठी वस्तु) और सुखाये गये गोश्त को एक वर्ष से अधिक समय तक बिना खराब हुए रखा जा सकता है। कुछ तरकारियाँ, जैसे शलजम और आलू को ज़मीन के नीचे बड़े कोठारों में रखा जाता है, जो घर के बाजू में खोद कर बनाए जाते हैं।

विशेषतः शीतकाल में लदाखी माँसाहार (खासकर बकरा, कभी-कभी याक और ‘*दुजो*’ भी) करते हैं। कदाचित्त इसलिए कि उसके बिना जीवित रहना कठिन है। मछली कभी नहीं खाई जाती, क्योंकि यह माना जाता है कि यदि किसी की जान ही लेना हो तो बड़े प्राणी को मारना चाहिये जिससे अनेक लोगों के लिये भोजन मिले, पर यदि आप मछली खाते हैं तो आपको कड़्यों के प्राण लेने पड़ेंगे। पशुओं को मारने को कभी हल्के ढंग से नहीं लिया जाता और यह काम बगैर क्षमायाचना तथा प्रार्थना के नहीं किया जाता:

वे पशु जिनका उपयोग मैं सवारी करने और भार उठाने के लिये करता हूँ,
जिन्हें मेरे लिये मारा गया है,
वे सब जिनका गोश्त मैंने लिया है,
वे शीघ्र ही बुद्धत्व को प्राप्त करें।

हेमिस में फुंटसोग चाचा को अक्सर घर के बाहर बड़े अखरोट के वृक्ष के नीचे बुनाई करते देखा जा सकता था। सहायक युवाओं के बड़े समूह से घिरे, वे अपना काम करते जाते तथा युवा पैडल चलाते हुए उनके बोले हुए हर शब्द को सुनते थे। बीच-बीच में वे कहानियाँ या गीत सुनाते जाते थे। वे लगातार उनके लिये घर से चाय या ‘*चांग*’ मंगवाते थे और अनेक व्यवधानों के बावजूद, वे आश्चर्यजनक तेजी से काम करते थे — कभी ऐसा नहीं लगा — कि उन्होंने पूरी लंबाई का कपड़ा ‘*स्नाम्बू*’ एक दिन में तैयार न किया हो। (यह मानक लंबाई है, लगभग एक फूट चौड़ी और पैंतीस टू लंबी—टू का अर्थ है आपकी उंगलियों के छोर और कोहनी तक की लंबाई)।

लदाखी अपना ऊन या तो अपने ही जानवरों से अथवा अतिरिक्त अनाज के व्यापार से प्राप्त करते हैं, दस पौंड जौ के बदले एक पौंड ऊन। वे उसे धोते, कातते, बुनते, रंगते और स्वयं सिलते भी हैं। कातना निरंतर चलने वाली क्रिया है। आप पुरुषों व स्त्रियों को पीठ पर भार उठाकर चलते हुए भी कताई करते देख सकते हैं; ऐसा लगता है यह उनके लिये विश्राम करने का उपाय है, ध्यान लगाने का एक तरीका। पुरुष ज्यादा मोटे बकरे या याक के बालों की कताई करते हैं जिसका उपयोग कंबल, जूते, बेरियाँ व रस्से बनाने हेतु होता है। अधिकांश सिलाई तथा बुनाई वे ही करते हैं। औरतें वस्त्रों के लिये भेड़ की अधिक महीन ऊन की कताई करती हैं। कुछ गाँवों के प्रत्येक घर में एक बुनकर तो होता ही है; अन्य में कुछ ही होते हैं। उस दशा में बुनकर विनियम के आधार पर काम करता है और बदले में मक्खन, अनाज, ‘*चांग*’ या ऊन लेता है।

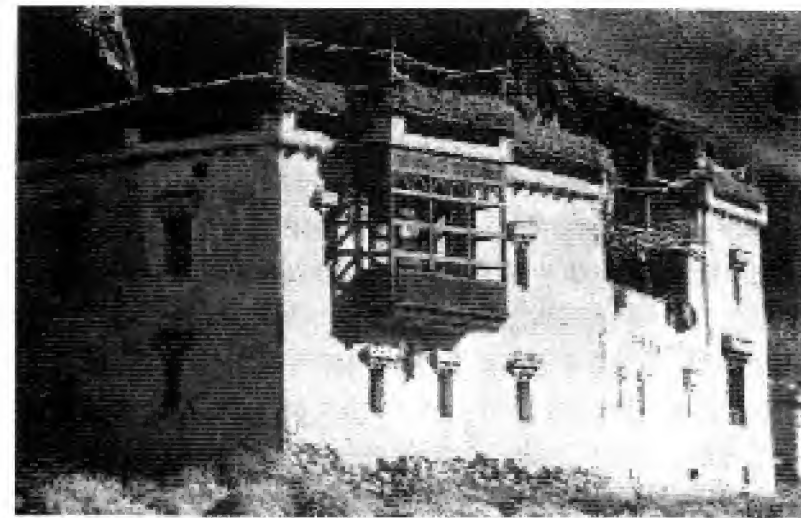
मैंने कई घंटे लदाखियों के साथ बातें करते और हँसते हुए व्यतीत किये हैं जब वे इस प्रकार

के काम करते थे: शाम को चूल्हे के निकट बैठे हुए या खेतों में मिल बैठकर 'गंग' गीते हुए, या पहाड़ों पर बढ़ते हुए। ऊन से मुरघों के शानदार लबादे बनाए जाते हैं — लंबे और सीधे और महिलाओं के लिए उससे लंबी सी स्कर्ट भी बनती हैं। हर कोई जूँबी, पेड़ की चपड़ी के आस्तर वाली टोपी लगता है और कुछ अजीब किस्म के चूने पहनता, जिसमें साक के बातों का रंग हुआ काला मुख्तसब सामने की ओर होता है।

गहने आपातित होते हैं। प्रत्येक फीरोज़ा, प्रत्येक मुंगा किसी चीज की बहुलता का प्रतीक होता है, जो जैन-जैन हेतु उपलब्ध रहा हो। एक ही परिवार में आपको सैकड़ों कौन्ती पत्थर के अतिरिक्त, चाँदी और सोने के पेन्डेंट तथा सीपियों के कगन मिल जाएंगे।

गाँवों के घर विशाल, दो या तीन मंजिला संरचनाएँ होती हैं। इनका कुल क्षेत्र 4000 वर्ग फुट या उससे भी अधिक होता है। सज्जद पुती दीवारें, सपाट छत की ओर ढलवाँ होती हुई जाती हैं, जो मकान को उसकी विराटता और किले जैसे आगमों के चक्कड़ गरिमा प्रदान करती हैं। नया घर कभी भी घरतों के देवता 'सदक' को खुश किये बगैर नहीं बनाया जाता। सबसे पहले बड़े लामा को भूमि को आशीर्ष देने हेतु बुलाया जाता है। वह एक जॉर्मे के दर्पण का प्रयोग करता है, आस पास क्या है, उसे परावर्तित करने के लिये और इस तरह 'सदक' को पकड़ लेता है कि वह निर्माण के दौरान उनकी मुकसान से रक्षा करे। दर्पण को सावधानी पूर्वक एक डिब्बे में रख दिया जाता है, जिसमें वह घर बन जाने तक रहता है। जब अंतिम उत्सव मनाते हैं, तब लामा सबसे को खोल कर आत्मा को मुक्त कर देता है।

पशु पहले नाले के लिये प्रायः पत्थर का प्रयोग करते हैं किंतु मुख्य भवन मिट्टी का होता है। पूरा परिवार मिल कर ईंट बनाता है; यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी लकड़ी के लॉचों में मिट्टी भटने में शामिल होते हैं। चूँकि मिट्टी हर गाँव में एक सी नहीं होती; इसलिए तरीके में भी परिवर्तन होता है। कभी-कभी बड़ी ईंटें बनाई जाती हैं, कभी-कभी मिश्रण में पैर-भूसी मिलाए जाते हैं। ईंटों को सूखने हेतु धूप में रख देते हैं और एकाध हफ्तों में वे इन्वोग करने लायक हो जाती हैं। दीवारें प्रायः तीन फुट मोटी होती हैं, जिन पर महीन मिट्टी का प्लास्टर चढ़ाते हैं जिसे 'मर्कला' ('नक़न-मिट्टी') कहते हैं, इनकी चूने से रूलाई की जाती है। पोपलर की धारण, जिसमें सरपट की शाखाएँ, हेरिंग मछली की हड्डी के आकार में रखी जाती हैं, से सपाट छत बनती है। 'सायदाजस' एक तरह की झाड़ी होती है, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह सौ वर्षों तक खराब नहीं होती, लकड़ी के शीश पर रखी जाती है, जिसे मिट्टी व गारे से भर दिया जाता है। चूँकि हिमपात बहुत कम होता है इसलिए जो भी बर्फ गिरती है, वह सरलता से हट जाती है और पानी तो कभी इतना बरसता हो नहीं है कि किसी तरह रिसन हो।



हेरिंग मुकसान का एक विशिष्ट घर। खूबसूरती में उत्कीर्ण छज्जे (दरवाजा) गाँव के गुम्बर बनाए गए हैं।

निवास के अतिरिक्त भी, घर का और बहुत कुछ उपयोग होता है; ऐसी बातों पर समय बिताया जाता है, जो शुद्धतः सौंदर्यपरक होती हैं। छिड़कियों व दरवाजों पर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन पर नक्काशी भी की जाती है (गाँव के सूतार की करीगरी); सबसे ज्यादा लोकप्रिय संरचना कमल होती है। एकदम काले क्लिनारे, लगभग दस इंच चौड़े, जो कालिख और मिट्टी के मिश्रण से बनाए जाते हैं, स्फेद पुती दीवारों में अलग से उभरते हैं। छोटे छज्जे ऊपर की मंजिलों की शोभा बढ़ाते हैं, उनमें भी सुन्दर जलकारी की गई होती है।

घरों का प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुखी होता है क्योंकि इसे शुभ माना जाता है। पत्थरों के बीने आपको प्रथम तल के पर ले जाते हैं; तल मंजिल पशुओं के बाड़े के रूप में प्रयुक्त होती है। प्रवेश द्वार के आगे रस्तोई का कनरा होता है, जो साथ के धंढार कक्षों को मिलाकर प्रथम तल का अधिकांश भाग घेर लेता है; द्वितीय तल के बड़े आँगन से आपके ऊपर प्रकाश आता है।

रस्तोई, घर की हृदय स्थली होती है; वहाँ परिवार अपना अधिकांश समय व्यतीत करता है। रस्तोईकस इतना बड़ा होता है कि कमरे के उस ओर यदि किसी से बात करनी हो तो बड़ा कठिन होता है। कुछ कम ऊँचे टेबलों तथा आसनियों के अलावा घर में कोई फर्नीचर नहीं होता। दो तिहाई फर्श को पूरी तरह से बगैर कोई सामान फैलाए छोड़ दिया जाता है। दीवार से लगी हुई आकर्षक लकड़ी की अलमारियों को कतार होती है, जिनमें जगन्नाते, हर आकार के पत्र रखे

रहते हैं। प्रत्येक रसोई का केंद्र बिंदु चमकता काला चूल्हा होता है। हालांकि यह लोहे का बना लगता है, पर असल में होता मिट्टी का है। इसके चारों ओर सौभाग्य देने वाले चिह्न तथा अन्य बौद्ध आकृतियाँ होती हैं, जो प्रायः फीरोज़ा और मूंगों से जड़ी होती हैं। आग सूखे गोबर से जलाई जाती है और बकरे के चमड़े से बनी धौंकनी से जलती रखी जाती है।

घर का अधिकांश भाग भंडारगृह के रूप में प्रयुक्त होता है, क्योंकि साल में छः महीनों से अधिक समय तक बाहर कुछ भी पैदा नहीं होता। रसोई से सटा हुआ मुख्य भंडार कक्ष होता है, इसकी मोटी दीवारें सुनिश्चित करती हैं कि वह गर्मियों में बर्फ जैसा ठंडा रहे। इसमें लकड़ी के बड़े पीपे 'चांग' के लिये, मिट्टी के पात्र दही और दूध के लिये, बड़ी कोठियाँ जौ तथा गेहूँ के आटे के लिये होती हैं। छत पर अल्फाल्फा घास जानवरों के लिये तथा झाड़ियाँ एवं गोबर रसोई चूल्हों के लिये होते हैं। गर्मियों में याक के बालों से बने कंबलों को छत पर फैला देते हैं और उस पर सब्जियाँ, खूबानी और कभी-कभी चीज़ को सूखने के लिये बिखेर देते हैं।

सबसे ऊपर की मंजिल पर आँगन के चारों ओर दो या तीन कमरे होते हैं — ठेठ अतिथि कक्ष, ग्रीष्म कालीन शयन कक्ष एवं पारिवारिक मंदिर 'चेपल' — घर का सबसे बेहतर ढंग से बना हुआ और कीमती हिस्सा। अतिथि कक्ष, जिसमें अधिक औपचारिक मनोरंजन चलता रहता है, को जम कर सजाया जाता है और पूरे फर्श पर तिब्बती गलीचे बिछे रहते हैं। मंदिर में धार्मिक ग्रंथ व अन्य अस्तियाँ जो पीढ़ियों से चली आ रही हैं, होती हैं। खूबानी के तेल की तीव्र महक, इस छोटे एवं निःशब्द कक्ष में व्याप्त रहती है। घिस चुके 'थंकास' (कपड़ों का धार्मिक चित्र), दीवारों पर लगे होते हैं और एक बड़ा पीपा छत से लटका रहता है। एक करीने से तराशी और रंग की हुई वेदी, चाँदी के कटोरों तथा मक्खन के दियों से सनी हुई रहती है। विशेष दिवसों पर बौद्ध-पंचांग के अनुसार भिक्षु यहाँ एकत्रित होते हैं और धार्मिक उत्सव करवाते हैं तथा हर दिन सुबह-शाम, परिवार का कोई न कोई सदस्य प्रसाद चढ़ाता है, तेल भरे दीपकों को जलाता है, कटोरों में पानी भरता है तथा मंत्रों व प्रार्थना का उच्चारण करता है।

चरम जलवायु और संसाधनों की न्यूनता के बावजूद लद्दाखी न सिर्फ अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं अपितु उससे कई अधिक आनंद भी भोगते हैं जो अत्यंत सराहनीय उपलब्धि है, क्योंकि उनके पास केवल बुनियादी औजार ही काम करने के लिये होते हैं। हल व करघे के अतिरिक्त उनके पास तकनीक के नाम पर पानी चलित चक्की (वाटर मिल) ही होती है — कुशल, मौलिक व सरल डिज़ाइन की। यह घर्षण से चलने वाली अनाज पीसने की तकनीक है, जिसमें किसी के लिये नज़र रखने की ज़रूरत नहीं होती। इसके अलावा केवल फावड़ा, कुदाली, आरी, हंसिया और हथौड़े जैसे औजारों से काम चलाया जाता है। इससे अधिक किसी

परिष्कृत वस्तु की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अनेक कार्यों के लिये जहाँ हम भारी मशीनों से काम लेते हैं, लद्दाखियों के पास पशु तथा आपसी सहयोग (टीम वर्क) होता है। हर कार्य के लिये गीत भी होता है:

ल्हामो ख्योंग, ल्हामो ख्योंग
याले ख्योंग, ल्हामो-ले

(“आराम से, आराम से काम होगा”)

ज्यादातर सामग्री का परिवहन याक, 'दज़ो', घोड़ों और गधों से करते हैं। ईंटों और पथरों को पहुँचाने का काम अक्सर लोगों की लंबी कतार से संपन्न होता है, जो एक-दूसरे को देते जाते हैं; अगर लंबे वृक्ष के तने जैसी किसी वस्तु को इधर-उधर करना हो तो लोगों का समूह मिल कर टीम बना लेता है।

अपने अत्यंत साधारण औजारों से, लद्दाखी प्रत्येक कार्य के लिये काफी समय लगाते हैं। कपड़ों के लिये ऊन का उत्पादन पर्याप्त समय लेने वाला काम है, चरती हुई भेड़ों पर नज़र रखने से लेकर हाथ के ओजारों से उनके बाल काटना और आरंभ से अंत तक ऊन पर काम करना — सफाई, कटाई और अंत में बुनाई। इसी प्रकार अन्न का उत्पादन, बीज की बुआई से लेकर, जब तक वह थाली में परोसा न जाए, हर कार्य मेहनत मांगता है। इस सब के बावजूद मैंने पाया कि लद्दाखियों के पास बहुत फुर्सत रहती है। वे मंद-मंथर गति से काम करते हैं और विश्राम के लिये भी बहुत समय निकाल लेते हैं।

समय का अनुमान बड़े ढीले-ढाले ढंग से किया जाता है; मिनटों में गिनने की कोई ज़रूरत नहीं होती। “मैं तुमसे मध्याह्न में, शाम के समय मिलने आऊँगा,” वे कहेंगे और इस तरह स्वयं को कई घंटों की छूट दे देंगे। लद्दाखी के पास समय बतलाने के बड़े प्यारे शब्द हैं। 'गांगरोट' का मतलब है “अंधेरा होने के बाद से सोने का समय होने तक”; 'निवत्से' का शाब्दिक अर्थ है “पर्वत शिखरों पर धूप”; और 'चिपे चिरिट', “पक्षी गीत” का अर्थ है, सुबह का समय, सूर्योदय से पहले जब पक्षी गाने लगते हैं।

कटाई के मौसम में भी, जब देर तक काम करना होता है, काम उसी मंथर गति से किया जाता है, जिससे अस्सी वर्षीय वृद्ध और नन्हें बच्चे भी मदद करने के लिए शामिल हो सकते हैं। लोग कड़ी मेहनत करते हैं, पर अपनी गति से, हँसते और गाते हुए। खेल और काम के बीच कोई सुस्पष्ट सीमा रेखा नहीं है।

लद्दाखी, साल के केवल चार महीनों के दौरान ही असली काम करते हैं। शीत ऋतु के आठ महीनों में उन्हें भोजन बनाना, पशुओं को भोजन देना और पानी लाना-ले-जाना पड़ता है, किंतु काम कम से कम होता है। सर्दियाँ ज्यादातर उत्सवों और दावतों में बिताई जाती हैं। गर्मियों के

दौरान भी, शायद ही कोई सप्ताह ऐसा बीतता होगा जिसमें कोई बड़ा त्योहार या समारोह न होता हो, जबकि सर्दियों में यह बिना रुके चलता रहता है।

सर्दियाँ, कहानियाँ सुनाने का भी समय है। वस्तुतः लद्दाख में कहावत है, “जब तक धरती हरी है, कोई कहानी नहीं कही जानी चाहिये।” गर्मियों में कहानी सुनाने पर यह प्रतिबंध कदाचित इसलिए लगाया गया है ताकि लोग उन चंद छोटे महीनों में अपना ध्यान कृषि कार्य पर लगाएँ। एक प्राचीन ‘गेसर’ वीरगाथा में एक मिथकीय नायक दूर दराज़ के इलाकों तक की यात्राएँ करता है, अनेक पहाड़ी दरों को पार करता है, कई राक्षसों को पराजित करता है और ईश्वर की सहायता से अनेक के प्राण बचाता है। लोग अलाव के चारों ओर बैठते और बीच-बीच में कहानी सुनाने वाला प्रचलित गीत गाता या टेक लगाता है और सभी लोग उसमें सम्मिलित होकर गाते हैं:

उसके बाद क्या हुआ मुझसे अब सुनो;
विश्व की कहावतों में:

युवा महिला सोए नहीं, जागती रहे;
यदि वह सो गई, तो चरखा पड़ा रह जाएगा।
यदि चरखा पड़ा रहा, तो वस्त्र नहीं होंगे;
यदि ऐसा हुआ, तो अफवाहें फैलेंगी।

युवा पुरुष सोए नहीं, जागता रहे;
यदि वह सो गया, तो तीर रखा रह जाएगा।
यदि तीर रखा रहा, तो शत्रु सिर उठाएगा;
यदि शत्रु ने सिर उठाया; राजनीति की हानि होगी।

गुन्गमा और गेसर
आकाश, सूर्य व चंद्र के जैसे हैं।
वे दया और विवेक, धनुष और बाण हैं।
वे बुद्ध की शिक्षा के प्रचारक हैं।



अध्याय तीन

चिकित्सक और शमन

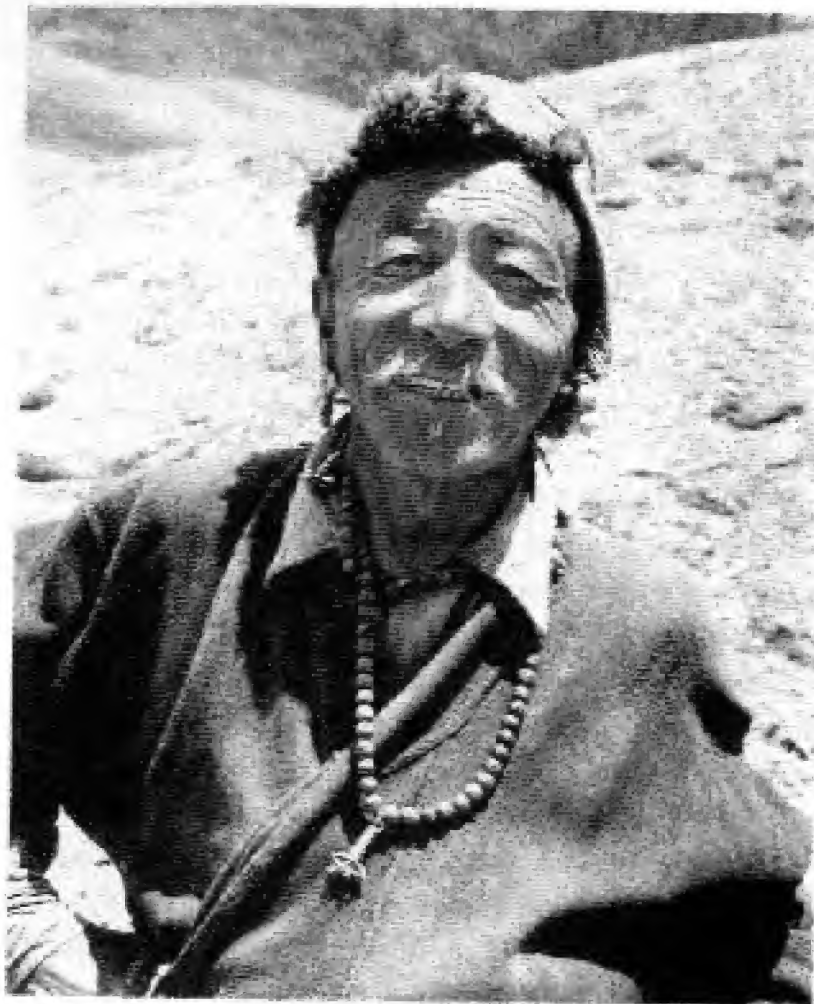
समझ की कमी से बीमारी आती है।

एक लद्दाखी आमची

लद्दाखी लोग खुशहाली, स्फूर्ति और प्रफुल्लता के बोध को अपने आचरण से व्यक्त करने में निपुण होते हैं। शारीरिक गठन की दृष्टि से हर कोई छरहरा और चुस्त होता है — शायद ही कोई ऐसा मिलता है जिसका वजन कम हो और मोटे लोग तो मुश्किल से ही दिखाई देंगे। दरअसल मोटापा इतनी असामान्य बात है कि एक बार मैंने एक महिला को डॉक्टर से शिकायत करते सुना कि उसके पेट में “अजीब सी सलवटें (झुर्रियाँ) दिखाई दे रही हैं,” उसे उनके बारे में ठीक से मालूम ही न था कि वे क्या हैं। बिना स्पष्ट माँसपेशियों के (इस बात ने पाश्चात्य डॉक्टर को भी उलझन में डाल दिया), पुरुष एवं महिलाएँ दोनों बहुत मज़बूत होते हैं एवं अन्य पहाड़ी लोगों की ही भाँति उनमें असीमित क्षमता होती है।

वृद्ध अपनी मृत्यु के दिन तक सक्रिय रहते हैं। एक सुबह मैंने जीवन से भरपूर एक बयासी वर्षीय वृद्ध को उस घर की छत की सीढ़ियों से दौड़ कर उतरते देखा, जिसमें मैं रह रही थी। हमने मौसम के विषय में कुछ बातें की और उसी दोपहर को तीन बजे उनका देहान्त हो गया। हमने उन्हें ऐसी प्रशान्ति में देखा मानो वे सो रहे हों।

लोग बीमार अवश्य पड़ते हैं; साँस संबंधी विकार और पाचन संबंधी तकलीफें अपेक्षया आम हैं। इसी तरह नेत्र और चर्म रोग की शिकायतें भी सामान्य हैं। गंभीर बात यह है कि अत्यधिक सर्द शीतकाल में नवजात मृत्यु दर अधिक होती है, विशेषतः स्तनपान छुड़ाने के दिनों में। लेकिन एक बार शुरू के वो नाज़ुक दौर गुजर जाने पर स्वास्थ्य की सामान्य दर ऊँची रहती है।



पश्चिमी यूरिप की तुलना में मनुष्य का अधिक है, फिर भी लोग आम तौर पर स्वस्थ एवं प्रभावस्था में भी सक्रिय रहते हैं।

पारंपरिक ढंग का जीवन जीते हुए लोग बहुत कम तनाव या थकान महसूस करते हैं और मन की शांति का आनंद लेते हैं। उनके जीवन की गति तनाव मुक्त तथा सरल होती है। वे शुद्ध वायु में साँस लेते हैं, नियमित शारीरिक कसरत करते हैं और पूरी तरह अपरिष्कृत भोजन करते हैं। उनके शरीर को उन वस्तुओं का उपयोग करने के लिये बाध्य नहीं किया जाता है जो उस प्राकृतिक संसार के लिये विदेशी (एलियन) हैं, जिसके जो भाग हैं। जो खाना वे खाते हैं, वह स्थानीय पैदावार एवं जैविक होता है और अभी कुछ समय पूर्व तक वहाँ पर्यावरणीय प्रदूषण का नाम-निशान तक नहीं था।

पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार, जैसा विशेष आहार लदाखी लेते हैं वह एकदम असंतुलित है। अत्यल्प फल और हरी सब्जियाँ, मक्खन और नमक इतनी अधिक मात्रा में लेना जो हमारे मानकी के अनुसार बेहद खतरनाक है किंतु पश्चिम में देखी जाने वाली स्वास्थ्य समस्याएँ, जो इन असंतुलन के कारण होती हैं, लद्दाख में बहुत कम देखने में आती हैं। अत्यधिक मात्रा में कॉलेस्ट्रॉल लेने के बावजूद, हृदय रोग का अस्तित्व ही नहीं है। इसके कदाचित्त दो कारण हैं। पहला यह कि आहार के विषय में हमारी जो परम मान्यताएँ हैं कि यह सही है और यह गलत है, वे ही उतनी सही नहीं हैं, जितनी कि शनैः शनैः हम समझने लगे हैं। बल्कि वे अन्य कई घटकों पर निर्भर हैं: जैसे कसरत या तनाव। दूसरा यह कि कदाचित्त मनुष्य की आवश्यकताएँ काफी हद तक उस प्राकृतिक वातावरण से उन्मुख हैं, जिसमें वह रहता है और इसीलिये उसने शरीर की ज़रूरतों का सामंजस्य उन चीजों से स्थापित हो जात है जो उस स्थान विशेष की ज़रूरत दे सकती हैं। जिस प्रकार एस्किमो केवल मछली और माँस खाकर तंदुरुस्त रह सकते हैं — बिना कोई अन्न खाए, उसी प्रकार लदाखी केवल जौ और दुग्ध उत्पादों से समृद्ध हो सकता है।

रोगी की जिम्मेदारी मुख्यतः 'आमची' के हाथ में होती है। अधिकांश लोगों में कम से कम एक 'आमची' होता है। कुछ में कई हो सकते हैं। वे समाज के सर्वाधिक आदरणीय लोगों में से होते हैं और अपना काम अपने पिताओं, दादाओं से सीखते हैं। वे पूर्णकालिक पेशेवर नहीं होते क्योंकि अन्य लोगों की भाँति उन्हें भी अपनी ज़मीन पर खेती करना होती है।

विश्वतः चिकित्सा प्रणाली, जिसे अब पश्चिम में भी पर्याप्त आदर की वृद्धि से देखा जाने लगा है, का आरंभ आठवीं सदी में हुआ था। बौद्ध धर्म से संबद्ध इस पद्धति का वृहद रूप से दस्तावेजीकरण किया गया है। चार मूल शोध ग्रंथों 'रागुत जी' में शरीर रचना, जीवन प्रक्रिया, रोग के लक्षण एवं योगोपचार का विस्तृत विवरण है, जबकि अन्व्यों में विशिष्ट औषधियों को बनाने तथा उनके प्रभावों की निर्दिष्ट जानकारीयें दी गई हैं। एक खंड चिकित्सा शब्दों के शब्दकोष का काम करता है। विविध मूल पाठों का एक बड़ा भाग चिकित्सा के प्रचार को

रेखांकित करता है: अपने स्वास्थ्य की किस प्रकार स्वयं देखभाल करें, गर्भावस्था के दौरान आहार, नवजातों की देखभाल।

जैसा कि अन्य पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में होता है, रोग के लक्षणों की जाँच रोगी के संपूर्ण परीक्षण द्वारा की जाती है। बीमारी को शरीर के इस या उस अंग के ठीक से काम न करने का कारण नहीं माना जाता, अपितु सामान्य असंतुलन को वजह मानते हैं। विकारों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है, जिसमें शरीर, मन और आत्मा को एक ही घटक का अविभाज्य अंग माना जाता है। इसके परिणाम स्वरूप जो इलाज निर्धारित किया जाता है वह प्रायः आध्यात्मिकता लिये हुए होता है — मंत्रों का उच्चारण और साष्टांग दंडवत होना। पाश्चात्य चिकित्सा से शायद अधिक, यहाँ ‘आमची’ का अनुभव अधिक महत्वपूर्ण होता है। उसके मरीज, उसी के गाँव के ग्रामीण होते हैं इसलिए उसे उनकी आदतों तथा चरित्र की पूरी जानकारी होती है।

रोग निदान की प्रमुख विधि नाड़ी देखना है, जो अत्यधिक कौशल वाली तकनीक है और वर्षों के अभ्यास से व्यक्ति इसमें पारंगत होता है। कुल मिलाकर बारह नाड़ियाँ होती हैं, दोनों ओर छः। जब मैंने इसके विषय में पहली बार सुना तो मुझे शंका थी। एक ‘आमची’ ने मुझे समझाया कि जो महसूस होता है, केवल वही नाड़ी की भौतिक हलचल नहीं होती बल्कि ऊर्जा भी शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यानुसार प्रवाहित होती है। ‘आमची’ जीभ व आँखों के रंग एवं बनावट को देख कर भी रोग की पहचान करता है। चेहरे के हाव-भाव, आवाज़ की तीव्रता और क्रोध कितनी जल्दी आता है। इसके अलावा व्यवहार के अन्य तरीकों का भी निदान करते समय ध्यान रखा जाता है।

एक बार मैं एक ‘आमची’ के पास पड़ोसी के लड़के को लेकर गई जिसके घुटने में संक्रमण हो गया था। ‘आमची’ अत्यंत योग्य प्रतीत होता था। उसने लड़के की कलाई को थोड़ी देर पकड़ा, उसकी आँखों व जीभ को देखा और अंदर के कमरे में गया, जहाँ वह अपने चिकित्सा उपकरणों को रखता था। कमरे में किताबों, बर्नियों एवं पोटलियों का जबर्दस्त संग्रह था — विविध दवाओं की एक के बाद एक कतारें। दीवार पर ‘थंका’ टंगे हुए थे, जबकि अनुष्ठानों की अन्य वस्तुएँ — घंटियाँ, पवित्र जल के कटोरे, प्रार्थना के पहिये — ये सब तरह-तरह के चूर्ण, तरल, पत्थरों एवं जड़ी बूटियों के बीच मौजूद थे। ‘आमची’ ने कुछ जड़ियों के अंश लिये, उन्हें मिलाकर पानी और बर्नी में रखे काले चूर्ण में घोंटा और साथ ही मंत्र पढ़ता गया। जो दवा तैयार हुई वह हरापन लिये हुए काले आटे जैसी थी। उसने उसकी कई परतें सूजे हुए भाग पर लगाई और उसे कपड़े से ढँक दिया। कुछ दिनों में ही बच्चे का घुटना ठीक हो गया।

सामान्यतः ‘आमची’ प्राकृतिक मिश्रणों का प्रयोग करता है। एक मुख्य चिकित्सा पुस्तक, दवाओं में लगने वाले विविध खनिजों और पौधों का वर्णन करती है, उन्हें कहाँ पाया जा सकता

है और वे कैसे दिखाई देते हैं। ये औषधियाँ काढ़ा, चूर्ण व गोलियों के रूप में दी जाती हैं। काढ़े का प्रयोग मुख्य लक्षणों पर प्रहार हेतु किया जाता है और उसका शीघ्र असर होता है। चूर्ण व गोलियाँ धीरे असर करती हैं और विकार के पीछे जो कारण है, उन्हें दूर करने के लिये प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण के लिये, देर तक रहने वाले सिरदर्द का इलाज कड़वे चूर्ण से किया जाता है, जो ‘टिटका गटपा’ कहलाता है। यह आठ फूलों, जड़ियों, बूटियों तथा वृक्ष की छाल जो कुचले जेंटियन पर आधारित होती है, से बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त ‘आमची’ प्रायः विशेष आहार की अनुशंसा करते हैं। सबसे विचित्र उपचार जो मैंने देखा उसे झंस्कार के एक ‘आमची’ ने एक महिला को सुझाया था, जिसे पश्चिम के डॉक्टर ने पीलिया बतलाया था। ‘आमची’ की सिफारिश थी कि महिला को “तीव्र सम्भोग” करना चाहिये; और मजे की बात यह है कि रोगिणी कुछ ही दिनों में ठीक हो गई! एक अन्य अजीब और झटका देने वाला इलाज है जिसमें चमड़ी पर गर्म लोहे से दाग दिया जाता है, इससे एक मामूली दाग रहा जाता है। जिन लद्दाखियों ने ऐसा इलाज करवाया है, उनका कहना है कि यह बहुत प्रभावी और पीड़ा रहित होता है।

यहाँ शल्यक्रिया नहीं की जाती है। मुझे बताया गया कि इसे शताब्दियों पहले प्रतिबंधित कर दिया गया था, जब लद्दाख की अड़तीसवीं रानी की शल्य चिकित्सक के चाकू से दुर्घटनावश मृत्यु हो गई थी। टाँके भी नहीं लगाए जाते — बड़े घावों के लिये भी नहीं। इसके बजाय स्थान को जड़ी के चूर्ण से साफ किया जाता है तथा रक्त का थक्का बनाने वाली गोलियाँ दी जाती हैं। हड्डियाँ टूटने पर लकड़ी की खपन्चियाँ बाँध दी जाती हैं। संकटकालीन हस्तक्षेप के अवसर बिरले ही होते हैं। अपेंडिसाइटिस, छोटे-मोटे छाले व एकाएक उत्पन्न होने वाली अन्य समस्याएँ जो पश्चिम में आम हैं, यहाँ अपवाद स्वरूप होती हैं। खतरनाक मशीनों और तीव्र गति वाली कारों के अभाव में दुर्घटनाएँ कम होती हैं और होती भी हैं तो गंभीर किस्म की नहीं होती। अत्यंत साधारण चोट, जैसे पैर का टूटना भी कभी-कभार होता है।

पारंपरिक लद्दाखी समाज में मनोविकार के बहुत कम चिह्न होते हैं, पर उनका चिकित्सा ग्रंथों में उल्लेख है। एक ‘आमची’ ने एक दफा मुझे दो मनोविकार से ग्रस्त रोगियों की मिसालें बताई। एक सदैव चुप और भयग्रस्त रहता था। दूसरा बहुत बातूनी और आक्रामक था, जो एकाएक क्रोध कर कमरे से बाहर निकल जाता था। उसने इसका इलाज बताया कि उसे उसके घर में किसी दोस्त के साथ छोड़ दिया जाए जो उसे “कहानियाँ सुनाए और उससे मीठी-मीठी बातें करें।” उसका सामना इनमें से किसी से भी नहीं हुआ था और उसने केवल पुस्तकों में उनके बारे में पढ़ा था।

‘आमची’ के अलावा, गाँव के दो अन्य व्यक्ति बीमारों की सहायता करते हैं। एक होता है

‘इहाबा’ या शमन; दूसरा है ‘ओनपो’ या ज्योतिषी। तीनों में से किससे सलाह ली जाए, यह संबंधित ग्रामवासी, या उसकी बीमारी की समस्या पर निर्भर करता है। सामान्यतः पहले ‘आमची’ के पास जाया जाता है, यद्यपि कुछ मामलों में, उदाहरणार्थ बाँझपन — अन्य दो में से किसी एक के पास जाया जा सकता है।

‘ओनपो’ ज्योतिषीय तालिकाओं की पुस्तकों पर भरोसा करता है। उसका कार्यक्षेत्र ग्राम्य जीवन का प्रत्येक पहलू है: नए भवन के लिये स्थान का चयन, जुताई या फसल की कटाई के लिये सही दिन का निर्धारण, प्रस्तावित विवाह के लिये शुभ-अशुभ का निर्णय, अंत्योष्टि के लिये समय का निर्धारण। उसके पास आठ मूल पाठ हैं, जिनमें से एक ‘ग्यिक्तसिस’ पूर्णतः बीमारियों पर केन्द्रित है। ‘लोतो’, ज्योतिषीय जोड़-घटाने की हर साल संशोधित की जाने वाली पुस्तक की मदद से वह रोगों की पहचान करके इलाज की अनुशंसा करता है। इसमें वह धर्मग्रंथों का पाठ करके अथवा प्रार्थना, सेवा के द्वारा रोग मुक्ति की राय देता है। पाँसा फेंक कर या अनाज के दानों से बनी आकृति की व्याख्या करके भी वह इलाज सुझाता है।

लद्दाख में अपने आरंभिक वर्षों में, मैंने अनेक फिल्म टीमों की सहायता की। वे सब बौद्ध समारोह को केमरों में कैद करना चाहते थे — विशेषतः ऐसे आयोजन जिनमें काफी नृत्य, मुखौटे और पोशाकें हों। वे राज परिवार का फूटेज भी चाहते थे; और ‘इहाबा’ को क्रिया करते देखने के इच्छुक होते थे।

‘इहाबा’ लद्दाख के सर्वाधिक शानदार रोगोपचारक होते हैं। जब वे समाधि अवस्था में होते हैं तब मृतात्माएँ उनके अंदर आ जाती हैं, उनके माध्यम से बातें करती हैं तथा विविध प्रकार के उपचार करती हैं। 1975 में, जब मैं एक जर्मन निर्माता के साथ काम कर रही थी, हमारे गाइड ने लेह के निकट एक ‘इहाबा’ से मिलने का प्रबंध किया और वह उसने फिल्माने की अनुमति दे दी।

हम एक दिन प्रातः जल्दी फिल्म दल तथा उनके उपकरणों के साथ जीप से रवाना हुए। एक घंटे की यात्रा के बाद हम थिक्से के एक साधारण घर में पहुँचे। ‘इहाबा’, जिसका नाम त्सेवांग था, अपने घर की छत पर अपनी पत्नी के साथ बीजों की छँटाई कर रहा था। उसने पारंपरिक बैंगनी रंग का लबादा पहन रखा था, उसके सफेद बाल पारंपरिक ढंग से कटे हुए थे — सामने से उस्तरा चला हुआ और पीछे चोटी बंधी हुई, जिससे उन्नत ललाट दिखाई देता था। उसकी उम्र लगभग सत्तर वर्ष की होगी तथा आँखें चमकीली थीं। हमारे पहले ही संक्षिप्त वार्तालाप में उसने सामान्य से अधिक लद्दाखी तेजस्विता और विनोद का प्रदर्शन किया। हमारे बीच तत्काल मित्रता हो गई।

हम उसके घर के अंदर गए जहाँ उसने अनुष्ठान की तैयारियाँ शुरू की। उसने अपने हाथ-

मुँह धोये तथा वेदी पर चढ़ाने के लिये प्रसाद को व्यवस्थित किया। दस या बारह अन्य लद्दाखी लोग भी वहाँ पर थे, जो इलाज करवाने हेतु आए थे। जिस कक्ष में अनुष्ठान होना था, वहाँ हम सब थोड़ा घबराए हुए थे। हम फर्श पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगे। कुछ देर बाद ‘इहाबा’ पाँच कोणीय मुकुट और एक कपड़ा पहन कर आया, जिससे उसकी सूरत ढँक गई थी। उसके हाथ में डमरू था — एक छोटा हाथ का ड्रम, जिसमें डोरी से दो मनके बँधे हुए थे। डमरू से हल्का स्वर निकालते और आगे-पीछे झूमते हुए उसने समय पर मंत्र पढ़ना शुरू किया। मैं दीवार के ‘थंकाओं’ को देख रही थी तथा विविध बुद्धों व बोधिसत्त्वों के नामों को याद करने का प्रयत्न कर रही थी। तभी मैंने अनुभव किया कि मंत्रों में ऐसा कुछ था जो मुझे प्रभावित कर रहा था। मैंने फिल्म टीम के अन्य सदस्यों की ओर देखा और पाया कि वे भी प्रभावित थे। जब ‘डमरू’ की लय तेज़ हो गई, तो हम सब सम्मोहित से हो गए। मैंने देखा कि फिल्म निर्माता कुछ तनाव में आ गया था। जब ‘इहाबा’ के मंत्रोच्चार की गति बढ़ी तो वह और तीव्र और ऊँची होती गई। अब वह सम्मोहनकारी और आलौकिक हो गई थी। मैं काँपने लगी, केवल मैं अकेली नहीं।

एकाएक आवाज़ भयंकर चीख में बदल गई। “आओ!” उसने पहले रोगी की ओर संकेत किया। वह महिला थी जो अपने रूग्ण बच्चे को लेकर आई थी। वह उसके कुछ समीप गई तब मैंने देखा कि वह भी काँप रही थी। ‘इहाबा’ उस पर चिल्लाया, “तुम अच्छा व्यवहार नहीं कर रही थी। तुमने आत्माओं के प्रति सम्मान प्रकट नहीं किया; उनके अनुष्ठान नहीं किये और उन्हें अशांत कर दिया। तुम यह सब बंद करो, अन्यथा बच्चा ठीक नहीं होगा।”

दूसरी मरीज़ एक सत्तर वर्षीय महिला थी, जिसका अपने पोते के भविष्य को लेकर प्रश्न था। क्या उसे अपने पिता के चरण चिह्नों पर चल कर ‘आमची’ बनना चाहिये या उसे पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति सीखने हेतु भेज देना चाहिये? ‘इहाबा’ ने अपना डमरू मेज़ पर रखा और कुछ जौ के दाने उसके ऊपर हवा में उछाल दिये। महिला ने उस दाने की ओर संकेत किया जो डमरू पर गिरा था। बाकी दानों को हटा दिया गया। सभी की नज़रें डमरू पर थीं। तीन फीट दूर खड़े होकर ‘इहाबा’ ने मंत्र पढ़ना शुरू किया और दाना अपनी जगह पर घूमने लगा, धीरे-धीरे, रहस्यमय ढंग से। औरत धीरे-धीरे सिसकियाँ ले रही थी जब ‘इहाबा’ ने अपना निर्णय दिया कि उसके पोते को बाहर भेजा जाना चाहिये।

हमारा वाहन चालक अपने तनाव को दूर करने हेतु जेब से सिगरेट निकाल रहा था। ‘इहाबा’ ने उसे देख लिया और तुरंत उसकी ओर झपटा। उसे एक तमाचा जड़ कर चिल्लाया, “क्या तू नहीं जानता कि आत्माओं की उपस्थिति में धूम्रपान करना कितना बड़ा पाप है और, कि वे तेरे विरुद्ध हो जाएंगी?” भयभीत ड्राइवर ने सिगरेट को मसल दिया और भाग कर बाहर चला गया। अब तक फिल्म पार्टी ‘इहाबा’ की शक्ति और अप्रत्याशितता से बेहद घबरा गई थी। मैं सोच

रही थी कि हमारा भी उसे — या आत्माओं को — फिल्मांकन कहीं अनैतिक न लगे और वे हमें भी निकाल बाहर न कर दें। हालाँकि वह विशालकाय नहीं था, पर जबर्दस्त ऊर्जा से लबरेज़ था।

अब 'इहाबा' के सामने घुटनों के बल बैठे लोगों ने कतार बना ली थी। एक व्यक्ति को छाती में संक्रमण था। उसका नंबर आया। इहाबा उसकी ओर लपका, उसके लबादे को चीर दिया और अपना सिर व्यक्ति की छाती में धंसा दिया। उसने अपना सिर उठाया और काला द्रव उस कटोरे में उगल दिया, जो उसकी पत्नी लिये खड़ी थी।

“वह क्या कर रहा है?” निर्माता ने हमारे गाइड से पूछा।

“यह रोग है। 'इहाबा' रोगी के शरीर से बीमारी को चूस कर निकाल लेता है।”

एक के बाद एक लोग 'इहाबा' के पास आते गए। वह उनके ऊपर चिल्लाता, धक्का देता, उन्हें मंत्र बतलाता या मंत्रोच्चारित चावल के दाने देता। वह बार-बार उनके शरीर से चूस कर, काला तरल पदार्थ पात्र में थूकता जाता था।

कैमरे वाले, जो कुछ उनके सामने घट रहा था, उसका जितना अच्छा हो सके फिल्मांकन कर तो रहे थे, पर उन्हें बहुत दिक्कत आ रही थी। 'इहाबा' की उग्रता बर्दाश्त के बाहर थी। जब अंतिम रोगी को धकेला गया, उस पर चीखा जा चुका, तब 'इहाबा' घुमा, कमरे के कोने में वेदी की ओर देखा और उसी तीखी आवाज़ में मंत्रोच्चार करने लगा। उसने वेदी के सामने शीश नवाया और एकाएक फर्श पर लेट गया। अनुष्ठान पूरा हुआ। 'इहाबा' पुनः वही व्यक्ति बन गया जिससे हम छत पर मिले थे। परंतु अब वह थका हुआ था। मैं बमुश्किल उठी, उसे धन्यवाद दिया तथा अन्य लोगों के साथ बाहर आई।

“क्या आप समझ पाई कि वह क्या कह रहा था?” एक सदस्य ने मुझसे पूछा।

“अधिक नहीं। बहुत कुछ तो वह लदाखी में बोला ही नहीं था, ऐसा मैं सोचती हूँ।”

“इस गाँव के लोगों का कहना है कि आत्मा तिब्बती थी,” हमारे गाइड ने समझाया, “इसलिए जब 'इहाबा' समाधि में जाता है, तब वह तिब्बती बोलता है।”

हम निःशब्द जीप तक आए। यह अत्यंत विचलित करने वाला तजुर्बा था, जिसका हम में से किसी को भी अनुमान नहीं था। हम तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या करें।



अध्याय चार

हमें साथ मिलकर रहना है

जिस व्यक्ति के पास सौ अश्व हों, उसे भी कभी दूसरे से चाबुक माँगना पड़ सकता है।

लदाखी कहावत।

“तुम हमें कमरा क्यों नहीं दे सकते? हम तुम्हें उचित कीमत देंगे।”

आंगचुक और डोलमा नीचे देखने लगे, अर्थात् वे यह संकेत दे रहे थे कि वे अपना मन नहीं बदलेंगे। “आप न्गावांग से पूछिये,” उन्होंने दोहराया।

“पर हम पहले ही उनसे किराए पर कमरे ले चुके हैं और वहाँ बहुत शोर होता है। इसकी कोई वजह नहीं है कि हम एक और कमरा उन्हीं से लें।”

“अब आप न्गावांग के साथ रह रहे हैं और यदि हमने आपको कमरा दिया तो वे नाराज हो सकते हैं।”

“मुझे पूरा विश्वास है, वे ऐसा नहीं करेंगे। इसलिए हमें कमरा दे दो, दोगे ना?”

“पहले उनसे बात कर लीजिए — हम सबको साथ रहना है।”

मैं 1983 की गर्मियों में प्रोफेसरों के एक दल के साथ इन्स्कार के तोंगदे गाँव में समय व्यतीत कर रही थी, जो सामाजिक पर्यावरणीय शोध कार्य कर रहे थे। एक महीने के बाद, उनमें से कुछ को लगा कि शांति से अध्ययन हेतु एक अतिरिक्त कमरा होना चाहिये। चूंकि जिस घर में हम रह रहे थे, उसमें किशोरवय के ढेर सारे ऊधमी बच्चे थे, हमने सोचा पड़ोसी से पूछें। पहले मुझे आंगचुक और डोलमा पर क्रोध आया कि वे इतने अड़ियल ढंग से हमारा प्रस्ताव टुकरा रहे हैं। मेरे अपने वैयक्तिक अधिकार के आग्रह के चलते भी मुझे उनका आचरण अनुचित लगा। परंतु उनकी प्रतिक्रिया “हम सबको साथ रहना है,” ने मुझे सोचने पर मजबूर किया। ऐसा लगता है कि लदाखियों के लिये अहम् मुद्दा सह-अस्तित्व का है। थोड़े पैसे कमा लेने के बजाय अपने पड़ोसी से अच्छे संबंध बनाए रखना अधिक महत्वपूर्ण है।

एक अन्य अवसर पर, सोनम और उसके पड़ोसी ने सुतार से खिड़कियों की चौखट बनाने को कहा था; वे दोनों ही अपने-अपने घरों में कुछ अतिरिक्त निर्माण करवा रहे थे। जब बढ़ई का काम पूरा हो गया, उसने सारी चौखट पड़ोसी को दे दी। कुछ दिनों बाद, मैं सोनम के साथ चौखट लेने गई। कुछ चौखट कम थीं; उसके पड़ोसी ने जितनी बनाने का आर्डर दिया था उससे अधिक का उपयोग कर लिया था। यह सोनम के लिये काफी असुविधाजनक था। क्योंकि वह अब नया निर्माण तब तक नहीं कर सकता था जब तक कि चौखट बन न जाए और नई चौखट बनने में कई सप्ताह लग जाएँगे। फिर भी उसने क्रोध या अफसोस का कोई संकेत नहीं दिया। जब मैंने उससे कहा कि उसके पड़ोसी ने ठीक नहीं किया, तो उसने केवल इतना कहा, “हो सकता है उसे उसकी मुझसे ज़्यादा ज़रूरत हो।” “क्या तुम उससे पूछोगे नहीं?” मैंने प्रश्न किया। सोनम सिर्फ मुस्कराया और अपने कंधे उचकाए : “ची चोएन? (क्या फायदा?), जो भी हो, हमें तो रहना साथ मिलकर है।”

एक-दूसरे को नाराज या परेशान न करने की आदत लद्दाखी समाज में बहुत गहरी है; लोग ऐसी स्थितियों से बचते हैं जिनमें टकराव या संघर्ष हो। जब कोई इस अ-लिखित कानून को भंग करता है, जैसे कि सोनम का पड़ोसी, तो उसकी प्रतिक्रिया अत्यधिक शांत होती है। और फिर समुदाय की चिंता व्यक्ति पर कोई आक्रामक प्रभाव नहीं पड़ते देती, जिसे वह सोच कर चलता है। इसके विपरीत अब मुझे विश्वास हो गया है कि किसी भी परस्पर घनिष्ट रूप से जुड़े समुदाय का हिस्सा बने रहने से मन में सुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है।

पारंपरिक लद्दाख में किसी भी प्रकार की आक्रामकता अपवाद स्वरूप ही देखने में आती है: इतनी कम कि यह कहना उचित होगा कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। यदि आप किसी लद्दाखी से पूछें कि उसका किसी से आखिरी बार झगड़ा कब हुआ था, तो आपको शरारत भरा इस तरह का उत्तर मिलने की संभावना है, “मैं सदा अपने पड़ोसियों को पीटता रहता हूँ। अभी कल ही मैंने उसे एक पेड़ से बाँधा और उसके दोनों कान काट कर अलग कर दिये।” और यदि आपको संजीदा जवाब मिला, तो आपको बताया जाएगा कि उसकी स्मृति में गाँव में कभी कोई मारपीट नहीं हुई। यहाँ तक कि विवाद ही नहीं होते। मैंने ज्यादा से ज्यादा थोड़ी-बहुत असहमति पारंपरिक गाँवों में देखी है — वैसा तो कभी कुछ घटता ही नहीं जैसा आप आए दिन पश्चिम में देखते हैं। क्या लद्दाखी अपनी भावनाओं को छिपाते हैं या उन्हें दबा देते हैं?

एक दफा मैंने सोनम से पूछा, “क्या तुम लोगों में कभी बहस नहीं होती? हमारे पश्चिम में तो लगातार होती ही रहती है।”

उसने थोड़ी देर सोच कर कहा, “गाँव में तो नहीं, नहीं — कभी कभार ही, शायद।”

“तुम ऐसा कैसे कर पाते हो?” मैंने पूछा।

वह हँसा। “कैसा मज़ाकिया प्रश्न है। हम एक दूसरे के साथ रहते हैं, बस और क्या?”

“तब क्या होता है जब दो लोग असहमत हों — जैसे अपनी भूमि की सीमा को लेकर?”

“वे इसके बारे में बात करते हैं और निश्चित ही चर्चा करते हैं। आप उनसे और क्या अपेक्षा रखती हैं?”

मैंने कोई जवाब नहीं दिया।

पारंपरिक लद्दाखी समाज में टकराहट न हो इसे सुनिश्चित करने की व्यवस्था जो मैंने देखी वह है “स्वयंभू मध्यस्थ।” जैसे ही कभी दो पक्षों के बीच कोई असहमति होती है, तो कोई तृतीय पक्ष मध्यस्थता करने हेतु उपलब्ध होता है। परिस्थितियाँ जो भी हो, विवाद किनके बीच हो रहा हो, मध्यस्थ दो हाथ की दूरी पर ही मिल जाएगा। यह अपने आप, बिना किसी प्रोत्साहन के होता है। मध्यस्थ को जान बूझ कर नहीं बुलाया जाता और वह कोई भी हो सकता है, जो आसपास हो; वह बड़ी बहन, पड़ोसी या कोई उधर से गुजर रहा अजनबी हो सकता है। मैंने इस प्रक्रिया को बच्चों के बीच भी होते देखा है। मुझे याद है, मैंने एक पाँच वर्षीय लड़के को अपने दो मित्रों के बीच हुए झगड़े को सुलझाते देखा था। दोनों ने उसकी बातों को ध्यान से सुना। यह भावना कि झगड़े-फसाद से शांति बेहतर है, लोगों में इतनी गहरी जड़ें जमाए हुए हैं, कि वे तत्काल मध्यस्थ की ओर मुखातिब होते हैं।

इस तरीके से समस्याएँ उलझने से पहले ही खत्म हो जाती हैं। तत्काल उपलब्ध मध्यस्थ, ऐसा लगता है कि किसी भी संदर्भ में आसपास ही है। उदाहरणार्थ, यदि दो लोग लेन-देन में शामिल हों, तो उन्हें पता होता है कि कोई न कोई सौदा संपन्न कराने में उनकी मदद करेगा। इस उपाय से वे सीधे टकराव की संभावना से बच जाते हैं। अधिकांश स्थितियों में, पक्ष पहले से ही एक दूसरे से परिचित होते हैं। किंतु यदि कोई ऐसा व्यक्ति हस्तक्षेप करता है जो अपरिचित हो, तो उसे दखलंदाजी नहीं माना जाता — अपितु इस मदद का भी स्वागत किया जाता है।

एक बार वसंत के दिनों में, मैं ट्रक से कारगिल से झंस्कार जा रही थी। चूंकि सड़कों पर अभी भी बर्फ थी, यात्रा में अनुमान से अधिक समय लग रहा था। रास्ता ऊबड़-खाबड़ और असुविधाजनक होते हुए भी, मैं यात्रा के अनुभव का आनंद ले रही थी। हमारे ड्राइवर का अवलोकन करना सम्मोहक था। आम लद्दाखियों के उलट वह भीमकाय और हट्टा-कट्टा था और सड़क बनने के थोड़े ही समय में एक प्रकार का हीरो बन गया था। हर जगह, रास्ते में लोग उसे जानते थे। हर कुछ हफ्तों में इधर से उधर आने-जाने के कारण वह व्यक्ति ग्रामीणों की दृष्टि में महत्वपूर्ण हो गया था — संदेश वाहक, पार्सल लाने-ले-जाने वाला और यात्रियों को ढोने वाला।

वह एक चावल की बोरी लेकर आया था, जिसके बदले में उसे प्रसिद्ध मलाईदार झंस्कारी

मक्खन चाहिये था। वह जब एक वृद्ध महिला के पास गया, तो बड़ी भीड़ उसके इर्द-गिर्द जमा हो गई। एकाएक एक लड़के ने कमान अपने हाथों में ले ली, जिसकी आयु अधिक से अधिक बारह वर्ष होगी। वह उस सड़कों के राजा को बता रहा था कि उसे कितने की उम्मीद रखनी चाहिये, कितना उचित होगा। पूरा मामला पंद्रह मिनटों में निपट गया, ड्राईवर तथा वृद्ध महिला उस लड़के के माध्यम से लेन-देन पर राजी हो गए। प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे से उन्होंने सौदा नहीं किया। यह बड़ा बेमेल लगा कि इतना बड़ा आदमी चुपचाप अपने से आधे आकार के लड़के की सलाह मान रहा था, किंतु यही ठीक भी था।

पारंपरिक रूप से लद्दाख के गाँवों की व्यवस्था लोकतांत्रिक है और चंद अपवादों के छोड़ दें तो हर परिवार के पास उसकी अपनी भूमि है। लगभग 95 प्रतिशत आबादी ऐसी है जिसे हम मध्यवर्गीय कह सकते हैं। शेष करीब-करीब उच्च और निम्न वर्ग में बाँटी जा सकती है। निम्न वर्ग मुख्यतः मोन लोगों से बना है, जो सर्वप्रथम लद्दाख में आकर रहने लगे थे और प्रायः सुतार या लोहार होते हैं। उनकी निम्न स्थिति का कारण यह माना जाता है कि धरती से धातु निकालने से आत्माएँ रुष्ट हो जाती हैं। इन तीनों वर्गों में अंतर अवश्य है, पर उससे कोई तनाव नहीं निर्मित होता। यूरोपीय सामाजिक सीमाओं के विपरीत यहाँ भिन्न वर्ग एक दूसरे से बराबर का व्यवहार करते हैं। यदि कोई मोन, उदाहरण के लिये राज-परिवार के किसी सदस्य के साथ हँसी-मजाक करे, तो यह कोई अनहोनी बात नहीं होगी।

चूँकि प्रत्येक कृषक पूर्णतः आत्मनिर्भर है और इसी वजह से स्वतंत्र भी इसलिए सामुदायिक निर्णय लेने के अवसरों की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। प्रत्येक परिवार अपनी भूमि पर स्वयं कार्य करता है और अपने ही संसाधनों से करता है। कई कार्य जिनके लिये ज़रूरी हो कि सारा गाँव इकट्ठा हो और योजना बनाए — जैसे गाँव के मठ का रंग-रोगन या लोसार (नव वर्ष) की तैयारियाँ, इसका फैसला भी कई पीढ़ियों पहले ही किया जा चुका होता है, अब वह बारी-बारी से किये जाते हैं। फिर भी, कभी-कभी मामलों का निर्णय गाँव के स्तर पर करना पड़ता है। बड़े गाँव 'चुटसोस' में विभक्त होते हैं, या दस घरों के समूह, जिनमें से प्रत्येक का एक प्रतिनिधि ग्रामसभा में होता है। इस सभा की बैठक सालभर बीच-बीच में होती रहती है और इसका सभापतित्व 'गोबा' या ग्राम प्रधान करता है।

'गोबा' की नियुक्ति आम तौर पर बारी-बारी से होती है। यदि पूरा गाँव चाहता है कि वही गोबा बना रहे, तो वह उस पद पर वर्षों तक रह सकता है, अन्यथा एकाध वर्ष के पश्चात् यह पद किसी अन्य परिवार के पास चला जाता है। 'गोबा' का एक कार्य निर्णय देना होता है। हालाँकि विवाद नहीं होते हैं, समय-समय पर मतान्तर के कारण उन्हें सुलझाने की ज़रूरत पड़ती है।

'गोबा' के पास जाना सरल होता है, बिना किसी औपचारिकता के। प्रायः संबद्ध पक्ष रसोई कक्ष में बैठकर चाय अथवा 'चांग' की चुस्कियाँ लेते हुए मिलकर समस्या पर चर्चा करते हैं। मैंने तोंगदे गाँव में पालजोर के घर में पर्याप्त समय बिताया है, जो वहाँ का 'गोबा' था और वह विवादों का किस तरह निपटारा करता था, यह सुनती रहती थी। चूँकि तोंगदे में मेरा शोध बच्चों के लालन-पालन के तरीकों पर केंद्रित था, मैं रसोईघर में पालजोर की पत्नी, त्सेरिंग के साथ बैठी रहती थी, जिसका हाल ही में बच्चा हुआ था। लोग बीच-बीच में पालजोर से बातें करने हेतु आते थे।

एक बार घर पर दो गाँव वाले, नामग्याल और चोस्पेल एक समस्या लेकर आए। नामग्याल ने जो कुछ हुआ था बतलाना शुरू किया : "मेरी घोड़ी, रोम्पो आज सुबह खुल गई। मैंने उसे एक बड़े पत्थर से बाँध दिया था, जब मैं नोर्बू से, उसके टूटे हुए हल के बारे में बात करने गया था। वह कैसे खुल गई यह तो मैं नहीं जानता, पर वह कैसे भी खुल तो गई थी।" "मैंने उसे घर की छत से देखा," चोस्पेल ने आगे का हाल बताया, "वह मेरे जौ को खा रही थी; वह अब तक खेत के एक पूरे हिस्से को खा चुकी थी।" मैंने उसे भगाने के लिये एक पत्थर फेंका और फिर मैंने उसे गिरते देखा; मैंने उसे चोट पहुँचाई।

प्रायः याक के बालों की गोफंद से पत्थर फेंकना लद्दाखियों का मवेशियों को नियंत्रण में रखने का तरीका है और वे गजब का निशाना साध लेते हैं। मैंने उन्हें भेड़ों की पूरी रेहड़ को नियंत्रित करते देखा है, जो आधा मील दूर थी, वे इस कुशलता से पत्थर फेंकते थे। परंतु इस बार चोस्पेल का निशाना चूक गया और पत्थर घोड़ी के घुटने के ठीक नीचे लगा, जिससे उसका पैर चोटग्रस्त हो गया।

कौन किसकी क्षतिपूर्ति करेगा? और कितनी? यद्यपि घोड़ी की चोट, जौ के नुकसान से अधिक गंभीर थी, नामग्याल के अपराध को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता था। अपनी फसलों की रक्षा के लिये लद्दाखियों ने आवारा घूमने वाले घरेलू पशुओं के लिये कठोर नियम बना रखे हैं और प्रत्येक गाँव में कोई ऐसा होता है जिसे 'लोराप' कहते हैं, जिसकी नियुक्ति खासकर इसीलिये की जाती है कि वह उन्हें पकड़े व उनके मालिकों से जुर्माना वसूल करे। काफी विचार-विमर्श के बाद तीनों व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोई भरपाई आवश्यक नहीं है। जैसा कि पालजोर ने नामग्याल से कहा: "रोम्पो के पैर का चोटिल होना एक दुर्घटना थी और तुमने ये लापरवाही की कि उसे ठीक से बांध कर नहीं रखा।"

लद्दाख आने से पहले, मैं हमेशा सोचती थी कि सर्वश्रेष्ठ निर्णायक वे होते हैं, जिनका उन व्यक्तियों से कोई संबंध न हो, जिनके लिये उन्हें न्याय करना है; असंलग्नता और फासला बनाए

रखना, मेरे मतानुसार, उचित न्याय करने का एक ही उपाय था। कदाचित् ऐसा है, जब आप ऐसे समाज की बात कर रहे हों जो हमारे जैसा वृहद हो। किंतु लद्दाख में अनेक वर्षों तक रह लेने के उपरान्त, मुझे अपना विचार बदलना पड़ा। हालाँकि न्याय की कोई भी पद्धति शत-प्रतिशत आदर्श नहीं हो सकती, कोई भी उससे अधिक प्रभावी नहीं हो सकती, जो छोटे, आपस में जुड़े समुदायों में होता है और जो लोगों को अपनी समस्याएँ ज़मीनी स्तर पर, आपसी बातचीत से हल करने की अनुमति देती हो। मैंने यह सीखा है कि जब लोग विवाद सुलझाते समय संबद्ध पक्षों को अत्यंत निकट से जानते हों, तो उनका निर्णय कभी पूर्वाग्रही नहीं होता। इसके उलट यह निकटता उन्हें अधिक विवेकपूर्ण एवं सही फैसला देने में सहायक होती है। न केवल छोटी इकाइयों न्याय के अधिक मानवीय रूप को प्रोत्साहित करती है, वे ऐसे झगड़ों को रोकने में भी मददगार होती हैं जो बड़े समाजों का चरित्र होता है।

वस्तुतः जितना ही अधिक समय मैंने लद्दाख में बिताया, उतना ही अधिक मैंने मात्रा के महत्व को समझा है। प्रारंभ में लद्दाखियों की हँसी और क्रोध या तनाव के अभाव को मैंने उनके मूल्यों एवं धर्म का प्रभाव समझा। निःसंदेह, इनकी भूमिका महत्वपूर्ण है। किंतु धीरे-धीरे मेरी समझ में आने लगा कि बाह्य ढाँचे जो समाज को आकार देते हैं, वे भी मात्रा या परिमाण में उतने ही महत्वपूर्ण हैं। उनका व्यक्ति पर गहरा असर होता है और बदले में उसकी आस्थाएँ एवं मूल्य संवर्धित होते हैं।

क्योंकि गाँव शायद ही सौ से अधिक घरों से बड़े होते हैं, लोगों के जीवन का पैमाना ऐसा है कि वे प्रत्यक्ष रूप से आपसी निर्भरता को महसूस कर सकते हैं। उन्हें पूरा परिदृश्य दिखाई देता है और वे उस तंत्र की संरचना व संजाल को समझ सकते हैं जिसके कि वे अंग हैं; अपने कार्यों के प्रभाव की अनुभूति कर सकते हैं; अतः उनमें उत्तरदायित्व की भावना होती है। और चूँकि उनके कृत्य दूसरों को अधिक साफ दिखाई देते हैं, वे अधिक सरलता से जवाबदार ठहराए जा सकते हैं।

आर्थिक और राजनीतिक पारस्परिक व्यवहार प्रायः सदैव आमने-सामने होता है; क्रेता और विक्रेता के व्यक्तिगत संबंध होते हैं, संबंध जो असावधानी और धोखाधड़ी को निरुत्साहित करता है। इसके फलस्वरूप, भ्रष्टाचार या सत्ता का दुरुपयोग लगभग नहीं होता है। छोटा आकार एक व्यक्ति में केंद्रित सत्ता को भी सीमित कर देता है। किसी राष्ट्र के राष्ट्रपति और लद्दाखी ग्राम के 'गोबा' के बीच कितना अंतर है: एक के हाथ में लाखों लोगों पर शासन करने की शक्ति है, जिनसे वह कभी नहीं मिलेगा; और जिन्हें उससे बात करने का अवसर कभी नहीं मिलेगा; दूसरा कुछ सौ लोगों के मामलों का समन्वय करता है, जिन्हें वह करीब से जानता है और जो उसके साथ प्रतिदिन कार्य-व्यवहार करते हैं।

पारंपरिक लद्दाखी गाँव में, लोगों का अपने जीवन पर कहीं अधिक नियंत्रण होता है। काफी हद तक वे अपने फैसले खुद करते हैं, बजाय अ-नमनीय और कठोर नौकरशाही तथा ऊपर नीचे होते बाज़ार की दया पर रहने के। मानवीय पैमाना त्वरित निर्णय लेने की इजाज़त देता है तथा कार्य किसी विशेष प्रसंग की आवश्यकताओं के अनुरूप होते हैं। किसी कठोर नियम की ज़रूरत नहीं होती अपितु प्रत्येक स्थिति एक नई प्रतिक्रिया लेकर आती है।

लद्दाखी इस मामले में भाग्यशाली हैं कि उन्होंने विरासत में ऐसा समाज पाया है जिसमें व्यक्ति की भलाई से पूरे समुदाय की भलाई का टकराव नहीं होता; एक व्यक्ति का लाभ, दूसरे व्यक्ति का नुकसान नहीं होता। परिवार एवं पड़ोसियों से लेकर अन्य गाँवों के सदस्यों बल्कि अजनबियों तक, लद्दाखी जानते हैं कि अन्यो की सहायता करना स्वयं उनके अपने हित में है। एक कृषक की फसल अधिक होने के पीछे दूसरे की कम फसल नहीं है। प्रतिस्पर्धा नहीं बल्कि एक दूसरे की मदद अर्थ-तंत्र को आधार देती है। दूसरे शब्दों में यह बहु अंग सहिष्णु, सहयोगी और सह-क्रियाशील समाज है।

कई प्रकार की सामाजिक संस्थाओं में सहयोग के शिष्टाचार क्रियान्वित होते हैं। जो विशेष हैं उनमें 'पासपुन' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। गाँव का हर परिवार, घरों के एक समूह का सदस्य होता है जो एक-दूसरे की जन्म, विवाह और मृत्यु के मौकों पर सहायता करते हैं। ऐसे समूह में चार से बारह तक घर होते हैं, कभी-कभी अन्य गाँवों के भी। प्रायः वे एक ही पारिवारिक देवता के उपासक होते हैं, जिसके बारे में ऐसा माना जाता है कि वह उनकी हानि एवं रोगों से रक्षा करता है। नव वर्ष पर देवता को प्रसाद चढ़ाया जाता है, जो हर घर की छत पर एक लघु मंदिर के रूप में होता है। अंत्योष्टि के समय 'पासपुन' सर्वाधिक सक्रिय होता है। मृत्यु उपरान्त शरीर को परिवार के घर में दाह क्रिया के दिन तक (प्रायः एक सप्ताह या बाद तक) रखा जाता है, किंतु परिवार के लोग उसका स्पर्श नहीं करते। 'पासपुन' सदस्य की यह जवाबदारी होती है कि वे नहला कर शरीर को तैयार करें; मृत्यु के समय से लेकर, जब तक कि शरीर पूरी तरह से भस्म न हो जाए, वही लोग सारा प्रबंध करते हैं तथा संबंधी अनावश्यक परेशानी से बच जाते हैं।

एक भिक्षु, 'बादो थोडोल' के अंश पढ़ने के लिये आता है जो कि तिब्बतियों की 'मृतात्माओं की पुस्तक' है, यह अंत्योष्टि से पहले पढ़ी जाती है। मृत्यु व्यक्ति की चेतना को बतलाया जाता है कि अगले जन्म के अनुभव कैसे होते हैं और उससे कहा जाता है कि वह राक्षसों से डरे नहीं — अपितु शुद्ध धवल प्रकाश में बदल जाए "रिक्ति का धवल प्रकाश।"

अंत्योष्टि के दिन सैंकड़ों लोग मृतक के घर पर जमा होते हैं और रिवाज़ के अनुसार रोटी तथा जौ का आटा उपहार के रूप में लाते हैं। मृतक के संबंधी — विशेषतः महिलाएँ रसोई कक्ष

में बैठे विलाप करती हुई बार-बार शोक मंत्र — आँसू बहाते हुए पढ़ती हैं। “तुस्सी लोमा, तुस्सी लोमा ...” (“पतझड़ के गिरते पत्तों की भाँति, समय के पत्ते”)। पड़ोसी और मित्र मृतक के शरीर के पास पंक्तिबद्ध होकर जाते हुए, सांत्वना प्रकट करते कहते हैं: “त्सेर्का माचो” (“उदास मत होना”)। भिक्षु के संगीत और मंत्रोच्चार से घर गुंजायमान हो उठता है।

मैंने जो पहली अंत्येष्टि देखी वह स्टोक गाँव में हुई थी, जब एक मित्र की दादी का देहान्त हुआ। मध्याह्न के कुछ देर बाद हमें भोजन परोसा गया। ‘पासपुन’ सदस्य मेजबानों के जैसा व्यवहार कर रहे थे। जब वे तीस गैलन के मक्खन चाय के पात्रों को चला नहीं रहे होते तब वे खाने की तश्तरियाँ हाथों में लिये इधर से उधर दौड़ते थे, यह सुनिश्चित करते हुए कि हर किसी को भोजन मिल गया है। दोपहर के आरंभ में जब कि महिलाएँ घर में ही रह गई, भिक्षुकों के नेतृत्व में शवयात्रा निकली और श्मशान पहुँची। चटख रंग के किमखाब धारण किये हुए और ऊँची टोपियाँ पहने, जिसके मोटे काले फुंदने उनकी आँखों के ऊपर तक लटकते थे, ढोल ढमाकों की गड़गड़ाहट के साथ वे मठ से प्रकट हुए। वे धीरे-धीरे चल कर खेतों से होते हुए गाँव के किनारे पर पहुँचे। उनके पीछे ‘पासपुन’ थे: चार लोग शरीर की अर्थी उठाए हुए और शेष जलाने के लिये लकड़ियाँ लेकर चल रहे थे। उनके भी पीछे मित्रों और रिश्तेदारों की लंबी कतार थी। जब भिक्षु ने एक छोटी मिट्टी की भट्टी के निकट “जलाने की विधि” संपन्न की, तब ‘पासपुन’ उनके साथ रहे और आग प्रज्वलित करते रहे।

‘चुटसो’ की ही भाँति, ‘पासपुन’ भी उस अंतरंग समूह में अपनत्व की भावना का संचार करते हैं, जिसे जीवन भर साथ रहना है, ये सब समान उद्देश्यों से जुड़े रहते हैं। पारंपरिक लद्दाखी समाज में, लोगों का विशेष जुड़ाव न केवल अपने परिवार और निकटतम पड़ोसी से रहता है, बल्कि पूरे क्षेत्र में फैले हुए घरों से भी रहता है।

फिर, मानवीय आकार की संरचना नमनीयता को प्रश्रय देती है। उदाहरणार्थ, यदि ‘पासपुन’ सदस्य अपनी फसल की कटाई में व्यस्त हैं, या उसे कोई अन्य महत्वपूर्ण काम हो तभी अंत्येष्टि होनी हो, तो ऐसा कोई कठोर नियम नहीं है कि उसे अपना काम छोड़ कर आना ही पड़ेगा। यदि वह स्वयं वहाँ नहीं जा सकता, तो वह किसी अन्य ‘पासपुन’ सदस्यों से बात कर सकता है और अपनी जगह किसी और से भी प्रबन्ध करा सकता है।

अधिकतर कृषि कार्य मिलजुल कर किया जाता है, या तो पूरे समुदाय द्वारा, या छोटे उप-समूह द्वारा जो ‘चुटसो’ कहलाते हैं। मिसाल के तौर पर, कटाई के समय कृषक फसल एकत्रित करने में एक दूसरे की सहायता करते हैं। यह व्यवस्था कारगर है क्योंकि खेतों की फसल अलग-अलग समय में पकती है, एक ही गाँव की भी। चूँकि सभी लोग मिलजुल कर काम करते हैं,

फसल पकने के साथ ही शीघ्रता से इकट्ठी की जा सकती है।

इस प्रकार मिलकर काम करने को ‘बेस’ कहते हैं। प्रायः इसमें एक से अधिक गाँव शामिल होते हैं और इसके कारण सदा खालिस आर्थिक नहीं होते। कुछ किसान कटाई को आगे बढ़ा सकते हैं, जब दो खेत एक साथ पक चुके हों तब भी, सिर्फ इसलिए कि वे मिलजुल कर काम कर सकें। आप शायद ही कभी लोगों को अकेले कटाई करते पाएँगे; इसकी जगह आपको पुरुषों, महिलाओं और बच्चों के समूह मिलेंगे, सब खेतों में हमेशा हँसते और गाते।

‘ररेस’ (“बकरे की बारी”) पशुओं की सामुदायिक गड़रियागिरी है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक घर से कोई न कोई प्रतिदिन पहाड़ों पर मवेशियों को चराने ले जाए; बजाय इसके एक या दो लोग कई घरों से सभी भेड़ों व बकरियों को चराने ले जाते हैं, ताकि सभी लोग दूसरा काम करने के लिये स्वतंत्र रहें।

निजी संपत्ति का भी मिलकर उपयोग किया जाता है। ‘फू’ पर पत्थर के छोटे मकान का स्वामित्व यद्यपि किसी एक घर का होने पर भी उसका उपयोग कई लोग करते हैं, प्रायः कुछ काम, या दूध अथवा चीज़ के बदले। इसी तरह जल-चक्की जिसका उपयोग अनाज पीसने हेतु किया जाता है, सभी के लिये उपलब्ध होती है। यदि आपके पास स्वयं की चक्की (मिल) नहीं है, तो आप किसी और की चक्की का उपयोग कर सकते हैं; और केवल पतझड़ में जब पानी की बहुत कमी होती है और हर कोई कोशिश करता है कि सर्दियों के लिये अधिकाधिक अनाज पीस कर रख लें, आप इसके बदले में मालिक को कुछ आटा दे सकते हैं।

कृषि कार्य के व्यस्ततम समय में, कृषि औजारों तथा भारवाहक पशुओं का मिलकर उपयोग किया जाता है। विशेषतः बुआई के समय — जब लंबे शीतकाल के बाद अंततः भूमि तैयार होती है और खेतों को तैयार करने हेतु कृषकों को अथक परिश्रम करना होता है — तब सभी परिवार अपने-अपने संसाधनों को मिलाकर इकट्ठा कर लेते हैं, ताकि हर काम जितना संभव हो यथाशीघ्र तेज़ी से पूरा हो जाए। इस रिवाज को भी ‘इहारसदे’ नाम देकर उसका औपचारिकरण कर दिया गया है। किंतु इस औपचारिक ढाँचे के अंदर भी, पर्याप्त नमनीयता संभव है।

एक मर्ताबा मैं बुआई के समय सकती ग्राम में थी। दो घरों ने मिलकर प्रबंध कर लिया था, जिसके तहत उन्होंने अपने पशु, हल और श्रम का पुल बुआई शुरू होने के पहले ही बना लिया था। उनका पड़ोसी सोनम त्सेरिंग जो कि समूह का सदस्य नहीं था, अपने खेतों में हल चला रहा था, तब उसका एक ‘दुजो’ बैठ गया और आगे काम करने से इनकार कर दिया। पहले मैंने सोचा कि वह अड़ियल है। किंतु त्सेरिंग ने बताया कि जानवर बीमार है और उसे डर है कि उसका रोग गंभीर है। हम खेत के कोने में बैठे सोच ही रहे थे कि क्या किया जाए; तभी पड़ोस का किसान बिना एक पल की हिचकिचाहट के आया और उसने स्वयं की तथा उसके



न्युमालिंग 'फू' जो कि समुद्र तल से 16000 फुट की ऊँचाई पर स्थित है, पर एक युवा चरवाहा लड़की। बच्चे छाँटी उम्र से ही जिम्मेदारियाँ लेना सीख जाते हैं।

‘इहागसदे’ समूह के अन्य लोगों की मदद की पेशकश की। उसी शाम, अपना काम पूरा होने के बाद, वे सब ‘दुजो’ के साथ त्सेरिंग के खेतों में आए। हमेशा की भाँति वे गाते हुए काम में जुट गए; और काफी अंधेरा हो जाने के बाद भी, जब मैं उन्हें देख नहीं सकती थी, तब भी मुझे उनके गानों की आवाज सुनाई देती रही थी।



अध्याय पाँच

लयबद्धता रहित नृत्य

“लद्दाखी महिला अपनी घर गृहस्थी की संपूर्ण स्वामिनी है और पुरुष उसके समक्ष अँगूठे के नीचे रहते हैं। उसके पास अपना खुद का धन होता है, वह अपना निजी व्यापार करती है; उसका शब्द काफी कुछ कानून जैसा होता है।”

मेजर एम.एल.ए. गोम्पर्ट्स, मैजिक लद्दाख 1928

डोल्मा ने जब आंगचुक से विवाह किया तब वह पचीस वर्ष की थी। आंगचुक उससे दो वर्ष छोटा था। वह शादी गाँव की थी, जो तोंगे से ऊपर की ओर बसा था, पहाड़ों के बीच में। दोनों गाँव का एक दूसरे से काफी संपर्क रहता है। बड़ी संख्या में विवाह तोंगे तथा शादी के युवक-युवतियों के बीच होते हैं और चूँकि तोंगे नीचे की ओर है, उसके पास अनाज अधिक है और शादी ऊपरी स्थल पर होने से, उसके पास पशु अधिक है। अतः ग्रामवासी परस्पर लेन देन भी करते हैं।

लद्दाख में अन्य विवाहों की भाँति डोल्मा की शादी भी बहुपतित्व वाली है। उसका विवाह आंगचुक के छोटे भाई आंगदुस के साथ भी हुआ है। किंतु तीसरा भाई ब्रह्मचारी रहा — क्योंकि वह तोंगे के मठ में भिक्षु है। मैंने कुछ ऐसे प्रकरणों के बारे में भी सुना है, जिसमें एक ही कन्या की शादी तीसरे भाई के साथ भी होती है, लेकिन ऐसा बहुत कम होता है।

चूँकि आंगचुक बड़ा भाई है, वह घर का बड़ा और वरिष्ठ पति है। वह “मालिक,” है लेकिन यह पदक्रम बहुत सख्त नहीं है और ज्यादातर स्थितियों में यह कहना मुश्किल रहता है कि वह ही “मालिक” है। डोल्मा अपने पतियों के साथ बहुत कुछ एक-सा व्यवहार करती है; दोनों को “आटचो” या “बड़ा भाई” कहकर संबोधित करती है और ऐसा नहीं लगता कि उसका झुकाव किसी एक के प्रति अधिक है।

जब मैं तोंगे में थी, मैं अक्सर उनके पास जाती थी और डोल्मा को अच्छे से जानने लगी। हम दोनों घंटों तक बैठ कर झंस्कार और पश्चिम में जीवन के अंतर पर चर्चा करती थी।

बहुपतिवाद का भावनात्मक पक्ष मुझे मोहित करता था। एक से अधिक पति होने पर कैसा लगता है? मैंने उससे पूछा कि क्या वह एक भाई से दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रेम करती है? आरंभ में उसे संकोच हुआ, क्योंकि पति व पत्नी के बीच के प्रेम की खुले आम अभिव्यक्ति वर्जित है। आपको दंपति एक-दूसरे का हाथ पकड़े भी शायद ही कभी दिखाई दे और चुंबन लेते तो कभी नहीं नज़र आएंगे।

“आंगदुस अधिक शालीन है, पर मेरा दोनों से लगाव है,” उसने लज्जापूर्वक बताया। उसने यदि ‘प्रेम’ शब्द का उपयोग नहीं किया तो वह इसलिए कि लद्दाखी में हमारे पाश्चात्य समाज के रूमानी, कामकुतापूर्ण एवं एकान्तिक जुड़ाव जैसा कोई शब्द नहीं है।

जब मैंने आंगदुस और आंगचुक से उनके डोल्मा के साथ रिश्ते के बारे में पूछा, तो उन्हें भी कुछ संकोच हुआ, खासतौर पर जब चर्चा संभोग को लेकर हुई। उन्होंने बताया कि वे बारी-बारी से डोल्मा के साथ सोते हैं। यद्यपि आंगचुक उसके साथ अधिक सो पाता है क्योंकि आंगदुस का काफी समय व्यापार के सिलसिले में यात्राओं में व्यतीत होता है। परंतु कभी-कभी — और यह बात उन्होंने इस कदर हँसते हुए बताई कि मैं समझ न सकी कि उस पर यकीन करूँ या नहीं — वे तीनों एक साथ सोते हैं, डोल्मा बीच में।

यद्यपि लद्दाखी अपने प्यार को सार्वजनिक रूप से प्रकट करने में झिझकते हैं, पर ऐसा नहीं है कि वे यौनाचार में निष्क्रिय होते हैं; न तो ऐसा लगता है कि वे अपनी यौनेच्छा का दमन करते हैं और न ही वे कामुकतापूर्ण हैं। परस्त्री गमन को निरुत्साहित किया जाता है; किंतु वे यह भी जानते हैं कि “ऐसी बातें तो होती ही रहेगी।” अवैध संतान की माताओं को जात बाहर नहीं किया जाता है, बल्कि अपने क्रोध पर काबू न पाना ज्यादा बुरा माना जाता है। लद्दाखी जिस शब्द से सर्वाधिक अपमानित महसूस करता है वह है ‘स्वोन-चान’, अर्थात् “शीघ्र कुपित होने वाला।” आंगचुक दावा, एक छात्र जिसने मेरी सहायता लोक कथाओं का अनुवाद करने में की थी, ने बताया कि किसी कुलटा के पति के लिये हंगामा खड़ा करना ठीक नहीं माना जाता। “देखिये, यदि वह क्रोध में बात का बतंगड़ बनाता है, तो ‘उसके’ ऐसे व्यवहार पर अधिक तीखी प्रतिक्रिया होगी — बजाय महिला के आचरण पर।”

बहुपति प्रथा सदियों से लद्दाख की जनसंख्या को अपेक्षाकृत स्थिर रखने में महत्वपूर्ण कारक रही है। और इस स्थिरता ने बदले में, मैं समझती हूँ, पर्यावरणीय संतुलन एवं सामाजिक सामंजस्य बनाए रखने में सहायता की है। पर्यावरण से संतुलन बनाए रखने में जनसंख्या नियंत्रण की अहम भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। सामाजिक सामंजस्य से संबंध कदाचित कुछ कम हैं। फिर भी, ऐसा लगता है कि सामाजिक टकराव कम हो जाएंगे, यदि पीढ़ी-दर-

पीढ़ी संसाधनों की निश्चित मात्रा जिस पर लोग आश्रित हैं, उतनी ही रहे। उन परिस्थितियों में जीवित रहने हेतु छीना-झपटी और लड़ना कम हो जाएगा।

लद्दाख में स्त्री-पुरुष लिंगानुपात लगभग बराबर है, अतः यदि पुरुषों की एक संख्या केवल एक पत्नी रखती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि कुछ स्त्रियाँ अविवाहित रह जाएगी। कम विवाहित स्त्रियों का मतलब है, कम बच्चे। जो महिलाएं विवाह नहीं करती, वे भिक्षुणी बन जाती हैं। और, वास्तव में भारी संख्या में पुरुष, सामान्यतः एक या एक से अधिक छोटे भाई भी भिक्षु बनकर अविवाहित रहते हैं। इस तरह बहुपति प्रथा तथा तिब्बती मठवाद साथ-साथ चलते आए हैं।

तकनीकी तौर पर 1942 के बाद से बहुपति प्रथा अवैध है। जब मैं यहाँ आई तब यह प्रथा उतनी आम नहीं रह गई थी जितनी पहले थी। उसमें कितनी कमी आई है, कहना कठिन है; यह भी स्पष्ट नहीं है कि अपनी चरम अवस्था में यह कितनी प्रचलित थी। किंतु यह रिवाज इतना आम तो था कि आबादी को कम रखने में इसका काफी प्रभाव था।

यह बड़ा ही रोचक है कि यद्यपि बहुपति प्रथा विवाह को तवज्जों दी जाती है, किंतु यही एक प्रथा नहीं है। एकपत्नी प्रथा और बहुपत्नी प्रथा भी है। यह अजीब स्थिति कदाचित सीमित संसाधनों के प्रति सावधानीपूर्वक अनुकूलन को प्रतिबिंबित करती है। सामाजिक संबंधों को इतना नमनीय रखने से, भूमि से रिश्ते अनुकूलतम रहते हैं। दूसरे शब्दों में, एक से दूसरी पीढ़ी तक, प्रत्येक परिवार को छूट रहती है कि वह शादी के उपयुक्त विकल्प को, भूमि की उपलब्धता, बच्चों की संख्या, संभाव्य भागीदारों आदि को ध्यान में रख कर चुने।

एक से अधिक विवाह प्रायः व्यक्ति तब करता है जब स्त्री संतान नहीं दे पाती। उस स्थिति में दूसरी पत्नी, जो प्रायः पहली पत्नी की बहन होती है, से विवाह होता है। किंतु अन्य कारण भी हो सकते हैं। देसकित और आंग्मों के मामले में, जिनसे मेरा परिचय झंस्कार में हुआ, स्थिति एकदम अलग थी। इन दोनों में कोई रिश्तेदारी नहीं थी। बल्कि देसकित के कई बच्चे, उसके पति नामग्याल से थे। आंग्मो बाद में प्रकट हुई। नामग्याल का आंग्मो के साथ प्रेम संबंध हो गया था। जब वह गर्भवती हुई, तो उसने देसकित से कहा कि वह आंग्मों और उसके बच्चे को घर में लाना चाहता है और उसके साथ द्वितीय पत्नी जैसा व्यवहार करना चाहता है।

मैंने देसकित से पूछा उसे कैसा लगा। क्या उसे यह विचार पसंद आया कि आंग्मों को घर में रखे। “नहीं,” उसने बताया, “शुरू में मुझे यह विचार अच्छा नहीं लगा। मैं परेशान हो गई। परंतु नामग्याल और आंग्मो इतने उत्सुक थे कि हम सब साथ रहें, तो मैंने सोचा, “ची चोएन? (क्या फर्क पड़ता है?), क्यों न मिल कर सुख से रहें।” और गत बारह सालों से वे शांतिपूर्वक

रह रहे हैं। आंग्मों के अनुसार, देसकित उसके प्रति आरंभ से ही मित्रवत रही। “हममें कभी विवाद नहीं हुआ,” उसने मुझसे कहा। “कभी-कभी हम लोग नामग्याल से कुछ नाराज हो जाती हैं — कभी-कभी वह आलसी हो जाता है और हमें उसे काम करने के लिये धकियाना पड़ता है, परंतु हम दोनों में बारह वर्षों के दौरान कभी झगड़ा नहीं हुआ।”

पारंपरिक लद्दाखी समाज में औरतों की स्थिति बहुत मजबूत होती है, इसलिए देसकित द्वारा आंग्मों को स्वीकार कर लिये जाने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी स्थिति कमजोर हुई है। दरअसल, पड़ोस के घर में जहाँ बहुपति प्रथा थी, हालात बिल्कुल उलट थे। वहाँ नोर्बू और उसके छोटे भाई त्सेवांग की एक पत्नी थी, पाल्मो। त्सेवांग की लेह में दूकान थी और उसका अधिक समय तोंगदे से दूर व्यतीत होता था। परंतु जब वह घर आता था, नोर्बू प्रायः उसके आने पर दावत देता था और पाल्मो तथा त्सेवांग साथ सोते थे।

विवाह की पद्धति जो भी हो, भूस्वामित्व पर आँच नहीं आती थी। भूमि की विरासत का निर्देशक सिद्धांत यह है कि वह विभक्त नहीं होती — छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटती नहीं जाती। जो भी हो जाए, बच्चों का विन्यास जैसा भी हो, भूमि किसी एक व्यक्ति को ही मिलती है। यदि कोई बच्चे न हों तो भी यह नियम कायम रहता है: किसी को उत्तराधिकारी के रूप में गोद ले लिया जाता है।

आम तौर पर ज्येष्ठ पुत्र को परिवार की ज़मीन-ज़ायदाद विरासत में मिलती है। चूंकि भूमि को न तो बेचा जाता है और न खरीदा जाता है और न ही भूमि का निजी स्वामित्व पश्चिम की भाँति होता, वह भूस्वामी नहीं हो जाता अपितु एक प्रकार का अभिभावक होता है। यदि घर में लड़के न हों या अन्य परिस्थितियों की ऐसी मांग हो, तो ज्येष्ठ पुत्री को विरासत में सब कुछ प्राप्त होता है और वह ‘मांग्पा’ (अपने पति) को ले आती है, जिसके स्वयं के कोई अधिकार अस्तियों पर नहीं होते।

आंगचुक की स्थिति एकदम विचित्र है। संपत्ति कानूनन उसकी है; उसने उसे विरासत में अपने विवाह के समय प्राप्त किया था। उसके माता-पिता रिवाज़ के अनुसार, मुख्य निवास छोड़कर छोटी झोपड़ी या ‘खांगू’ में चले गए जो घर से सटी हुई थी। उस तरह कम उम्र में ही आंगचुक मुखिया बन गया — और परिवार का — राजनैतिक प्रतिनिधि। उसकी दादी और एक चाचा मुख्य घर में ही रहे। माता-पिता ‘खांगू’ में उसके दादा और दो बहनों के साथ रहते थे, जो दोनों भिक्षुणी थीं। ‘खांगू’ से लगे पृथक खेत हैं, जिन पर वे मुख्यतः अपने लिये काम करते हैं और अपनी रसोई में भोजन बनाते हैं। हालांकि आपस में निरंतर सहयोग है और परिवार काफ़ी समय एक साथ बिताता है, पर दोनों घर बड़ी मात्रा में एक दूसरे से स्वतंत्रता बनाए हुए हैं।

प्रायः सभी विवाह शीतऋतु में ही होते हैं, जब उत्सव के लिये अधिक समय होता है। अभिभावक, मित्र, संबंधी सभी की योग्य जीवन साथी तलाशने में भूमिका होती है। जिस जोड़ी की वे अनुशंसा करते हैं, उसकी ‘आन्यो’ (ज्योतिषी) समीक्षा करता है और तय करता है कि जोड़ी ज्योतिष के अनुसार मिलती है कि नहीं। यदि वह अनुमोदन करता है, तो वर का परिवार मेल-मुलाकात की लंबी रस्में शुरू करता है। अन्य पक्ष को ‘चांग’ के पात्र व उपहार भेजे जाते हैं, जो कोई मित्र या रिश्तेदार — अधिकतर नाना लेकर जाता है। यदि उपहार स्वीकार कर लिये जाते हैं, तो तमाम संबंधियों को संबंधित घरों में आमंत्रित किया जाता है। शादी की तमाम व्यवस्थाओं को तय करने हेतु मित्र, परिवार के सदस्य और ‘पासपुन’ आपसे में काम बाँट लेते हैं। अंत में ‘ओन्यो’ विवाह की तिथि तय करता है।

विवाह के एक दिन पूर्व, लोगों का समूह वर के घर पर एकत्रित होता है, जिन्हें वधू को उसके घर से लाना है। उनके लिये अच्छा गायक व नर्तक होना आवश्यक है। शादी के दिन वे रेशम के लंबे कोट और ऊँची-नुकीली टोपी पहनते हैं। उस शाम को वे वधू के घर तीर ‘दादर’, भेड़ और बकरे की एड़ी की हड्डी का छोटा टुकड़ा लेकर आते हैं। तीर घर के देवता का प्रतीक होता है जहाँ वधू को रहना होगा और छोटी हड्डी, या ‘यांगमोल’ समृद्धि की द्योतक होती है। अब घर अतिथियों से भर जाता है, जो ‘चांग’ और चाय पीते हैं। वधू को लगभग बलपूर्वक निकाला जाता है, उन लोगों के द्वारा जो उसके घर के बाहर चिल्लाते रहते हैं। अंततः वह आती है, रस्म के अनुसार आँसू बहाती हुई।

सबसे असाधारण विवाह जो मैंने देखा वह मांग्यू में हुआ था, एक गाँव जो कि लेह से एक दिन की यात्रा की दूरी पर घाटी के अंदर है। तीन सौ से अधिक मेहमानों ने तीन दिन व तीन रातों तक जम कर मौज-मस्ती की। फिर चौथे दिन वे वर त्सेरिंग वांग्याल के ‘आमची’ बनने की कठिन परीक्षा को देखने के लिये इकट्ठे हुए। ‘आमची’ की कला लगभग सदैव पिता से पुत्र के पास आती है और कोई औपचारिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु वांग्याल के पिता जिनका तीन वर्ष पूर्व देहांत हो गया था, ‘आमची’ नहीं थे। “आप बहुत खुश किस्मत हैं,” ताशी राबग्यास ने मुझसे कहा, “ऐसे समारोह कभी-कभार ही होते हैं। इस शताब्दी में शायद आठ या दस होंगे।”

वधू घबराई हुई सी आई। अपने जीवन में पहली बार उसके सिर को फीरोज़ा जड़ित ‘पेराक’ से सजाया गया था, जो कि उसके कंधों के नीचे तक लटक रहा था। रिवाज़ के अनुसार, माँ अपना पेराक अपनी ज्येष्ठ पुत्री को उसका विवाह होने पर दे देती है। परिवार का यह खजाना पत्नी के पास रहता है। यह इस बात का संकेत है कि परंपरावादी लद्दाखी समाज में स्त्रियों की स्थिति कितनी मजबूत है।



शादी की पार्टी। समारोह कई-कई दिनों तक बल्कि सप्ताहों तक चलते हैं।

‘नटिटया’ (श्रेष्ठ व्यक्ति) और उसके साथी वधू के साथ कोई चार सौ गज तक, चार बार रुकते हुए चले, रस्मी अभिवादन करते तथा ‘चांग’ से भरे पात्र के चारों ओर सौम्यता पूर्वक नाचते हुए। वांग्याल के भाई दोरजी ने सिक्के व नोट हवा में उछाले और बच्चों में उन्हें लूटने की होड़ मच गई। घर के पास एक भिक्षु ने बुरी आत्माओं को दूर करने के लिये मिट्टी का घड़ा फोड़ा। जितने छोटे टुकड़े होंगे, विवाह उतना ही समृद्ध होगा।

अधिकांश समारोह बाहर कट चुके खेत पर हुआ जिस पर पाले की चादर सी जम गई थी। उत्सव तीन बजे, सूर्यास्त के कुछ ही घंटे बाद आरंभ हुआ और शाम के नौ बजे तक चलता रहा, जब तक कि सूर्य दक्षिण में पर्वतों के पीछे अस्त नहीं हो गया। हम दो समानांतर कतारों में पीछे गलीचों पर बैठे थे; और हमारे समक्ष बाहर विशाल ‘चांग’ भरे पात्र रखे थे। लद्दाखी आतिथ्य सत्कार में हमें अपने कप के पुनः भरे जाने के लिये प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। फिर भी, ठंड इतनी अधिक थी कि जब तक कोई ‘चांग’ लेकर आता, उस पर बर्फ की एक परत जम चुकी होती थी।

अपनी बारी आने पर मैंने वर-वधू और परिवार को ‘कटक’ के उपहार दिये, सफेद दुपट्टे जो लोगों को शुभकामनाएँ देने की पारंपरिक रीति है। जब प्राप्तकर्ता के गले में दुपट्टों का ढेर बहुत बड़ा हो जाता, करीब-करीब सौ दुपट्टे, तब पीछे खड़ा एक सहायक आधे निकाल लेता

था। श्रेष्ठ व्यक्ति ने एक मेहमान के गले में ‘कटक’ डाल कर नृत्य आरंभ किया और धीरे-धीरे लगभग सभी लोग मंद गति, शाही लद्दाखी नर्तन में शामिल हो गए, जो सदैव घेरे में किया जाता है और एक स्थिति ऐसी आती है कि लोग सम्मोहित होकर नाचने लगते हैं।

रात्रि में मौज-मस्ती पूरे शबाब पर पहुँच गई। नर्तकों का एक जूलुस संकरे रास्ते से धीरे-धीरे लड़खड़ाते हुए बढ़ा जो उन्हीं के लिये बनाया गया था। नेता ने घोषणा की कि “मैंने बहुत पी ली है!” एक बजे ताशी चुपचाप खिसक कर अपने कमरे में सोने के लिये चला गया। डेढ़ घंटे बाद ‘चांग’ पियक्कड़ उसके सपनों में खलल डालते हुए, शोर मचाते हुए, “अरे ताशी! उठ जा! ज्ञानियों को भी नाचना और गाना चाहिये। सौभाग्य से हम सब के लिये ‘चांग’ में यह विशेषता है कि ‘हेंग ओवर’ नहीं होता।

वांग्याल के परिवार ने जितनी गरिमा और सरलता से तीन सौ मेहमानों की आवश्यकताओं की पूर्ति की, उसे देख कर मैं दंग रह गई। प्रातः उन्होंने हर एक को गर्म पानी, साबुन और तौलिया दिया (उनके घर के पास बहता पानी तो था ही नहीं); गर्म जल प्रत्येक बार भोजन के पहले भी दिया जाता था। परिवार व ‘प्रासपुन’ के सदस्य, बारी-बारी से चौबीसो घंटे काम करते रहे। नाश्ता साधारण था: ‘खम्बीर’ (पाव रोटी) और मक्खनी चाय। चौथे दिन की समाप्ति तक मक्खन और ‘खम्बीर’ के पहाड़, जिन्हें मैंने चुपके से रसोईघर में देखा था, सिकुड़ कर लगभग समाप्त हो चुके थे। दोपहर और शाम का खाना जोरदार था: विराट बर्तनों में पकाया हुआ चावल, सब्जियाँ और मांस। ऐसा नहीं लगता था कि कोई इस विस्तृत और सावधानी पूर्वक आयोजित जुगलबंदी को संचालित कर रहा हो, लेकिन एक मोमबत्ती भी पूरी जल जाए, तो कोई न कोई नई लगाने के लिये तैयार रहता था।

वांग्याल सभी समारोहों के दौरान शांत रहा, जो कि हमारे यहाँ की शादियों की तुलना में कम कठोर और औपचारिक थे। मैंने एक भी पल के लिये ऐसा नहीं देखा कि वह और वधू सच के पति-पत्नी हो गए हैं। शायद ऐसा तब हुआ जब वे गलीचे पर अगल-बगल में बैठे, जिस पर दो स्वास्तिक, सौभाग्य का प्राचीन प्रतीक चिह्न, जो से बनाया गया था और दोनों ने एक ही थाली में भोजन किया।

वांग्याल चौथे दिन भी शांत था, जब आठ ‘आमचियों’ के विशेषज्ञ दल ने उसकी परीक्षा ली। पहले, उसने अपनी याददाश्त से करीब चालीस मिनटों तक ‘आमची’ ग्रंथों का पाठ करके बताया। तत्पश्चात, काले और सफेद छोटे पत्थरों से उसने गलीचे पर जीवन वृक्ष की आकृति बनाई। उसमें शरीर के अंग दर्शाए गए और जोड़ने वाली रेखाओं से यह भी बताया कि उनके कारण कौन से रोग होते हैं। उसके बाद, विशेषज्ञों ने भीड़ में से एक लड़के को बुलाकर उसकी नाड़ी दिखवाई। वांग्याल ने नाड़ी की जाँच की, प्रत्येक की – प्रत्येक कलाई में छः भिन्न

धड़कने और लड़के की शारीरिक स्थिति पर अपना अभिमत दिया, जिसकी 'आमचियों' ने पुष्टि की। अंत में उन्होंने उससे प्रश्न किये और जब उसने सभी का सही उत्तर दिया, तो उसे 'आमची' के रूप में मान्यता दी गई।

ज्यादातर जन्म ग्रीष्मकाल के गर्म महीनों में होते हैं। शिशु जन्म के दिन से लेकर पूरे एक सप्ताह तक उसका पिता खेतों में काम करने से बचता है, ताकि वह भूल से भी छोटे-से-छोटे कीड़े को न मार दे, जिसके कारण 'इहू' को कोई कष्ट हो। माता व शिशु एक अलग कक्ष में, बाहरी दुनिया से सुरक्षित आराम से रहते हैं। परिवार के लोग उनकी आदत एकदम ताज़ा एवं पौष्टिक दूध और सर्वश्रेष्ठ याक का मक्खन लाकर बिगाड़ते हैं। वे सौभाग्य का एक तीर छत पर लटका देते हैं।

जब तक कि 'ओन्यो' का अनुमोदन न मिले, सातवे दिन मित्रों और पड़ोसियों को नवजात शिशु को पहली बार देखने हेतु बुलाया जाता है। वे आटा और मक्खन से लबालब भरी तश्तरियाँ तथा कुछ आकृतियाँ, गुंथे हुए आटे से इबेक्स की मूर्ति बनाकर लाते हैं जो ईश्वर का अश्व है।

प्रार्थना कक्ष में भिक्षु अगर जलाते हैं। पूरे घर में गीतों की प्रतिध्वनि सी गूँजती है और साथ ही धार्मिक संगीत का कर्कश स्वर भी। बच्चे एक दूसरे के पीछे दौड़ते और खेलते हैं, जबकि उनके अभिभावक गप्पे मारते हैं और समारोह के ढोल की भारी थाप के साथ हँसी-उट्टा चलता रहता है।

जन्म के एक माह बाद होने वाले समारोह में पूरा गाँव सम्मिलित होता है। एक बच्चा समुदाय में जन्म लेता है। लोहार चम्मच और कड़े का उपहार लेकर आता है। संगीतकार 'इहारंगा' बजाते हैं। 'कटक' और विशेष व्यंजन माँ व शिशु के लिये लाए जाते हैं।

'ओन्यो' यह भी तय करता कि किस दिन बच्चे को पहली बार घर से बाहर लाया जाए। कोई भी बात संयोग के लिये नहीं छोड़ी जाती। सभी शगुन अनुकूल तथा सभी तत्त्वों का ठीक से मिलान होना चाहिये।

माता-पिता थोड़ा सा मक्खन शिशु के सिर पर सौभाग्य के लिये लगाते हैं और काजल और तेल का टीका 'जुर', उसके मस्तक पर आत्माओं को दूर रखने हेतु लगाते हैं। उसे हाथ का बुना लंबा लबादा तथा ऊनी टोपी पहनाई जाती है जिस पर चाँदी का 'ओम' लिखा होता है।

दो या तीन माह बाद, शिशु को आशीर्वाद के लिए मठ में ले जाया जाता है और उसे रक्षा हेतु छपी हुई प्रार्थना दी जाती है। इसी अवसर पर 'रिनपोचे' या बड़ा लामा उसके नाम का विचार करता है। नाम बौद्ध अवधारणाओं से रखे जाते हैं; उदाहरणार्थ, "आंगचुक" और

"वांग्याल" का अर्थ "शक्तिमान" और "विजयी" होता है, अपने अहं को जीतने वाला। यही पूरा नाम होता है। लदाख में आपकी पहचान आपके घर और भू स्वामित्व से होती है, जो स्पष्ट संकेत है कि ज़मीन से कितना गहरा और स्थायी जुड़ाव लदाखियों का है।

डोल्मा के बच्चे, आंगचुक और आंगुदस दोनों को 'अब्बा', या 'पिता' कहते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति जो आपके पिता जितनी आयु का हो, उसे इस प्रकार संबोधित किया जा सकता है। डोल्मा कहती है कि वह जानती है कि प्रत्येक बच्चे का पिता कौन है। उसके अनुसार सबसे बड़ा बच्चा आंगचुक का है और सबसे छोटा आंगुदस का। "तुम कैसे जानती हो?" "मैं जानती हूँ बस।" न तो आंगुदस और न आंगचुक को इससे कोई अंतर पड़ता है कि कौन सा बच्चा उसका अपना है: बच्चों की एक-सी देखभाल की जाती है।

डोल्मा के परिवार के साथ समय व्यतीत करते हुए मैंने देखा कि बच्चों की परवरिश कैसे की जाती है। उनका अन्धों के साथ निरंतर शारीरिक संपर्क बना रहता है, एक घटक जो उनके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। डोल्मा छोटे आंगचुक के साथ अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक समय बिताती थी, जो छः माह का था। सारी रात वह उसकी बाहों में सोता था, ताकि जब आवश्यकता हो, वह उसे दूध पिला सके। दिन के समय वह प्रायः उसे अपने साथ ले जाती थी, यदि उसे खेतों में काम करना हो। किंतु बच्चे की देखभाल करना सिर्फ उसी की जिम्मेदारी नहीं थी। हर कोई हाथ बँटाता था। कोई न कोई उसे चूमने या दुलराने के लिये हमेशा मौजूद रहता था। पुरुष व महिलाएँ दोनों बच्चों से बराबर प्यार करते हैं और किशोरवय के पड़ोस के लड़को को भी इसमें कोई शर्म नहीं आती थी कि वे छोटे आंगचुक के ऊपर कु कु करते या उसे लोरी गाते हुए सुलाए :

आलो - लो - लो . . .

आलो - लो - लो . . .

कृपया हमारे नन्हे को सुख की नींद दें!

आलो - लो - लो . . .

पारंपरिक जीवन पद्धति माँ एवं बच्चों को सदैव साथ रहने की इजाज़त देती है। जब ग्रामवासी किसी महत्वपूर्ण मसले पर चर्चा करने के लिये एकत्रित होते हैं, तब हर आयु के बच्चे भी उपस्थित रहते हैं। सामाजिक सम्मेलनों में भी, जो देर रात तक पीते, पिलाते, गाते, नाचते, तेज़ संगीत के साथ चलते हैं, छोटे बच्चों को दौड़ते-भागते देखा जा सकता है, वे उत्सव में शामिल रहते हैं, जब तक थक कर नींद के आगोश में न आ जाएँ। कोई उनसे नहीं कहता कि, "साढ़े आठ बज गए हैं, अब जाकर सो जाओ।"

मैंने डोलमा को बताया कि पश्चिम में बच्चे कितना समय अपनी माताओं से अलग रहते हैं और रात्रि में वे अलग कमरे में सो सकते हैं उन्हें गाय का दूध प्लास्टिक की बोतलों में निश्चित समय पर दिया जाता है, न कि तब जब वे रोएँ। वह स्तब्ध रह गई: “अरे नहीं, ‘आत्चे’ हेलेना, जब तुम्हारे बच्चे हों, तब तुम जो भी करना, उसके साथ ऐसा व्यवहार मत करना। अगर तुम्हें सुखी बच्चा चाहिये, तो वैसा ही करना जैसा हम करती हैं।”

हर कोई बच्चों के साथ शांत रहता है, तब भी जब वे बहुत परेशान करते हैं। एक दफा मैं येशे के साथ काम कर रही थी, जो पारंपरिक चिकित्सक है। वे अपनी एक पुरानी चिकित्सा पुस्तक से शिशु जन्म के मूल पाठ का अनुवाद कर रहे थे और साथ ही अपने पड़ोसी के नार्ती का ध्यान भी रख रहे थे। लड़का पन्नों को पकड़ता था, कभी-कभी फाड़ भी देता था और लगातार पूछता था, “ची इनोक? ची इनोक?” (“यह क्या है? यह क्या है?”) वह रुका ही नहीं; लगातार वही प्रश्न पूछता रहा। हम जो करना चाहते थे, उस पर ध्यान केंद्रित करना असंभव हो गया था, पर येशे ने अपना धीरज नहीं खोया। जब भी बच्चा किताब को पकड़ता, वे कोमलता से उसका हाथ हटाते और जवाब देते, “यह पुस्तक है ... यह पुस्तक है ... यह पुस्तक है।” उन्होंने सौ बार ऐसा कहा होगा, उतनी ही शांति से और मेरे विपरीत, उन्हें ध्यान केंद्रित करने में कोई परेशानी नहीं हुई!

एक बार डोलमा ने अपने तीन वर्षीय पुत्र को चाँटा मारा, जब वह गर्म चाय के बर्तन को पकड़ने की कोशिश कर रहा था और उसी क्षण, यंत्रवत फूटती से उसने उसे कस कर लाड़ किया। मुझे लगा कि ऐसा अस्पष्ट संदेश क्या बच्चे को भ्रमित नहीं करेगा। परंतु ऐसे कई वाक्ये देखने के बाद, मेरी समझ में आ गया कि संदेश था, “मैं तुझे चाहती हूँ, पर ऐसा करना गलत है।” डोलमा, बच्चा जो कर रहा था उसके प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त कर रही थी, बच्चे के प्रति नहीं।

बच्चों को सभी से अथाह और बिना किसी शर्त के प्यार मिलता है। पश्चिम में हम कहेंगे कि उन्हें बिगाड़ा जा रहा है। किंतु सच्चाई यह है कि बहुत जल्द, जब वे लगभग पाँच वर्ष के हो जाते हैं, तब लड़ाखी बच्चे किसी और से जिम्मेदारी लेना सीख जाते हैं, नवजात बच्चों को अपनी पीठ पर लादना, जब वे पर्याप्त मजबूत हो जाएँ। बच्चों को बराबर आयु के वर्गों में नहीं बाँटा जाता है; वे सभी लोगों के बीच, सभी आयु वालों, शिशु से दादा-नाना तक, बड़े होते हैं। वे रिश्तों की शृंखला की एक कड़ी के रूप में बढ़ते हैं — लेने और देने की शृंखला।

स्वतः प्रेरणा से, छोटा बच्चा बिस्कुट के छोटे-छोटे टुकड़े करके अपने छोटे भाई-बहनों या दोस्तों में बाँटता है। यह प्राकृतिक और स्वतः स्फूर्त व्यवहार है, जानबूझ कर दर्शाई गई उदारता नहीं है। गत अनेक वर्षों में सैकड़ों बार, नन्ही-नन्ही चिपकती उंगलियों ने मेरे हाथों में



तोंगे की दंसकित अपने छोटे शिशु को स्नान कराती हुई। उसे पोंछने के बाद वह उसके पूरे शरीर पर पिघला मक्खन लगाती है, शुष्कता और सर्दी से बचाव के लिये।

खूबानी, मटर और रोटी के टुकड़े रखे हैं। स्कांगसोल उत्सव के सिलसिले में हुई पार्टी में, मैंने दो दस वर्षीय लड़कों को देखा, जब उन्हें विशेष व्यंजनों की एक प्लेट दी गई, जिसमें चावल के साथ सब्जियों और गोश्त का एक टुकड़ा था और जिसे उन्हें मिल कर खाना था। वे उत्सुक होकर बैठ गए, उनकी फुर्तीली उंगलियाँ चलने लगी और चावल शीघ्र उदरस्थ हो गये। मेरी जिज्ञासा बढ़ी जब मैंने दोनों को मुँह पोछते देखा और गोश्त का टुकड़ा खाली प्लेट पर वैसा ही पड़ा रहा। दोनों ने उसे लेने से इनकार किया। लदाखियों की विशेष शिष्टाचार की रीति से दोनों ने एक दूसरे से उसे खाने का आग्रह किया, यहाँ तक कि बनावटी अरुचि दर्शाते हुए, तश्तरी को अलग करते हुए।

स्वयं के बड़े होने के दौरान अन्य बच्चों की जिम्मेदारी लेने का आपके विकास पर खासा प्रभाव पड़ता है। विशेष तौर पर लड़कों के लिये यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे उनमें ध्यान रखने और पालन-पोषण करने की योग्यता आती है। पारंपरिक लदाख में, ऐसे कार्य करने से पुरुषत्व के गुण प्रभावित नहीं होते; बल्कि, वे उन्हें अपनाते हैं।

पश्चिम की तरह भूमिकाएँ प्रायः उतनी स्पष्टता से परिभाषित नहीं की गई हैं; अधिकतर लोग विशेषज्ञ नहीं हैं, अपितु उन्होंने अपनी ज़रूरतें पूरी करने लायक अनेक कार्यों को करने में कुशलता अर्जित की है। कुछ कार्यों को छोड़ कर जो स्पष्टतः पुरुषों या महिलाओं द्वारा किये जाते हैं — जैसे खेतों में हल चलाना, जो केवल पुरुष करते हैं, ज्यादातर काम परिवार या गाँव के अंदर आराम से, स्वाभाविक रूप से पुरुष या महिलाओं द्वारा किये जाते हैं — समस्त कार्य बिना किसी विधिवत संरचना के संपन्न किये जाते हैं।

तोंगदे में रहते हुए मैंने यह जानने का यत्न किया कि विविध कार्यों के बीच समन्वय कैसे होता है। कार्य बिना किसी संवाद की ज़रूरत के होते हैं और उनको करने का कोई निश्चित तरीका नहीं होता। आंगचुक और डोल्मा की रसोई में बैठना एक तरह से लयबद्धता रहित नृत्य को देखने जैसा था। कोई नहीं कहता था, “तुम यह करो,” “क्या मैं ये करूँ?” फिर भी सुगमता से, गरिमा के साथ ज़रूरी काम होता चलता था। एक पल दावा चाचा बच्चे को दुलराते थे, तो अगले पल चूल्हे पर चढ़े पात्र को हिलाते थे, फिर भोजनागार से आटा लाते थे। उन्होंने नन्हे आंगचुक को डोल्मा को दे दिया, जिसने उसे गोद में रखा और सब्जी काटती रही। आंगचुक ने चूल्हा जलता रहे इसलिए धौंकनी को फूँका और पात्र दावा चाचा के सामने आटे के लिये रख दिया। अबी-ले या दादी ने चूल्हा संभाल लिया जब आंगदुस आटे को रोटी बनाने हेतु सानने लगा। डोल्मा बाहर झरने का पानी लेने गई, जो घर के निकट था। फिर दावा चाचा चूल्हे के पास बैठ गए। उन्होंने प्रार्थना का काँसे का चमकता चक्र घुमाया और धीरे-धीरे मंत्र बुदबुदाते

रहे, जैसे कि वह आसपास हो रहे कार्यों का भाग हो।

वृद्धजन जीवन के सभी कार्यों में भाग लेते हैं। लदाख में बुजुर्गों के लिये, ऐसे वर्ष नहीं होते जब उन्हें शून्य में निहारते, अवांछित व एकाकी रहना पड़े; वे मृत्यु के दिन तक समुदाय के महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं। वृद्धावस्था का मतलब बहुमूल्य अनुभव व बुद्धि होता है। पितामह लोग उतने मजबूत नहीं होते, पर उनमें योगदान हेतु अन्य गुण होते हैं; जीवन में कहीं जल्दबाजी नहीं है, इसलिए यदि वे धीरे काम करते हैं, तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। वे परिवार एवं समुदाय के अंग बने रहते हैं, इतने सक्रिय कि अस्सी पार होने के बाद भी वे प्रायः चुस्त और स्वस्थ होते हैं और उनका मन साफ रहता है।

वृद्ध लोगों का इतना सक्रिय रहने और हर काम में सम्मिलित होने का एक कारण उनका बच्चों से सतत संपर्क है। दादा-दादी व बच्चों के बीच का रिश्ता, माता-पिता व बच्चे के बीच के संबंध से अलग होता है। वृद्धतम और सबसे छोटों के बीच विशेष युति होती है; अक्सर वे श्रेष्ठतम मित्र होते हैं।

डोल्मा के परिवार में बच्चे दौड़ कर दादी के पास सांत्वना हेतु जाते हैं, जब भी उन्हें डाँट या मार पड़ती है। वह उन्हें झुलाती, उनके साथ खेलने लगती, जब तक कि वे डाँट या प्रताड़ना को भूल न जाएँ। यह अबी-ले थी जो उनके लिये विशेष रियायतों की माँग करती थी, और इबेक्स की छोटी आकृतियाँ पनीर से उनके लिये बनाती थी, उन्हें जोड़ कर गले का हार बनाती, ताकि वे उसे कुतर-कुतर कर खाएँ।

अभी जब मैं यह सब लिख रही हूँ, एक और दृश्य मेरे समक्ष मंचित हो रहा है। खिड़की के बाहर, दो जामुनी रंग की आकृतियाँ धीरे-धीरे मेरी ओर जाँ के खेतों के बीच से आ रही हैं। रास्ता पथरीला, खड़ी चढ़ाई वाला है और वे जब कुछ नजदीक आए, तो मैंने देखा कि एक बाल भिक्षु, बड़े भिक्षु की मदद कर रहा है। वृद्ध व्यक्ति की कमर झुक गई है, वह कदाचित अस्सी वर्ष का होगा, तथा हर पत्थर और मोड़ पर कदम रखने में झिझकता था। छोटी आकृति आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ होती हुई देख रही थी कि सबसे अच्छी स्थिति कहाँ है, जहाँ से मदद के लिए हाथ बढ़ाया जा सके।

जिन चीजों ने मुझे पहली दफ़ा लदाख आने पर आकर्षित किया वह थी महिलाओं की निष्ठल मुस्कराहट, जो मुक्त रूप से हँसी-मज़ाक करती और बिना किसी झिझक के पुरुषों से बातें करती थी। यद्यपि नवयुवतियों को थोड़ी शर्म आ सकती है, किंतु औरतें अपने आचरण में गजब का आत्मविश्वास, चरित्र-बल तथा गरिमा प्रदर्शित करती हैं। लदाख आने वाले पहले के लगभग सभी यात्रियों ने स्त्रियों की असाधारण रूप से मजबूत स्थिति का वर्णन किया है।

जो मानव-विज्ञानी यहाँ की अनौपचारिक, बाहरी बनावट को पश्चिम के दृष्टिकोण से देखते हैं, उन्हें गलतफ़हमी हो सकती है, क्योंकि सार्वजनिक पदों पर पुरुष होते हैं और वे सामाजिक कार्यक्रमों में स्त्रियों से अलग बैठते हैं। परंतु अपने अनेक औद्योगिक समाजों के अनुभवों से, मैं कह सकती हूँ कि लद्दाख में महिलाओं की स्थिति, किसी भी अन्य संस्कृति से, जिन्हें मैं जानती हूँ, बेहतर है। एक बार जब मैंने इस समाज को अंदर से समझ लिया, तो मुझे पता चला कि भूमिकाओं में अंतर का अर्थ असमानता नहीं है। मैंने एक गतिशील संतुलन देखा है; यह कहना कठिन था कि किसके पास अधिक बल है, स्त्री या पुरुष। जब डॉल्मा एक पार्टी में अपनी सहेलियों के साथ बातें करते हुए बैठी, तो लैंगिक भेदभाव का प्रश्न ही नहीं था। और यद्यपि लिंग भेद से लद्दाख में इनकार नहीं किया जाता, फिर भी उन्हें पश्चिम के जितना बल नहीं दिया जाता है। मिसाल के लिये, स्त्रियों और पुरुषों के नाम प्रायः एक जैसे होते हैं और दोनों के लिये एक ही सर्वमान 'खो' है।

“मैं विवाह करना और बच्चे पैदा करना नहीं चाहती। इसके बजाय मैं भिक्षुणी बनूंगी,” एक लद्दाखी मित्र ने एक बार मुझसे कहा। कुछ मामलों में बच्चों की माएँ परिवार छोड़ कर भिक्षुणी बन जाती हैं; और ऐसी भिक्षुणियाँ भी हैं, जो विवाह कर लेती हैं, या जिनकी 'अवैध' औलादें होती हैं। भिक्षुणी की भूमिका आश्चर्यजनक रूप से असाधारण नहीं बल्कि नमनीय होती है। ज्यादातर भिक्षुणियाँ घर में रहती हैं। देखने में उन्हें छोटे बालों से पहचाना जा सकता है, और वे अपना अधिकांश समय परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा प्रार्थना करने में बिताती हैं। वे निकटता से जुड़े हुए परिवार व समुदाय की अभिन्नता से लाभान्वित होती हैं। वे यदि ब्रह्मचारी भी रहें तो बच्चों के पालन-पोषण में भागीदारी करती हैं, अतः बच्चों से उनका गहरा जुड़ाव रहता है।

इसमें संदेह नहीं कि औपचारिक पदानुक्रम में भिक्षुओं की स्थिति ऊँची है, फिर भी पुरुष व महिला के बीच का संतुलन बौद्ध शिक्षा में एक अहम् किरदार निभाता है। एक भिक्षु ने समझाया, “जिस प्रकार पक्षी के दो पंखों में उड़ने के लिये संतुलन होना चाहिये, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं हो सकता है, यदि विवेक का दया के साथ समझौता न हो।” महिला ज्ञान की प्रतीक है, तो पुरुष दया का! दोनों मिलकर धर्म का सारतत्व बनाते हैं।

लद्दाख की महिलाओं की स्थिति का सबसे खास तथ्य यह है कि 'अनौपचारिक' ('इन्फॉर्मल') खंड में, जिसके केंद्र में वे होती हैं, बड़ी भूमिका का निर्वहन करती हैं बजाय 'औपचारिक' ('फॉर्मल') खंड के। घर-गृहस्थी अर्थव्यवस्था की रीढ़ है; लगभग सभी महत्वपूर्ण निर्णय जो बुनियादी ज़रूरतों से संबंधित होते हैं, इसी स्तर पर लिये जाते हैं। अतः महिलाओं के ऊपर कभी इस बात के लिये दबाव नहीं डाला जाता कि वे अपने बच्चों के साथ रहें या सामाजिक एवं



लद्दाख में महिलाएँ मजबूत और आत्मविश्वासी हैं। पारंपरिक कृषि आधारित अर्थव्यवस्था में उनके कार्य को उतना ही मूल्य दिया जाता है, जितना पुरुषों को।

आर्थिक जीवन में सक्रिय भूमिका निभाने के बीच विकल्प चुनें। जैसा कि मैंने पहले कहा है, वहाँ पर सामुदायिक फैसला लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र, जिसमें पुरुष पदों पर बैठे दिखाई देते हैं, का औद्योगिकृत जगत की तुलना में बहुत कम महत्व है।

हालांकि अंतर नगण्य है, पर कुल मिला कर महिलाएँ, पुरुषों से अधिक परिश्रम करती हैं। किंतु पश्चिम के उलट वे जो करती हैं, उसकी पूरी मान्यता उन्हें दी जाती है। इस भूसंपदात्मक समाज में, परिवार एवं समाज से अच्छे संबंध बनाए रखना बहुत महत्वपूर्ण है और ज़मीन तथा पशुओं का ज्ञान होना भी उतना ही ज़रूरी है। इन क्षेत्रों में महिलाएँ श्रेष्ठ हैं।

मुझे याद है कि एक महिला से उसके भाई के विवाह के कुछ माह बाद मेरी बात हुई थी:

“क्या वह शादी परिवार वालों ने तय की थी?”

“हाँ, मेरा भाई ऐसा ही चाहता था। दोनों परिवारों का शामिल होना महत्वपूर्ण है। ऐसे अहम फैसले करने में काफी अनुभव और बुद्धि का उपयोग होना चाहिये।”

“क्या पत्नी के चयन में लोग किसी विशेष गुण को देखते हैं?”

“देखो, अव्वल तो उसे सबके साथ निभाना आना चाहिये, वह सरल और सहिष्णु भी हो।”

“और क्या आवश्यक है?”

“उसके हुनर का मूल्य होता है और वह सुस्त न हो।”

“क्या यह आवश्यक है कि वह सुंदर भी हो?”

“ऐसा नहीं है। वह अंदर से कैसी है, उसे देखा जाता है — उसका चरित्र अधिक महत्वपूर्ण है। हम यहाँ लदाख में कहते हैं, ‘शेर की धारियाँ बाहर होती हैं; मनुष्य की धारियाँ अंदर होती हैं।’”



अध्याय छह

बुद्धवाद: जीवन की एक शैली

हर वस्तु को इस प्रकार से जानो:
एक मृगतृष्णा, एक बादलों का दुर्ग,
एक स्वप्न, एक प्रेत छाया,
सार रहित किंतु गुणों के साथ उसे देखा जा सकता है।

हर वस्तु को इस प्रकार से जानो:
जैसे आलोकित आकाश में चंद्रमा,
किसी साफ तालाब में परावर्तित होता है,
यद्यपि उस तालाब में चाँद कभी गया नहीं।

हर वस्तु को इस प्रकार से जानो:
जैसे प्रतिध्वनि जो उपजती है,
संगीत, स्वरों और रूदन से,
फिर भी उस प्रतिध्वनि में कोई सुर नहीं है।

हर वस्तु को इस प्रकार से जानो:
जैसे जादूगर दृष्टि भ्रम उत्पन्न करता है,
अश्व, बैल, गाड़ियाँ, व अन्य वस्तुएँ,
कुछ भी नहीं होता जैसा दिखाई देता है।

समाधिराज सूत्र

लदाख की हर चीज़ अपनी धार्मिक विरासत को प्रदर्शित करती है। परिदृश्य उकेरे गए प्रार्थना पथरों से और ‘चोर्टेन’ (स्तूपों) से भरा पड़ा है। फड़फड़ाते ध्वज हवाओं को प्रार्थना सुनाते हैं और सदैव दूर ऊँचाई पर किसी मठ की उत्तुंग श्वेत दीवारें दिखाई देंगी। ईसा से दो सौ वर्ष पहले से बौद्ध धर्म अधिसंख्य लदाखियों का धर्म रहा है, जब भारत ने उससे परिचित कराया था। आज तिब्बती महायान बौद्ध धर्म के सभी संप्रदायों का प्रतिनिधित्व दलाई लामा के आध्यात्मिक नेतृत्व में होता है।

जिन गाँवों में मैं रही हूँ, वे सब बौद्ध थे, परंतु राजधानी में लगभग आधी आबादी मुस्लिम है। इसके अतिरिक्त एक छोटा समूह, कुछ सौ लोगों का ईसाई हैं। इन तीनों समूहों के बीच के संबंध हाल के वर्षों में अब वैसे नहीं रहे। किंतु जब मैं यहाँ आई थी, वे सब एक दूसरे के प्रति आपसी सद्भाव एवं सहिष्णुता का प्रदर्शन करते थे, जो कभी-कभी अंतर्जातीय विवाहों से और भी पुष्ट होते थे। विविध धर्मों के मुख्य त्योहारों में सभी समूह के लोग एक-दूसरे के घर जाते, 'कटक', उत्सवी श्वेत दुपट्टा की अदला-बदली करते थे — लदाख में मेरे शुरु के कुछ महीनों में, मुझे मुस्लिम त्योहार ईद पर आमंत्रित किया जाता था। मैं उस गर्माहट और आनन्द के पल को कभी नहीं भूल सकती, जो बौद्ध व मुस्लिम एक साथ बैठ कर प्रकट करते थे।

बौद्ध धर्म का एक केन्द्रिय तत्त्व 'शून्यता' या रिक्तता का दर्शन है। पहले मुझे इस अवधारणा का अर्थ समझने में कठिनाई हुई, किंतु धीरे-धीरे कुछ वर्षों में, ताशी राबग्यास से बातें करने में वह स्पष्ट होती गई : "यह कुछ ऐसा है, जिस पर चर्चा करना कठिन है और शब्दों से उसे समझना तो असंभव है," उन्होंने मुझसे एक बार कहा था। "यह कुछ ऐसा है जिसे आप परावर्तन एवं व्यक्तिगत अनुभव के मिश्रण के माध्यम से पूर्णतः समझ सकेंगी।" किंतु मैं सरल ढंग से समझाने का प्रयत्न करूँगा। किसी भी वस्तु को लीजिए, जैसे वृक्ष। जब आप वृक्ष के बारे में सोचती हैं, तो एक निश्चित, स्पष्टतः परिभाषित वस्तु का विचार करती हैं और एक स्तर तक वह ऐसा है भी। किंतु अधिक महत्वपूर्ण स्तर पर, वृक्ष का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है; बल्कि वह संबंधों के जाल में घुल जाता है। वर्षा जो इसके पत्तों पर गिरती है, वायु जो उसे झुलाती है, ज़मीन जिस पर वह टिका है — सब वृक्ष के भाग हैं। अंततः यदि आप इसके विषय में चिंतन करें तो ब्रह्माण्ड की हर वस्तु, वृक्ष को वह बनाने में सहायक होती है, जो कि वह है। उसे पृथक् नहीं किया जा सकता; उसकी प्रकृति हर पल बदलती है — वह कभी एक सी नहीं रहती। जब हम कहते हैं कि वस्तुएँ 'खाली' होती हैं, तब हमारा आशय यही रहता है, कि उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।"

'शून्यता' को 'रिक्तता' या 'कुछ न होने' से परिभाषित किये जाने के कारण पश्चिम के अनेक लोग यह सोचते हैं, कि बुद्धवाद नास्तिक दर्शन है। अक्सर यह माना जाता है कि इसके मानने वाले उदासीन होते हैं और इस बात की चिंता नहीं करते कि वे जीते हैं या मरते हैं। यह विडंबना ही है कि ताशी ने एक मर्तबा ऐसी ही भावना ईसाइयत के बारे में व्यक्त की थी। "आपके लिये सब कुछ बना-बनाया है," उन्होंने कहा, "हर बात ईश्वर द्वारा पूर्व निर्धारित है और उसी के द्वारा नियंत्रित होती है। यह लोगों को बहुत उदासीन बना देती है। ईसाई धर्म में निजी विकास के लिये कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती, जैसी कि बौद्ध धर्म में है। आध्यात्मिक

अभ्यास के द्वारा हमारे पास स्वयं का विकास करने का अवसर है।"

बौद्ध धर्म ऐसा नहीं कहता कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और न ही वह निराशावाद को प्रोत्साहित करता है। इसके विपरीत, उसकी सीख यह है कि एक बार हमने ब्रह्माण्ड की प्रकृति को समझ लिया, तो हम उस स्थायी सुख की अनुभूति कर सकेंगे, जो बाहरी घटनाओं के क्षणिक प्रवाह से अप्रभावित रहता है। हमारी अज्ञानता — इंद्रियों के माध्यम से विश्व का हमारा अनुभव तथा अवधारणाओं के द्वारा अर्जित अनुभव — हमें सामान्य "दैर्घ्य" जगत की शक्ति से आगे देखने से रोकता है, जहाँ वस्तुएँ पृथक् रूप से अस्तित्ववान और स्थायी होती हैं। जब तक हम वस्तुओं को इस अज्ञानता की रीति से देखने की ज़िद करेंगे, तब तक हम 'संसार' में होंगे — अस्तित्व के पहिये से घिरे हुए।

हमसे यह नहीं कहा जाता है कि हम संसार के "अस्तित्व" को नकारें, सिर्फ अपनी देखने-समझने की योग्यता को बदलें। वस्तुओं का अस्तित्व है, जैसा हम उन्हें अपनी इंद्रियों से समझते हैं। हमारे शरीर भी हैं और हमें साँस लेने हेतु वायु की जरूरत है। सवाल बलाघात (एम्फेसिस) का है। हमसे यह नहीं कहा जाता कि हम अपनी इंद्रियों द्वारा देखे-समझे जाने वाले जगत का त्याग कर दें, अपितु उसे अन्य प्रकार के आलोक में देखें। बुद्ध ने सिखाया है कि हमारी इंद्रियों और सीमाओं द्वारा रचित इस संसार के आगे एक असाधारण दुनिया है, जो गतिशील प्रक्रिया में समाहित हो जाती है। यथार्थ की सही प्रकृति, भाषा और रेखाबद्ध विश्लेषण की परिधि से आगे है।

ताशी प्रायः विख्यात बौद्ध विद्वान नागार्जुन से उद्धृत करते थे : "जो अस्तित्व में विश्वास करते हैं, वे पशुओं की भाँति मूर्ख हैं, परंतु जो अस्तित्वहीनता में विश्वास करते हैं, वे और भी बड़े मूर्ख हैं। (वस्तुएँ) न तो अस्तित्वहीन होती हैं और न ही उनका अस्तित्व होता है, न तो दोनों और न कुछ ऐसा जो दोनों ही नहीं है।"

ऐसा कहा जाता है कि विश्व अंतहीन सरिता की तरह है। इसकी पूर्णता, एकता नहीं बदलती और साथ ही वह निरंतर गतिमान है। नदी जैसे अपने पूर्णत्व में विद्यमान है, पर आप नहीं कह सकते हैं कि उसमें क्या है; आप प्रवाह को रोक कर उसका परीक्षण नहीं कर सकते। हर चीज गतिशील है और अविच्छिन्न रूप से आपस में गुंथी हुई है।

पुनः ताशी कहते हैं: प्रत्येक वस्तु निर्भर उत्पत्ति के नियम के अंतर्गत है। जैसा कि नागार्जुन ने कहा, "संबंधों से उत्पत्ति बुद्ध का वृहद परिपूर्ण कोष है।" इस स्तर पर हमारी श्रेणियाँ, अंतर और पहचान — 'तुम' और 'मैं', 'मन' और 'पदार्थ' — एक हो जाते हैं और अंतर मिट जाता है।

जिसे हम ठोस और विशाल समझते हैं, वह वस्तुतः सतत परिवर्तनीय है। उसी प्रकार जैसे

वृक्ष शून्य है, यदि आप इस पर मनन करें, तो आप भी आपके चारों ओर जो कुछ है, उसमें घुल जाएंगे। 'स्व' या 'अहं' अंततः ब्रह्माण्ड में किसी अन्य वस्तु से पृथक नहीं है।

यह भ्रांति कि स्व का स्वतंत्र अस्तित्व है, प्रबोधन (एनलाइटमेन्ट) के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा है। परम पर विश्वास, स्थायी अस्तित्व, अंतहीन कामनाओं की ओर ले जाता है और कामनाएँ अपने साथ कष्ट लाती हैं। अपने इस पृथक स्व एवं पृथक वस्तुओं की धारणा से मोह के चलते हम निरंतर कुछ नया प्राप्त करने का, उस तक पहुँचने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। किंतु जैसे ही जिसकी इच्छा हो, हम उसे प्राप्त कर लेते हैं, तो उसकी चमक समाप्त हो जाती है और हम अपनी दृष्टि किसी अन्य वस्तु की ओर डालने लगते हैं। संतुष्टि विरल और क्षणिक होती है; हम सदा ही कुंठित रहते हैं।

बुद्ध को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नहीं है

सिवाय समस्त जीवों को प्रसन्न कर के।

ताशी प्रायः मुझे याद दिलाते थे कि ज्ञान एवं समझ अपने आप में पर्याप्त नहीं होते। वे कहते थे, वस्तुतः वे खतरनाक हो सकते हैं, यदि उनके साथ करुणा का भाव न हो। “दलाई लामा ने कहा है कि सच्चा धर्म करुणा है।” हमारी प्रार्थनाओं को देखिये, उनमें सदैव दूसरों के लिये चिंता पर बल दिया जाता है:

*इस रीति से उदार और सद्गुणी कार्यों के बल पर,
मेरे माता-पिता जिन्होंने मुझे दयापूर्वक पाला पोसा है,
शिक्षक जिनसे मैंने बोधिचित्त की दीक्षा ली,
सभी हीरे जैसे बंधु-बंधव, हार्दिक संबंधों सहित,
वे सभी लोग जिनसे मेरे भौतिक व अस्ति संबंध हैं,
वे सब शीघ्र ही बुद्धत्व को प्राप्त करें।*

बौद्ध धर्म की शिक्षा में दया को प्रबोधन का तथाकथित उपाय कहा जाता है। कवि-मुनि मिलारेपा ने कहा था: “शून्यत्व का विचार दया भाव उत्पन्न करता है।” जब वैयक्तिक अस्तित्व की सीमाएँ मिट जाती हैं, तुम और मैं, बजाय एकदम पृथक जीव न होकर एक ही पूर्ण के पहलू बन जाते हैं।

लद्दाखी जीवन के हर पहलू पर धर्म की छाप देखी जा सकती है, उसे कला और संगीत, संस्कृति और कृषि से पृथक नहीं किया जा सकता। लोग अत्यंत धार्मिक हैं। इसके बावजूद पश्चिम के

दृष्टिकोण से, लद्दाखी उसे लेकर बेतकल्लुफ़ प्रतीत होते हैं। इस विरोधाभास को 1976 में, मैंने तब बहुत गहरे से महसूस किया जब दलाई लामा यहाँ पर आये — अनेक वर्षों में पहली बार। महीनों पहले से लोग बहुत उत्साहित थे। उन्होंने अपने घरों की पुताई की, प्रार्थना-पताकाओं को रंगा, नए वस्त्र सिले; यहाँ तक कि अपनी टोपियों को उधेड़ा, फीरोजा और मूंगों को धोकर साफ किया और अंदर से चटक लाल बकरम लगाया। यह, लेह के बाहर सिंधु नदी के तट पर कालचक्र का बहुत बड़ा सवाल होने वाला था। आयोजन के काफी पहले से, लद्दाख के कोने-कोने से ग्रामीणों का आना शुरू हो गया था। कुछ बसों या ट्रकों से, हजारों अन्य पैदल या घोड़ों पर, अनेक दिनों की यात्रा करके।

एक सप्ताह तक चलने वाली शिक्षा के बीच, लोगों की संख्या चालीस हजार तक जा पहुँची। वातावरण में गहन श्रद्धा का उफान था, परंतु ताज्जुब की बात थी कि इसके साथ ही आनंदोत्सव का माहौल था। एक पल में मेरे सामने बैठा व्यक्ति श्रद्धा से अभिभूत होकर दलाई लामा को एकटक देखता; और अगले ही क्षण में पड़ोसी के चुटकुले पर हँसने लगता; और तब उसका ध्यान कहीं और होता। वह अपना प्रार्थना चक्र चलाता रहता किंतु सोचता कुछ और रहता था। इस धार्मिक शिक्षा के दौरान — उपस्थितों में से अनेकों के लिए जीवन का सबसे महत्वपूर्ण क्षण था — लोग आए और गए, हँसते और गप्पे मारते। यहाँ पर पिकनिक थी और हर तरफ बच्चे — एक-दूसरे के साथ खेलते-दौड़ते शोर मचा रहे थे।

समारोह में एक युवा फ्रांसीसी भी शामिल हुआ था, जिसने धर्मशाला में बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था, जो तिब्बत से निर्वासित दलाई लामा का वर्तमान निवास है। वह अपने नए धर्म के प्रति बहुत गंभीर था और लद्दाखियों का व्यवहार देख कर निराश था। “ये लोग गंभीर नहीं हैं। मैं तो सोचता था कि ये बौद्ध हैं,” उसने तिरस्कार पूर्वक कहा। यद्यपि मैं जानती थी कि उसकी प्रतिक्रिया में कुछ न कुछ गलत है, पर कैसे अनुक्रिया करूँ यह न समझ पाई। मैं भी उस संस्कृति में पली-बढ़ी थी जिसमें धर्म, जीवन के अन्य पहलुओं से पृथक था। यह कुछ ऐसा था कि थोड़े से लोग रविवार को प्रातः गंभीरता और सौम्यता से कुछ करते थे, बस इतना ही।

दैनिक प्रार्थना से लेकर वार्षिक समारोहों तक, पूरा पंचांग धार्मिक आस्था और क्रियाओं से आकारित होता है। पूर्णिमा जो सदैव तिब्बती चंद्रमास के पंद्रहवें दिन पड़ती है, के दिन बुद्ध गर्भ में आए थे। उस दिन वे बुद्ध हुए थे और उसी दिन उनका निर्वाण हुआ था। महीने के हर दूसरे सप्ताह का भी कोई न कोई धार्मिक महत्व होता है। उदाहरणार्थ, दसवें दिन गुरु रिनपाचे का जन्मदिवस होता है, जो बौद्ध धर्म को भारत से तिब्बत ले गए थे। उस दिन ग्रामवासी एक-दूसरे के घर एकत्रित होकर खाते-पीते और धर्म ग्रंथों का वाचन करते हैं। ‘न्येनंस’ के लिए,



पयांग मठ में एक उत्सव। एक बड़ा थंका वर्ष में सिर्फ एक ही बार टांगा जाता है।

तिब्बती जंत्री का पहला महीना, लोग मठ या 'गोन्पा' में इकट्ठे होकर उपवास और ध्यान करते हैं। पवित्र दिनों में, परिवार प्रायः नए प्रार्थना ध्वज मुद्रित करते हैं। पाँच पवित्र रंग के कपड़ों पर — लाल, नीला, हरा, पीला और श्वेत — स्याही लगे लकड़ी के टुकड़ों से छपाई की जाती है। नए ध्वज पुरानों के ऊपर लगाए जाते हैं, पर पुरानों को निकाला नहीं जाता है। वे धीरे-धीरे बिखर जाते हैं, हवाओं के माध्यम से अपना संदेश फैलाते हुए।

प्रत्येक घर, क्षेत्र की बौद्ध विरासत के स्मृति चिह्नों से भरा होता है। रसोई का चूल्हा 'स्याल्बी' से सजा होता है, एक सुरुचिपूर्ण ढंग से बाँधी गई गाँठ जिसका कोई सिरा नहीं होता — समृद्धि की गाँठ। यह तिब्बती बौद्ध धर्म के आठ सौभाग्य प्रतीकों में से एक है, जिन्हें आम तौर पर अतिथि कक्ष की दीवारों पर माँड़ा जाता है। प्रत्येक छत के ऊपर एक से दूसरे कोने पर लगे प्रार्थना ध्वजों के अतिरिक्त, प्रायः घर के सामने एक बड़ा ध्वज स्तंभ होता है। इस 'तारचेन' का अर्थ है कि घर के मंदिर में मूल महायान पाठ के सोलह खण्ड हैं, 'प्राज्ञपरिमिता' या 'श्रेष्ठ विवेक की पुस्तकें।' बाहरी दीवारों पर आपको एक छोटा झरोखा (बालकनी) भी नज़र आ सकता है जिसमें तीन 'चोटें' ('रिग-सम-गोम्पो') — एक नारंगी, एक नीला और एक सफेद होते हैं — जो बुद्धि, बल एवं दया के प्रतीक हैं।

पुराने समय के अन्य प्रतीकों को भी वर्तमान-बौद्ध धर्म में समाहित किया गया है। छत पर 'इहातो' होता है, यानी मिट्टी की बनी एक छोटी चिमनी जिसमें लकड़ी की शाखाएँ एवं लकड़ी का ही बाण होता है। यह घर की रक्षा करने वाले देवता के लिए है। इसके अंदर एक बर्तन में अनाज, जल एवं बहुमूल्य धातुएँ भरी होती हैं तथा इसे प्रति वर्ष बदला जाता है, यह सुनिश्चित करने के लिये कि घर की समृद्धि अटूट रहे। बाहर की एक दीवार में 'साजगो, नामगो' ("भूमि द्वार, आकाश द्वार") हो सकते हैं। भेड़ या कुत्ते की खोपड़ी, हीरे के आकार की लकड़ी के जाल में, जिसके भीतर ऊन होता है, लगा दी जाती है और उस पर गृहस्वामी तथा उसकी पत्नी के नाम व चित्र होते हैं। इस पर उत्कीर्ण होता है, "ये दोनों द्वार — भूमि व आकाश के — बुरी आत्माओं से सुरक्षित रहें।" कभी-कभी घर को लाल चिह्नों से सजाया जाता है — छोटी आकृतियाँ, बिंदियों की पंक्तियाँ और स्वास्तिक — 'त्सान' को प्रसन्न करने हेतु, एक आत्मा जो श्वेत अश्व पर आरुढ़ रहती है। सामने से आत्मा सुंदर लगती है किन्तु उसका पृष्ठ भाग, जो वह कुछ होने पर प्रकट करती है, अत्यंत भयंकर होता है तथा उसकी ओर देखने पर भीषण विपत्ति आ सकती है।

लदाखियों की प्रवृत्ति आत्माओं के प्रति ढीली-ढाली होती है। उन्हें तुष्ट करने हेतु अनुष्ठान किये जाते हैं, किंतु लोग उनसे भयभीत नहीं रहते। बल्कि उनका अस्तित्व है भी या नहीं इसके बारे में वे सुनिश्चित नहीं लगते। "क्या तुम सोचते हो कि भूत-प्रेत होते हैं?" एक बार मैंने

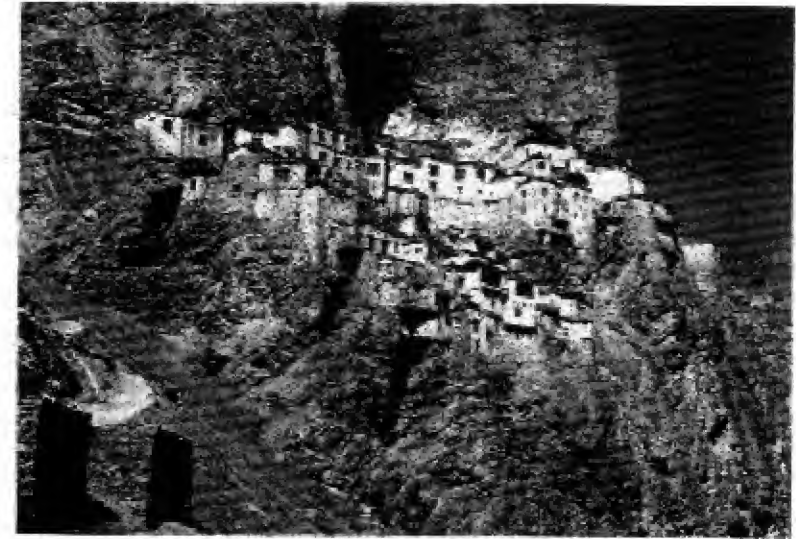
सोनम से पूछा। “लोग कहते हैं कि वे होते हैं,” उसने धीरे से जवाब दिया। “मैंने तो एक को भी नहीं देखा, पर कौन जाने।”

तिब्बती संस्कृति में मठों की भूमिका के कारण कई लोगों ने उसे सामंतवादी समाज कहा है। आरंभ में, मैं भी मानती थी कि मठों और शोष जनसंख्या के बीच का रिश्ता शोषण करने वाला था। कुछ मठों के पास काफी भूमि का स्वामित्व है, जिस पर सारा गाँव मिल कर काम करता है। ऐसे कृषक भी हैं जो अपनी भूमि के अलावा मठों के खेतों में कुछ उपज के एवज में खेती करते हैं।

परंतु व्यापक सामाजिक स्तर पर, मठ वास्तविक आर्थिक लाभ देते हैं। दरअसल वे समस्त समुदाय को “सामाजिक सुरक्षा” प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि कोई भूखा न रहे। यदि किसी परिवार में आवश्यकता से अधिक लोगों का पेट भरना हो, तो कितनी ही संख्या में पुत्र – सामान्यतः छोटे पुत्र – भिक्षु बन जाते हैं। मठ में समुदाय द्वारा उन्हें सब कुछ प्राप्त होता है, बदले में धार्मिक सेवा करनी होती है। मठ और गाँव के बीच लेने एवं देने की प्रक्रिया से समृद्ध सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपरा बनी रहती है, जिसमें समाज के सभी सदस्य शामिल रहते हैं और सभी लाभान्वित होते हैं। इसके अलावा, कोई भी पुरुष या महिला, युवा या वृद्ध, ब्रह्मचर्य तथा आध्यात्मिक आस्था को अपना सकता है, विवाहित गृहस्थ जीवन के एक विकल्प के रूप में।

बतौर भिक्षु, आंगचुक का भाई रिनचेन का सम्मान किया जाता है। यद्यपि वह इतने ऊँचे पद पर नहीं है, जिन पर अधिक विद्वान भिक्षु अथवा लामाओं के अवतार होते हैं, जिनका आदर उनकी विशेष शक्तियों व ज्ञान के कारण होता है। रिनचेन को कुछ सुनिश्चित कर्तव्यों के बावजूद पर्याप्त स्वतंत्रता है। यद्यपि मठ में उसके अपने कमरे हैं; वह अपना अधिकांश समय लोगों के घरों में धार्मिक कार्य करने में व्यतीत करता है, न केवल तोंदे में अपितु पास के शादी और कुमिका गाँवों में भी। पूरे साल भर, विशेषतः बुआई और कटाई के समय, प्रत्येक घर के ‘चेपल’ (मंदिर) में महत्त्वपूर्ण रस्में अदा की जाती हैं। इन सब के कारण वह व्यस्त रहता है और जो उसके जीवन यापन का साधन भी है। उसकी सेवा के बदले में प्रत्येक परिवार कुछ न कुछ देता है, यद्यपि आजकल नगद में चलन बढ़ता जा रहा है। घर में अभी भी उसका कक्ष है, जहाँ वह बीच-बीच में आता है। जब वह घर में होता है तब घर के कामों में भी हाथ बँटाता है; सिलाई में वह विशेष निपुण है।

मठ, पूरे साल भर महत्त्वपूर्ण समारोहों और उत्सवों के आयोजन स्थल होते हैं, जो कई-कई दिनों, बल्कि हफ्तों तक चलते हैं और उस दौरान अनुष्ठान एवं प्रार्थना की जाती है।



झंस्कार में फुक्तल मठ। अपनी आध्यात्मिक भूमिका के अतिरिक्त, मठ आर्थिक सुरक्षा प्रदान करते हैं।

यर्नास के दौरान जो ग्रीष्मकाल में होता है, भिक्षु करीब एक माह तक मठ से बाहर नहीं आते ताकि कहीं भूल से भी वे किसी किड़े-मकोड़े को कुचल न दें, जिससे उसकी मृत्यु हो जाए। वर्ष के सबसे विशेष आयोजनों में चाम नृत्य होता है, जिसके दौरान वदजायन बुद्धवाद की मूल शिक्षाओं को नाटक के रूप में मंचित किया जाता है तथा सभी लोगों के शत्रु – अहं के पुतले को धूमधाम से मारा जाता है। चारों ओर से सैकड़ों, कभी-कभी हज़ारों ग्रामीण, रंग-बिरंगे मुखौटे पहने भिक्षुओं को नृत्य करते हुए देखने के लिये आते हैं। मुखौटे तिब्बती ब्रह्मवाद के विविध चरित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इन सब का गूढ़ार्थ होता है। भोंपू और ढोल का स्वर मंत्रोच्चारों व हँसी में मिल जाता है।

“जब तक अज्ञानता है, अनुष्ठान आवश्यक हैं,” स्ताकना मठ के प्रमुख लामा ने एक बार मुझसे कहा। “यह एक सीढ़ी है जिसे तब त्यागा जा सकता है, जब हम एक विशिष्ट स्तर का आध्यात्मिक विकास प्राप्त कर लें।” समारोह और अनुष्ठान का शानदार ढाँचा हालांकि धार्मिक रीति का महत्त्वपूर्ण अंग है, पर वह बौद्ध शिक्षा का केंद्रीय तत्त्व नहीं है, जैसा कि दिखाई देता है। मेरे लिये, लद्दाख में बौद्ध धर्म की सबसे अधिक गहरी अभिव्यक्ति, लोगों के विलक्षण मूल्य

तथा प्रवृत्ति है। सीधे-सरल किसान से लेकर उच्च शिक्षित भिक्षु तक।

जीवन — एवं मृत्यु — के प्रति लदाखी दृष्टिकोण कदाचित इस सहज प्रज्ञा की समझ पर आधारित है कि जो कुछ है वह क्षणभंगुर है, अतः उसके प्रति उतना लगाव नहीं होना चाहिये। बारंबार मुझे मेरे लदाखी मित्रों में इसी दृष्टिकोण के दर्शन हुए। बजाय इसके कि सब कुछ कैसा होना चाहिये, उनमें यह योग्यता है कि जो कुछ जैसा है उसका सक्रियता से स्वागत करें। उदाहरण के लिये, फसल के बीच में हिमपात या वर्षा हो सकती हैं, जो उस जौ एवं गेहूँ को नष्ट कर दे, जिसकी महीनों तक बड़ी मेहनत से साज-संभाल की गई हो। इसके बावजूद लोग पूरी तरह से अविचलित रहते हैं, प्रायः अपने दुर्भाग्य पर चुटकुले बनाकर हँसते हैं।

यहाँ तक कि मृत्यु को भी सहज रूप से स्वीकार किया जाता है। लदाख में मेरे दूसरे साल में, मेरी एक अच्छी सहेली का दो माह का बच्चा नहीं रहा। मुझे लगा, वह व्याकुल हो जाएगी और जब मैंने उसे देखा, वह स्पष्टतः दुखी थी। लेकिन एक अंतर था। यद्यपि, जैसा उसने मुझसे कहा, वह अत्यंत उदास थी, किंतु पुनर्जन्म में उसके विश्वास के कारण मृत्यु उन लोगों के लिये अंत नहीं होती, जैसी हमारे लिये होती है।

लदाखियों की यथार्थ की अवधारणा वृत्ताकार है, निरंतर लौटना। केवल इस जीवन में ही अवसर हैं, ऐसी बात नहीं है। मृत्यु अंत के समान ही एक आरंभ भी है, एक से दूसरे जन्म की ओर जाना, यह अंतिम विलोपन नहीं है।

लदाखी मनोवृत्ति ध्यान से प्रभावित प्रतीत होती है। यद्यपि गहन तप मठों के बाहर शायद ही किया जाता है, लदाखी पर्याप्त समय, जिसे हम अर्ध-तप अवस्था कह सकते हैं, में गुजारते हैं। विशेषतः वृद्धजन चलते फिरते या काम करते हुए मंत्रों का जाप करते रहते हैं। अक्सर वार्तालाप करते हुए रुक जाएंगे, कुछ प्रार्थना करेंगे: फिर बातें करने लगेंगे और उसी साँस में “ओम मनी पद्मे हम, ओम मनी पद्मे हम” रटने लगेंगे। पश्चिम में हुए हालिया शोध के अनुसार ध्यान या तप के दौरान, चेतना की स्थिति जो पूर्ण अथवा प्रादर्श का अनुभव करती है, हावी रहती है। यही लदाखी के संपूर्णतावादी अथवा सन्दर्भागत विश्व दृष्टि निभाने में भूमिका निभाती है — विश्व दृष्टि जो उनका भी चारित्रिक गुण है, जिनमें बौद्ध शिक्षा का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है।

इस पर बहस हो सकती है कि लदाखी भाषा भी बौद्ध धर्म के चिह्नों को प्रदर्शित करती है। किसी भी पाश्चात्य भाषा की तुलना में जिनसे मैं अवगत हूँ, लदाखी शायद सापेक्षता पर अधिक बल देते हैं। भाषा व्यक्ति को उस संदर्भ में बोलने का आग्रह करती है, जो वह बोलना चाहता है। मजे की बात यह है कि क्रिया ‘टु बी’ का प्रयोग स्थिति के अनुसार बीस प्रकार से किया जा सकता है — खासतौर पर बोलने और सुनने वाले के बीच कितनी विषयवस्तु को लेकर

घनिष्टता है। पश्चिमी लोगों के उलट, लदाखी कभी भी किसी बात पर निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहेगा, जिसका उसे अनुभव न हो। किसी भी ऐसी घटना के बारे में जिसमें वह स्वयं सम्मिलित नहीं था, वह ऐसी क्रियाओं का उपयोग करेगा, जिसमें उसके ज्ञान की सीमा परिलक्षित होगी : “ऐसा कहा जाता है कि . . .” “ऐसा लगता है कि . . .” ऐसा संभव है कि . . .।” अगर मैं किसी से पूछूँ, “क्या यह बड़ा घर है?” तो वह संभावित उत्तर देगा या देगी, “मुझे वह बड़ा लगा।”

जब लोगों का निजी अनुभव हो तब भी वे निश्चयपूर्वक कहने या अपना निर्णय देने में अनिच्छुक होते हैं। अच्छा और बुरा, तेज़ और धीमा, यहाँ और वहाँ; ये स्पष्ट रूपेण पृथक गुण नहीं हैं। उसी प्रकार लदाखी मौलिक विरोध के ढंग से नहीं सोचते, जैसे मन और शरीर या तर्क और अंतःप्रेरणा। लदाखी विश्व का अनुभव अपनी भाषा में ‘सेम्बा’ के माध्यम से करते हैं, जिसका श्रेष्ठतम अनुवाद “हृदय” और “मन” के बीच की स्थिति हो सकता है। यह बौद्धों के आग्रह को प्रकट करता है कि बुद्धि तथा दया को पृथक नहीं किया जा सकता।



अध्याय सात

जोड़ डी विवरे

तुम्हारा मतलब है कि हर कोई हमारे जैसा सुखी नहीं है?

त्सेरिंग डोल्मा

ग्रीष्मकाल के अंत में, मैं न्गावांग पालजोर जो साठ-वर्षीय वृद्ध 'थंका' चित्रकार थे, के साथ काश्मीर में श्रीनगर गई। वे पारंपरिक वेशभूषा में थे, ऊन का बना 'गोन्चा', टोप और याक के बालों के जूते पहने हुए और काश्मीरियों की नज़रों में वे बिलाशक लद्दाख के पिछड़े क्षेत्र के थे। जहाँ कहीं भी हम गए, लोगों ने उनकी खिल्ली उड़ाई; उन्हें लगातार चिढ़ाया गया और उन पर फट्टियाँ कसी गईं। हर टैक्सी चालक, दूकानदार और आने जाने वाला किसी न किसी रूप में उनका मज़ाक उड़ाता था। "उस विचित्र टोप को देखो!" "बेवकुफों जैसे जूतों को देखो!" "तुम जानते हो, ये आदिम युग के लोग कभी गुसल नहीं करते।" यह सब मुझे ना-काबिले-बर्दाश्त लगता था, पर न्गावांग इस सबसे अप्रभावित रहे। वे अपनी यात्रा का आनंद ले रहे थे, और आँखों में एक किरकिरी तक नहीं आने दी। यद्यपि वे भली भाँति जानते थे कि क्या हो रहा है, पर उन्हें उससे कोई मतलब नहीं था। वे मुस्कराते रहे, विनम्र बने रहे और जब लोगों ने उपहासपूर्ण ढंग से लद्दाखी अभिवादन चीख कर कहा, "जूले, जूले!" तो उन्होंने सीधा उत्तर दिया "जूले, जूले!" "तुम्हें क्रोध क्यों नहीं आता है?" मैंने पूछा। "ची चोएन?" ("क्या फायदा?") उनका उत्तर था।

न्गावांग के चित्त की स्थिरता असामान्य नहीं थी। लद्दाखियों में न दबाए जा सकने वाला जोड़ डी विवरे होता है। उनके आनंद का बोध, उनके अंदर इतना गहरा समाया है कि परिस्थितियाँ उसे हिला नहीं सकती। आप लद्दाख में एक पल ऐसा नहीं बीता सकते जब उनकी संक्रामक हँसी आपको जीत न ले।

आरंभ में मुझे विश्वास नहीं होता था कि लद्दाखी इतने सुखी हो सकते हैं, जितने वे दिखाई

देते हैं। इसे स्वीकार करने में मुझे बहुत समय लगा कि जो मुस्कान मैं देखती हूँ, वह वास्तविक है। तब, वहाँ अपने प्रवास के दूसरे वर्ष में जब मैं एक विवाह समारोह में पीछे बैठी थी और देख रही थी कि मेहमान मिल जुल कर कितने खुश थे। एकाएक मैंने स्वयं को बोलते हुए सुना, "आहा। ये लोग सचमुच में इतने सुखी हैं।" तभी मुझे महसूस हुआ कि मैं सांस्कृतिक पर्दा लगाए हुए यह मानकर चल रही थी कि लद्दाखी इतने प्रसन्न नहीं हो सकते, जितने ऊपर से नज़र आते हैं। उनकी हँसी और चुटकुलों के पीछे कोई न कोई हताशा, ईर्ष्या और कमी होगी, जैसी मेरे अपने समाज में है। वस्तुतः, उसे जाने बगैर मैं कल्पना करती थी कि सुख की मानवीय संभाव्यता के लिये कोई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अंतर नहीं होते। यह महसूस करना मेरे लिये आश्चर्यजनक था कि मैं ऐसी व्यर्थ की धारणाएँ बना रही थी और इसके परिणाम स्वरूप मैं उस सत्य के प्रति और खुल गई जिसका मैं अनुभव कर रही थी।

निःसंदेह लद्दाखियों के दुःख और समस्याएँ हैं और वे रोग या मृत्यु से रू-ब-रू होने पर उदास भी होते हैं। मैंने जो देखा है, वह संपूर्ण अंतर नहीं है; केवल मात्रा का अंतर है। किंतु मात्रा का यह अंतर अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब मैं हर साल औद्योगिकृत संसार में लौटती हूँ, तब यह अंतर और भी स्पष्ट हो जाता है। हमारा जीवन असुरक्षा व भय से इस कदर ग्रसित है कि हम उसकी अनदेखी नहीं कर सकते तथा स्वयं अपने से और अपने परिवेश से उस भय को पृथक् नहीं कर सकते। दूसरी ओर लद्दाखी हैं, जिनमें स्व का विस्तारित और समाविष्ट भाव है। वे हमारी तरह भय और आत्मरक्षा की सीमाओं के पीछे नहीं चले जाते; वस्तुतः उनमें वह भावना है ही नहीं जिसे हम घमण्ड कहते हैं। इसका अभिप्राय आत्मसम्मान की कमी नहीं है। बल्कि इसके विपरीत उनका स्वाभिमान इतना गहरा है कि उस पर सवाल ही नहीं उठाया जा सकता।

मैं लगभग पंद्रह लद्दाखियों और कलकत्ता के दो छात्रों के साथ ट्रक के पीछे बैठकर ऊबड़-खाबड़ और धूल धूसरित सड़क से झंस्कार से लौट रही थी। थोड़ी देर के सफर के बाद छात्र बेचैन हो गए, असुविधा महसूस करने लगे और एक अंधेड़ लद्दाखी को धकियाने लगे, जो जगह बनाकर सब्जियों के थैले पर बैठा था। कुछ देर बाद बूढ़ा आदमी खड़ा हो गया ताकि छात्र — जो उससे आयु में बीस वर्ष कम रहे होंगे — बैठ सकें। जब दो घंटे बाद हम आराम करने के लिये रुके तो लड़कों ने लद्दाखी से पानी लाने को कहा; वह लेकर आया। उसके बाद उन्होंने उसे लगभग हुक्म दिया कि वह आग जला कर उनके लिये चाय उबाले।

उसके साथ नौकरों जैसा बर्ताव किया जा रहा था — और निश्चित रूप से जीवन में पहली बार। फिर भी उसकी प्रवृत्ति में दासोचित व्यवहार नहीं आया; वह केवल वह सब करता गया जो उससे करने को कहा गया, जैसा कोई मित्र के लिये करे — बिना किसी तेजक्षय के और

बिना गरिमा की हानि के। मैं उबल रही थी किंतु वह तथा अन्य लदाखी, क्रोधित या त्रस्त होना तो दूर, इस सब का आनंद लेते रहे। वृद्ध प्रफुल्लित था, उसे कोई पर्वाह नहीं थी कि वह खुद को सिद्ध करे।

मैं ऐसे लोगों से कभी नहीं मिली जो भावनात्मक रूप से इतने स्वस्थ हों, इतने सुरक्षित हों, जितने लदाखी होते हैं। इसके कारण, निश्चित तौर पर जटिल हैं और जीवन की पूरी शैली तथा उनके विश्व के प्रति दृष्टिकोण से निकलते हैं। परंतु मैं पक्के तौर पर कह सकती हूँ कि सबसे अहम् कारण वह भावना है कि तुम उसके अंश हो जो तुमसे बहुत बड़ा है, कि तुम अविभाज्य रूप से दूसरों से एवं अपने आसपास से जुड़े हो।

लदाखी विश्व में अपने स्थान से संबद्ध हैं। उनका अपने स्थान से जुड़ाव आत्मीयतापूर्ण दैनिक संपर्क के द्वारा, अपने आसपास के वातावरण के बदलते मौसम, आवश्यकताओं एवं सीमाओं के ज्ञान से पुष्ट होता है। वे अपने जीवित संदर्भ को अच्छे से समझते हैं, जिसमें वे स्वयं को पाते हैं। सूर्य, चंद्र और नक्षत्रों की चाल परिचित लय है जो उनकी दैनिक दिनचर्या को प्रभावित करते हैं।

उतनी ही महत्व की बात यह है कि लदाखियों के स्व की विस्तृत समझ का संबंध लोगों के बीच के मजबूत जुड़ाव से है। उस विवाह में मैंने 'शसपुन' समूह को देखा जो आपस में हँसी-मजाक, बातें कर रहे थे और फिर एकाएक चुपचाप बैठकर चाय पीते हुए देर तक अपने विचारों में खो गए, बिना एक शब्द बोले। उन्होंने कई अवसरों के अनुभवों पर आपस में बातचीत की थी — दुःख मनाने के और सुख भोगने के। और वे मिलकर काम कर चुके थे, एक दूजे की सहायता करते हुए, उत्सवों के दौरान जो जीवन के महत्वपूर्ण उतार-चढ़ाव थे। अचानक मुझे उनके रिश्तों की गहराई में झाँकने की अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई।

पारंपरिक लदाखी समाज में, हर कोई, जिसमें चाचा-चाचायाँ, भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ भी शामिल हैं, गहनता से आश्रित समुदाय के सदस्य होते हैं। माँ को कभी उसके बच्चों से अलग करके अकेले नहीं छोड़ा जाता है। वह हमेशा उनके तथा उनके बच्चों के जीवन का भाग रहती है।

लदाखी संस्कृति को समझने से पहले, मैं सोचती थी कि घर से बाहर जाना, बड़े होने की प्रक्रिया का भाग है। वयस्क होने की दिशा में एक आवश्यक कदम। अब मेरा यकीन है कि वृहद विस्तारित परिवार और छोटे अंतरंग समुदाय, परिपक्व और संतुलित व्यक्तियों को गढ़ने की बेहतर आधार शिलाएँ हैं। स्वस्थ समाज वह है जो सामाजिक मेलजोल और पारस्परिक निर्भरता को प्रोत्साहित करता है, हर व्यक्ति को बिना किसी शर्त के भावनात्मक मदद का संजाल उपलब्ध कराता है। इस देखभाल करने वाले ढाँचे के अंदर व्यक्ति अधिक सुरक्षित महसूस करता



लदाखियों की कमाल की संतुष्टि भावना उनके अन्य लोगों तथा भूमि से गहरे जुड़ाव का उत्पाद है।

है और मुक्त एवं स्वतंत्र बनता है। इसके उलट, कि मैंने लदाखियों को अपने औद्योगिक समाज के मुकाबले भावनात्मक रूप से कम निर्भर पाया। प्रेम और मैत्री है, पर वह उत्कट और जकड़ कर रखने वाली नहीं है — कि एक व्यक्ति का दूसरे पर, जैसे मालिकाना हक हो। मैंने एक बार एक माँ को देखा जिसका अठारह वर्षीय पुत्र, एक वर्ष बाद घर लौट कर आया था। वह एकदम शांत थी, जैसे कभी उसे उसकी कमी खटकती ही न हो। इस व्यवहार को समझने में मुझे बहुत समय लगा। मैं सोचती थी कि मेरे लदाखी मित्र विचित्र ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं, जब मैं शीतकाल के दौरान बाहर रह कर लौटती। मैंने उनके लिये उपहार लाए थे, जो मैं जानती थी कि वे पसंद करेंगे। मैं आशा करती थी कि वे मुझे देख कर तथा उपहार पाकर प्रसन्न होंगे। परंतु उनके लिये तो जैसे मैं गई ही नहीं थी। उन्होंने उपहारों के लिये मुझे धन्यवाद अवश्य दिया, लेकिन उस प्रकार से नहीं जैसी मुझे उम्मीद थी। मैं चाहती थी कि वे उत्तेजित होकर हमारी विशिष्ट दोस्ती की पुष्टि करेंगे। मैं निराश हुई। मैं छः महीनों के लिये जाऊँ या एक दिन के लिये, वे मेरे साथ एक सा बर्ताव करते थे।

फिर भी, मेरी समझ में आ गया कि किसी भी स्थिति से अनुकूलन करते हुए, सुखी रहना बहुत बड़ी ताकत थी। मैं अपने लदाखी मित्रों के सरल, तनाव रहित व्यवहार की प्रशंसाक हो

गई। वे मेरे साथ ऐसा बर्ताव करते थे मानो मैं कभी गई ही नहीं थी। लद्दाखी किसी भी बात से उतने अनुरक्त नहीं होते, जैसे हम होते हैं। उनमें से अधिकांश, निश्चित ही, पूरी तरह से उन बातों से विरक्त भी नहीं होते जो हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। परंतु, यहाँ भी एक अंतर है — बड़ा ही व्यापक फर्क — मात्रा का। कोई अपने मित्र की विदाई पर या कोई बहुमूल्य वस्तु के खोने पर दुःखी हो सकता है, पर 'उतना' दुःखी नहीं।

यदि मैं किसी लद्दाखी से पूछूँ, “तुम्हें लेह जाने में मज़ा आता है या गाँव में ही रहना पसंद करते हो?” तो मुझे यह उत्तर मिलने की संभावना है, “मुझे खुशी होगी यदि मैं लेह जाऊँ; और यदि न जाऊँ तो भी मैं खुश रहूँगा।” इधर या उधर उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। लद्दाखी रोज के खाने से दावत का आनंद लेते हैं और वे ज्यादा सुविधाजनक महसूस करेंगे बजाय असुविधा के और स्वस्थ महसूस करेंगे बजाय बिमार के। किंतु, अंततः उनकी संतुष्टि और मन की शांति ऐसी बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती; ये गुण अंदर से उपजते हैं। लद्दाखियों के दूसरों से तथा अपने वातावरण से संबंध के कारण एक आंतरिक शांति व संतोष के निर्मित होने में सहायता मिली है और उनके धर्म ने उन्हें स्मरण कराया है कि तुम स्वस्थ, जिंदादिल, प्रसन्न और भरे पेट रह सकते हो, किंतु जब तक तुम “अनभिज्ञ” रहोगे, तुम खुश नहीं हो सकते।

संतुष्टि उस भावना एवं समझ से आती है कि आप जीवन के प्रवाह के अंग हैं, उसी के साथ आराम करते और चलते हैं। यदि, जैसे ही आप लंबी यात्रा पर निकलने वाले हों और उसी समय मूसलाधार वर्षा होने लगे, तो दुःखी होने की क्या ज़रूरत है? हो सकता है आपको यह उचित न लगे किंतु लद्दाखी का रवैया है “दुःखी क्यों हो?”

भाग दो

परिवर्तन



अध्याय आठ

पश्चिम का आगमन

अपने उपनिवेशवादी अश्वों पर सवार होकर,
राजाओं की भाँति उड़ते हुए,
यह सोचते हुए कि उन्होंने सब कुछ समझ लिया है।
क्या वे नहीं जानते कि पंछी भी उड़ते हैं।

ताशी राबग्यास, 1980 में पर्यटकों द्वारा क्रोध दिलाने पर

मैंने अपने जिन अनुभवों का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया है, वे तब के हैं जब लद्दाख पर पश्चिमी दुनिया का प्रभाव इतना नहीं पड़ा था कि उसे महत्वपूर्ण कहा जा सके। जब मैं 1975 में पहली बार आई थी, तब ग्राम्य जीवन उसी नीव पर आधारित था, जो शताब्दियों पूर्व रखी गई थी। अपने पर्यावरण के अनुसार, अपने अनुसार क्रम-विकास होता रहा था। उपनिवेशवाद और विकास से इस क्षेत्र की रक्षा उसके संसाधनों की कमी, असहनीय मौसम तथा उसकी दुर्गम्यता के कारण होती रही।

निःसंदेह संस्कृति ने बदलाव देखा, साल-दर-साल, पीढ़ी-दर-पीढ़ी। लद्दाख एशिया के एक बड़े व्यापार मार्ग में पड़ता है और अन्य संस्कृतियों का उस पर असर हुआ है। किंतु पुराने ज़माने में बदलाव धीमे होते थे और अंदर से अनुकूलन का समय मिलता था। बाहरी प्रभावों को आहिस्ता-आहिस्ता अपनाया गया, संस्कृति की अपनी शर्तों पर।

परंतु हाल के वर्षों में, बाहरी ताकतें लद्दाखियों पर भूस्खलन की तरह गिरी हैं, जिसके कारण बहुत बड़े पैमाने पर सब कुछ अस्त-व्यस्त हो गया है। भारतीय सेना, जो 1962 से लद्दाख क्षेत्र को पाकिस्तानी और चीनी घुसपैठ से बचाने के लिये थी, का पहले ही संस्कृति पर प्रभाव पड़ चुका था। किंतु बदलाव की प्रक्रिया गंभीरता से 1974 में तब शुरू हुई, जब भारत सरकार ने इस क्षेत्र को पर्यटन हेतु खोल दिया — यह कदम कदाचित्त इसलिए उठाया गया ताकि लद्दाख को दृढ़ता के साथ भारत के नक्शे में, उसके अपने क्षेत्र के रूप में रख दिया जाए।

लगभग उसी समय जिले के विकास के लिये संगठित प्रयास आरंभ किये गए। अब तक, विकास लेह एवं उसके निकटवर्ती भागों तक सीमित था; लगभग 70 फीसद आबादी अभी भी कुल मिलाकर पारंपरिक ढंग से रहती है। परंतु अब आधुनिकीकरण के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को समूचे क्षेत्र में देखा जा सकता है।

लद्दाख के लिये विकास की नीतियों का निर्धारण काश्मीर की राज्य सरकार तथा दिल्ली की केंद्रीय सरकार द्वारा किया जाता है। लद्दाख, एक सांसद दिल्ली को और एक प्रतिनिधि राज्य सरकार को भेजता है। स्वयं लद्दाख में, शासकीय कामों का प्रशासन उन अधिकारियों के हाथों में होता है, जो प्रायः लद्दाखी नहीं होते और वहाँ की भाषा भी नहीं बोलते। प्रशासन का प्रमुख या विकास आयुक्त, भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी होता है और जो औसतन दो या तीन वर्ष इस पद पर रहता है। लद्दाख में अपने सोलह वर्षों के दौरान मैंने सात विकास आयुक्तों को देखा है।

विश्व के अन्य भागों की तरह ही लद्दाख में विकास का अर्थ है पश्चिम की तर्ज पर विकास। इस प्रक्रिया में खासतौर पर “अधोसंरचना” की ओर ध्यान दिया गया है — विशेषतः सड़कें और ऊर्जा का उत्पादन। बिजली को सरकार के बजट में सर्वाधिक धन आवंटित किया जाता है। जैसा कि गत बीस वर्षों के आँकड़े बताते हैं और सिंधु नदी पर हाल ही में तैयार हुए कई लाख डॉलर के चार-मेगावाट के जल-विद्युत संयंत्र की स्थापना से स्पष्ट हैं। पश्चिम शैली का उपचार व शिक्षा अन्य बुनियादी आधार शिलाएँ हैं। स्वास्थ्य केंद्र तथा स्कूल अब दूरस्थ गाँवों तक में स्थापित कर दिये गए हैं। अन्य मूल परिवर्तनों में बड़ा और बढ़ता पुलिस बल, लेह में न्यायालय, बैंक एवं रेडियो तथा दूरदर्शन (यह अभी तक केवल लेह व उसके आसपास ही है) हैं।

विकास के प्रयासों को पंख लगने से औपचारिक क्षेत्र भी तीव्र गति से बढ़ रहा है। धन की अर्थव्यवस्था हर स्तर पर उन्नत हुई है तथा सरकार बढ़ते हुए आयात के लिये अनुदान देती है। 1985 से 1986 तक 6,000 टन गेहूँ व चावल केवल लेह जिले में लाया गया, जबकि 900,000 पौंड कोयला और 50,000 घन फुट जलाऊ लकड़ी का प्रतिवर्ष आयात होता है। इसमें से अधिकांश के लिये सरकार से आर्थिक अनुदान (सबसिडी) प्राप्त होता है। यातायात घातांकित गति से बढ़ रहा है, क्योंकि सैकड़ों ट्रक प्रतिदिन भारत के मैदानी क्षेत्रों से सामान भर कर लंबी दूरी तय करके आते हैं। जीपों, बसों और उनमें ठसे हुए हजारों पर्यटक सड़कों के आसपास तथा राजधानी में भीड़भाड़ और वायु प्रदूषण बढ़ाते हैं।

आधुनिक जगत से संपर्क के कारण जनसंख्या में बेतहाशा वृद्धि हो रही है जो कि भारतीय औसत से अधिक है। 1971 में 51,891 से 1981 में 67,733 की वृद्धि 31 प्रतिशत की दर

से हुई। इसकी तुलना 1901 (32,614) से 1911 (33,434) से करें तो वृद्धि दर मात्र 3 प्रतिशत थी। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों के पलायन के कारण लेह और उसके इर्द गिर्द गृह निर्माण में अत्यधिक वृद्धि हुई है, जहाँ शहरी फैलाव गंदी बस्तियों जैसा दिखाई देने लगा है, जो तीसरी दुनिया का चरित्र है।

विकास पैकेज का एक अविभाज्य अंग पर्यटन है, क्योंकि इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। 1974 के शिशिर में मुट्ठी भर सैलानी आए थे, यह संख्या 1984 में बढ़कर लगभग 15,000 तक जा पहुँची। इनमें से अधिसंख्य लोग जून से सितंबर तक के चार महीनों में आते हैं और शायद ही कोई अपवाद स्वरूप लेह न जाता होगा, जिसकी आबादी करीब 10,000 है। पर्यटन के कारण संबंधित व्यापारों में भी उफान आया है, जिसमें निर्माण भी शामिल है और यहाँ तकरीबन सौ से अधिक होटल तथा अतिथिगृह बन चुके हैं, जहाँ पहले एक भी नहीं था।

पर्यटन का भौतिक संस्कृति पर असर अत्यधिक व्यापक और चिंताजनक है। लेकिन इससे भी अधिक अहम लोगों के मन पर पड़ने वाला प्रभाव है।



अध्याय नौ

मंगल ग्रह के लोग

एक गाँव में मैंने एक पदयात्रा (ट्रेकिंग) करने वाले समूह को देखा जो कैमरों, बोन-बोन और कलमों से लैस थे और उन्होंने जैसे गाँव पर आक्रमण ही कर दिया था। चमकीले हरे, लाल और नीले रंगों के वस्त्र पहने उन्होंने बिना सावधान किये कुछ की तसवीरें खींचीं और अपने अगले शिकार की ओर चल पड़े।

कुपित पर्यटक, 1990

कल्पना कीजिए कि आप अपना रोजमर्रा का जीवन हमेशा की तरह जी रहे हैं और एकाएक देखते हैं कि आपके कस्बे पर अन्य ग्रह से आए लोगों ने हमला कर दिया है। अजीब भाषा बोलते, दिखने में और भी अजनबी लगते ये बाहरी जीव विचित्र एवं असामान्य जीवन जीते हैं। वे शायद नहीं जानते कि काम क्या बला है, अपितु निरंतर फुर्सत में रहते हैं। इसके अलावा, उनके पास विशेष शक्ति और अकूत धन है।

फिर यह भी कल्पना कीजिये कि आपके बच्चे इस अनुभव की कैसी अनुक्रिया करेंगे, वे कितने सम्मोहित हो जाएँगे। ज़रा सोचिये कि उन्हें इन जन्तुओं की नकल करने से रोकना कितना कठिन होगा, उन्हें यह विश्वास दिलाना कि वे आपके साथ घर पर ही रहें तो ठीक होगा। आप प्रभावित किशोरों को कैसे रोकेंगे, जो अपनी पहचान की खोज में हैं, अपने पैरों से उखड़ने के लिये तत्पर हैं?

जब लद्दाख में पर्यटन शुरू हुआ, तब मैं वहाँ थी और होने वाले परिवर्तन को मैंने आरंभ से देखा है। चूँकि मैं धारा प्रवाह लद्दाखी बोल सकती थी, मैंने उन तीव्र मनोवैज्ञानिक दबावों को गहराई से समझा है, जो आधुनिकीकरण से पैदा होते हैं। लद्दाखी परिप्रेक्ष्य से आधुनिक संसार को देखते हुए, मुझे इस बात का ज्ञान हो सका कि बाहर से देखने में हमारी संस्कृति निश्चित रूप से अधिक सफल दिखाई देती है, बजाय उस तजुर्बे के जो हमें उसे अंदर से देखने में प्राप्त होता है।

बिना किसी चेतावनी के, दूसरी दुनिया के लोग लद्दाख में उतरे। हर दिन कई तो सौ डॉलर खर्च करते थे, राशि जो मोटे तौर पर अमेरिका में खर्च होने वाले पचास हजार डॉलर के बराबर है। पारंपरिक रूप से जीवित रहने हेतु परिपूर्ण अर्थव्यवस्था में पैसों की भूमिका नगण्य थी, जिसका उपयोग मुख्यतः विलासिता — आभूषण, चाँदी और सोने के लिये होता था। मूल आवश्यकताओं — भोजन, वस्त्र और घर की पूर्ति बिना पैसों के होती थी। श्रम निःशुल्क था, मानवीय रिश्तों के जटिल सूत्र का अंग।

एक ही दिन में, एक पर्यटक उतनी राशि खर्च कर सकता है, जितनी लद्दाखी परिवार एक वर्ष में करता है। लद्दाखी नहीं जानते थे कि पैसों की विदेशियों के लिये एकदम अलग भूमिका थी; घर लौटकर उन्हें जीवित रहने के लिये; भोजन, वस्त्र और घर चाहिये, इस सब के लिये पैसा चाहिये — बहुत सारा पैसा। इन अजनबियों की तुलना में, वे एकाएक स्वयं को निर्धन समझने लगे। मेरे लद्दाख के पहले प्रवास के दौरान, मैंने देखा था कि छोटे बच्चे दौड़ कर मेरे पास आते और मेरी हथेली में खूबानी रख देते थे। अब वे ही नन्ही आकृतियाँ फटे-पुराने पश्चिमी कपड़ों में जीर्ण-शीर्ण 'डिकेन्सियन' लगने लगे हैं और विदेशियों से अभिवादन करके हाथ फैलाते हैं। वे “वन पेन, वन पेन” माँगते हैं, जो लद्दाखी बच्चों का नया मंत्र बन गया है।

और पर्यटक सोचते हैं कि उनकी तुलना में लद्दाखी पिछड़े हैं। कुछ, जिन्हें गाँव के घर में बतौर अतिथि रहने का अवसर मिला है, कहते हैं कि यह उनकी छुट्टियों का सबसे दिलचस्प समय था। परंतु उनमें से ज्यादातर, लद्दाखी संस्कृति को केवल बाहर से देख पाते हैं और वे उसे अपनी संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था के अनुभवों के आधार पर देखते हैं। वे मानते हैं कि पैसे की लद्दाख में वही भूमिका है, जो उनके यहाँ है। यदि वे किसी लद्दाखी से मिलते हैं जिसकी आय मात्र दो डॉलर प्रतिदिन है, तो वे हैरान रह जाते हैं और अपनी हैरानी को व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में प्रदर्शित करते हुए उससे कहते हैं, “अरे तू बेचारा, मैं तुझे बड़ी टिप दूँगा।” पश्चिम की दृष्टि में लद्दाखी दिखते ही गरीब हैं। पर्यटक केवल संस्कृति के भौतिक पक्ष को देख पाते हैं — घिस चुके ऊनी लबादे, हल चलाता हुआ ‘दूजो’, बंजर भूमि। वे उस मन की शांति को या परिवार-समुदाय के संबंधों की गुणवत्ता को नहीं देख पाते। वे लद्दाखियों की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक संपत्ति को नहीं देख पाते।

यह भ्रांति फैलाने के अतिरिक्त कि पश्चिम के लोग करोड़पति हैं, पर्यटक आधुनिक जीवन की एक और गलत छवि भी पेश करते हैं — कि हम कभी काम नहीं करते। ऐसा दिखाते हैं मानो तकनीक हमारे सारे काम कर देती है। आज के औद्योगिक समाज में, ग्रामीण व कृषि अर्थव्यवस्था में काम करने वालों की तुलना में दरअसल हम अधिक काम करते हैं। किंतु ऐसा लद्दाखियों को नहीं दिखाई देता, उनके लिये काम का अर्थ है शारीरिक कार्य, चलना और

वस्तुओं को उठाना। कार के पहिये के पीछे स्टेरिंग पर बैठा व्यक्ति अथवा टाइपराइटर पर बटन दबाने वाले को वे काम करने वाला नहीं समझते।

एक दिन मैंने चिट्ठियाँ लिखते हुए दस घंटों तक काम किया। मैं थक कर चूर हो गई थी, तनाव और सिरदर्द होने लगा था। शाम को जब मैंने शिकायत की कि अधिक परिश्रम करने से मैं थक गई हूँ, तो जिस परिवार में, मैं रह रही थी वह हँसने लगा; उनको लगा कि मैं मज़ाक कर रही हूँ। उनकी नज़रों में, मैं काम नहीं कर रही थी; मैं सिर्फ मेज़ के सामने बैठी थी, साफ-सुथरी, मेरी भाँहों पर कोई पसीना नहीं था, केवल कागज़ के टुकड़े पर कलम इधर से उधर सरका रही थी। ये कोई काम है? लदाखियों ने अभी तक इस प्रकार के दबाव, बोरियत और निराशा का अनुभव नहीं किया है, जो पश्चिम में हमारे जीवन का अंग है। एक बार मैंने तनाव या दबाव की अवधारणा कुछ ग्रामीणों को समझाने की चेष्टा की। “तुम्हारा मतलब है, तुम्हें क्रोध आता है, क्योंकि तुम्हें काम करना पड़ता है?” यह उनकी अनुक्रिया थी।

हर दिन मैं दो संस्कृतियों के लोगों को देखती थी, जिनमें ज़मीन-आसमान का अंतर था; वे एक दूसरे को देखते और उनके विषय में कृत्रिम, एक आयामी धारणा बनाते थे। पर्यटक, लोगों को अपनी पीठ पर भार लादे, पहाड़ी दरों पर लंबी दूरी तय करते देखते और कहते, “कितना भयावह; इतनी कड़ी मेहनत।” वे भूल जाते हैं कि वे हजारों मील की दूरी नाप कर और हजारों डॉलर खर्च करके, अपनी पीठ पर भारी भरकम बैकपैक लटका कर उन्हीं पहाड़ों पर चलने का आनंद उठाने के लिये आए हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि उनके शरीर की कितनी हानि घर पर उसका उपयोग न होने के कारण होती है। कार्य के घंटों के दौरान उन्हें कोई व्यायाम नहीं मिलता, इसलिए वे अपना खाली समय उसकी भरपाई करने की कोशिश में बिताते हैं। कुछ तो व्यस्त घंटों के बीच प्रदूषित शहर को पार कर — ड्राइव करके हेल्थ क्लब जाते हैं — ताकि तल मंजिल में सायकल के पैडल मारे, जो कहीं जाती नहीं है और इस सुविधा के लिये उन्हें पैसे भी खर्च करने पड़ते हैं।

विकास अपने साथ केवल पर्यटन ही नहीं लेकर आया है, अपितु पाश्चात्य और भारतीय फिल्मों तथा हाल ही में टेलीविज़न भी लाया है। ये सब मिलकर विलासिता और शक्ति की अभिभूत करने वाली छवि उभारते हैं। यहाँ अनगिनत चीज़ें और जादुई उपकरण हैं। और यहाँ मशीनें हैं — चित्र बनाने वाली मशीनें, समय बताने वाली मशीनें, आग जलाने वाली मशीनें, एक से दूसरे स्थान की यात्रा कराने वाली, किसी दूर रहने वाले से बातें कराने वाली। मशीनें आपके लिये सब कुछ कर सकती हैं; इसलिए क्या आश्चर्य कि पर्यटक इतने साफ-सुथरे लगते हैं और उनके हाथ सफेद और नर्म होते हैं।



संस्कृतियों में टकराव। पश्चिमीकृत भारतीय फिल्मों का गहरा प्रभाव युवा लदाखियों पर पड़ा है, जिसके कारण उन्हें अपनी परंपराओं व मूल्यों से शर्म आती है।

फिल्मों में धनी, सुंदर और साहसी ऐसा जीवन जीते हैं, जिसमें उत्साह और आकर्षण है। युवा लदाखियों के लिये उनके सामने जो चित्र प्रस्तुत किया जाता है, उसके आकर्षण से बचना असंभव है। इसकी तुलना में, उन्हें अपना जीवन आदिम, मूर्खतापूर्ण और अकुशल लगता है। आधुनिक जीवन का यह एक आयामी परिदृश्य उन्हें गाल पर तमाचे जैसा लगता है। वे स्वयं को मूर्ख समझते व लज्जित होते हैं। उनके अभिभावक उनसे जीवन का ऐसा मार्ग चुनने को कहते हैं, जिसमें खेतों में काम करके हाथ गंदे करना पड़ता है, वह भी बहुत कम या बिना पैसे के। पर्यटकों और फिल्मी नायकों की दुनिया के मुकाबले उन्हें अपनी संस्कृति बेतुकी लगती है।

विश्व भर के ग्रामीण क्षेत्रों के करोड़ों युवाओं को पाश्चात्य संस्कृति, उनकी अपनी संस्कृति से कहीं बेहतर लगती है। इसमें अचरज की कोई बात नहीं है, क्योंकि बाहर से देखने पर वे दुनिया का केवल भौतिक पक्ष देख पाते हैं — वह पक्ष जिसमें पाश्चात्य संस्कृति निश्चित ही श्रेष्ठतम है। वे उतनी सरलता से मनोवैज्ञानिक व सामाजिक आयामों — तनाव, एकाकीपन और बूढ़े होने के डर को नहीं देख पाते। और न ही वे पर्यावरण की तबाही, मुद्रास्फीति और बेरोजगारी को देख पाते हैं। दूसरी ओर, वे अपनी संस्कृति को भीतर-बाहर से जानते हैं, उसकी सभी सीमाओं और कमियों को भी।

एकाएक पश्चिम के अंतःप्रवाही असर के चलते कुछ लदाखी — विशेषतः युवाओं के मन में हीनता की भावना आ गई है। वे अपनी संस्कृति को सिरे से खारिज करते हैं और साथ ही तेजी से नई को अंगीकार करते हैं। वे आधुनिकता के चिह्नों की ओर भागते हैं: धूप के चश्में, वाकमैन, बहुत छोटी नीली जीन्स, इसलिए नहीं कि वे उसे अधिक आकर्षक या आरामदेह पाते हैं, किंतु इसलिए कि वह आधुनिक जीवन का प्रतीक है।

आधुनिक प्रतीकों के कारण लदाख में आक्रामकता में भी वृद्धि हुई है। अब युवक हिंसा को पर्दे पर महिमा मंडित होते हुए देखते हैं। पश्चिमी शैली की फिल्मों के कारण वे सोचते हैं कि यदि उन्हें आधुनिक बनना है, तो एक के बाद दूसरी सिगरेट पियें, तेज रफ्तार कार लें और ग्रामीण अंचल में उसे चलाते हुए दोनों ओर के लोगों को गोलियों से भूनते हुए चलें!

युवा लदाखियों में आए इस बदलाव को देखना दुःखद है। निश्चित तौर पर सारे युवा हिंसक नहीं हो गए हैं, पर अब वे क्रोधित होते हैं और कम सुरक्षित महसूस करते हैं। मैंने इस धीमे सांस्कृतिक परिवर्तन को देखा है — एक संस्कृति जिसमें लोग, यहाँ तक कि युवा भी, बच्चों को दुलराने या अपनी दादी-नानियों के प्रति मृदु और स्नेही हुआ करते थे।

जब मैं दावा से मिली थी तब वह लगभग पंद्रह वर्ष का था और तब भी अपने गाँव में ही रहता था। जब पर्यटकों का आना शुरू हुआ, तो वह गाइड बन गया। वह अपने गधों और खच्चरों का उपयोग ट्रेकिंग के लिए भारवाहक पशुओं की तरह करने लगा। कई वर्षों तक मेरा उससे संपर्क न हो सका, किंतु मेरे सुनने में आया कि उसने अपनी खुद की पर्यटक एजेंसी खोल ली है — वह ऐसा करने वाले पहले लदाखियों में से एक था। फिर एक दिन बाजार में, मैं एक नवयुवक से टकराई, जो एकदम नए फैशन की वस्तुएं धारण किये हुए था: मैटेलिक सनग्लास, टी-शर्ट जिस पर किसी अमरीकी रॉक बैंड का विज्ञापन था, चमड़ों पर चिपकने वाली तंग जीन्स और बास्केटबाल जूते। वह दावा था।

“मैं मुश्किल से तुझे पहचान सकी,” मैंने लदाखी में कहा।

“कुछ बदल गया है, है ना?” उसके अंग्रेजी में गर्व से बताया।

हम एक रेस्तरां में गए, जो दुनिया के हर कोने के पर्यटकों से भरा हुआ था। दावा की जिद थी कि हम अंग्रेजी में बात करें।

“आप जानती हैं, मैं अब अपने लिये काम करता हूँ? धंधा अच्छा चल रहा है, हेलेना। मेरे बहुत ग्राहक हैं और मैं खूब पैसा कमा रहा हूँ। अब मेरे पास लेह में कमरा है।”

“मुझे आश्चर्य है कि मैंने तुम्हें काफी समय से नहीं देखा,” मैंने कहा।



लदाख में लड़कों व लड़कियों को पालन-पोषण की नैसर्गिक प्रवृत्ति विकसित करने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है।

“मैं यहाँ बहुत कम रहता हूँ — मैं श्रीनगर में पर्यटक समूहों को स्वयं इकट्ठा करता हूँ और मेरा अधिकतर समय ट्रेकिंग और मठों को दिखलाने में व्यतीत होता है।”

“तुम्हें अपना नया जीवन पसन्द है?”

“मैं इसे पसंद करता हूँ। अधिकांश पर्यटक असली वीआईपी होते हैं। लदाखियों के जैसे नहीं जो सारा दिन सुस्त बैठे रहते हैं।” उसने मुस्कुरा कर कहा। “न्यूयार्क के एक सर्जन ने मुझे यह दिया, उसने अपना नया-नक़ोर बैंकपैक (पीठ पर लटकाने का बस्ता) दिखा कर कहा।

“क्या तुम अकसर गाँव जाते हो?”

“हर कुछ महीनों में — उन्हें चावल और शक्कर देने के लिये। और वे हमेशा चाहते हैं कि मैं वापस जा कर फसल कटाई में उनकी सहायता करूँ।”

“घर जाना कैसा लगता है?”

“बोर होता हूँ। वे कितने पिछड़े हैं! अभी तक हमारे यहाँ बिजली नहीं है और अबी (दादी) चाहती भी नहीं कि बिजली आए।”

“हो सकता है उन्हें पुराना रिवाज़ अच्छा लगता हो।”

“अब वे चाहें तो अपने पुराने तरीकों से चिपके रहें, पर उनके आसपास का लदाख बदल

जाएगा। हमने खेतों में बहुत समय तक काम कर लिया, हेलेना; अब हम उतना कठोर श्रम नहीं करना चाहते।”

“तुमने कहा कि लद्दाखी सारा दिन आलसियों जैसे बैठे रहते हैं।”

“मेरा आशय यह था कि वे नहीं जानते कि आगे कैसे बढ़ें।” दावा ने अपनी जेब से माल् बोरोज़ का पैकेट प्रदर्शन करते निकाला और मैंने इनकार किया तो उसने एक सिगरेट अपने लिये सुलगाई और चिंतित मुद्रा में मेरी ओर झुका।

“आज प्रातः मेरा अपनी गर्लफ्रेंड से झगड़ा हुआ। मैं उसे ही ढूँढ़ रहा था कि तुम मिल गई।

“अच्छा! कौन है तुम्हारी गर्लफ्रेंड?”

“मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता कि अभी भी वह मेरी महिला मित्र है, पर वह हालैंड की है। वह मेरे एक पर्यटक दल में थी और मेरे साथ रहने हेतु रुकी, पर उसे अब यहाँ अच्छा नहीं लगता — वह घर जाना चाहती है और वह मुझे भी अपने साथ ले जाना चाहती है, हालैंड में रहने के लिये।”

“क्या तुम ऐसा करोगे?” मैंने पूछा।

“मैं अपने परिवार को नहीं छोड़ सकता। उन्हें उन पैसों की आवश्यकता है जो मैं कमाता हूँ, पर यह उसकी समझ में नहीं आता।”



अध्याय दस

पैसा है तो दुनिया बस में

हमारे यहाँ कोई गरीबी नहीं है।

त्सेवांग पालजोर, 1975

यदि आप लद्दाखियों की कुछ मदद कर सकें, हम बहुत गरीब हैं।

त्सेवांग पालजोर, 1983

पारंपरिक संस्कृति में, ग्रामवासी अपनी ज़रूरत की वस्तुएँ बिना पैसे के प्राप्त कर लेते थे। उन्होंने ऐसा कौशल विकसित कर लिया था कि वे 12000 फुट की ऊँचाई पर जौ उगा सकते थे और याक एवं अन्य पशुओं को और भी ऊँचाई पर पाल सकते थे। लोग अपने हाथों से घर बनाना जानते थे और उसके लिये सामग्री आसपास से ही मिल जाती थी। एक ही वस्तु जो उन्हें बाहर से लेनी पड़ती थी, वह था नमक, जिसके लिये लेन-देन कर लेते थे। धन का उपयोग बहुत सीमित मात्रा में, मुख्यतः विलासिता के लिये किया जाता था।

अब एकाएक, बतौर अंतर्राष्ट्रीय धन-अर्थ-तंत्र का एक भाग होने से, लद्दाखी अपने को अत्यावश्यक ज़रूरतों के लिये और भी अधिक दूसरों पर निर्भर पा रहे हैं — उस व्यवस्था पर जो दूरस्थ शक्तियों द्वारा नियंत्रित है। वे उन निर्णयों पर आश्रित हैं, जो उन लोगों द्वारा लिये जाते हैं जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि लद्दाख नाम का कोई स्थान है। यदि डॉलर का मूल्य बदलता है, तो उसका प्रभाव रुपये पर पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लद्दाखी जिन्हें जीवित रहने हेतु पैसा चाहिये, वे अब अंतर्राष्ट्रीय वित्त के प्रबंधकों के नियंत्रण में हैं। जब ज़मीन के साथ जुड़े थे तब वे अपने मालिक खुद थे।

शुरुआत में, लोगों को इस सत्य की जानकारी नहीं थी कि नई अर्थव्यवस्था पर निर्भरता पैदा करती है; चूंकि परंपरा से विलासिता की चीजें दूर से लाना अच्छी बात मानी जाती थी, पैसा एक फायदा दिखाई देने लगा और इसे बिना शर्त एक सुधार समझा गया। अब आप हर

प्रकार की विदेशी वस्तुएँ खरीद सकते हैं, जो पहले नहीं कर सकते थे, जैसे तीन मिनट नूडल और डिजिटल घड़ियाँ।

अब जब लोग अपनी जरूरतों के लिये एकदम ही अलग प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं पर अपने को आश्रित पाते हैं और वे मुद्रा-स्फीति की अनिश्चितता से असुरक्षित हैं तो फिर क्या आश्चर्य कि वे पैसों में उलझ गए हैं। लद्दाख में दो हजार वर्षों तक एक किलो जौ एक किलो जौ होती थी, पर अब आप उसकी कीमत के विषय में पक्के तौर पर कुछ नहीं कह सकते। आज आपके पास यदि दस रुपए हैं तो आप दो किलो जौ खरीद सकते हैं, पर आप कैसे जानेंगे कि इतने रुपयों में कल कितनी जौ खरीद सकेंगे? “यह भयानक है,” एक लद्दाखी मित्र ने मुझसे कहा। “हर कोई इतना लोभी होता जा रहा है। पैसा पहले कभी महत्वपूर्ण नहीं था, पर अब लोग केवल इसी के विषय में सोचते हैं।”

परंपरा से, लोग संसाधनों की सीमा और अपनी वैयक्तिक जिम्मेदारियों के प्रति सतर्क रहते थे। मैंने बुजुर्गों को कहते सुना है: “यदि हम अपनी ज़मीनों के टुकड़े करने लगे और संख्या में बढ़ते जाएँ तो क्या होगा? ऐसा नहीं चल सकता।” परंतु नई अर्थ प्रणाली लोगों को भूमि से काट देती है। काम के बदले पैसा शहर में है, जहाँ आप उस जल व मिट्टी को नहीं देख सकते जिन पर आपका जीवन निर्भर है। गाँव में आप खुली आँखों से देख सकते हैं कि ज़मीन कितने मुँह में निवाला डाल सकती है। एक निश्चित क्षेत्र केवल इतनी ही पैदावार दे सकता है, अतः आप जानते हैं कि जनसंख्या को स्थिर रखना कितना महत्वपूर्ण है। शहर में ऐसा नहीं है; केवल यह प्रश्न है कि तुम्हारे पास कितना पैसा है और जन्म दर की कोई अहमियत नहीं रह गई। अधिक पैसे से आप भोजन खरीद सकते हैं। और ये, जौ या गेहूँ की अपेक्षा ज्यादा तेजी से बढ़ सकता है, जबकि जौ या गेहूँ प्रकृति के अपने नियमों, लय और सीमाओं पर आश्रित हैं। पैसे की कोई सीमा नहीं है; स्थानीय जम्मू काश्मीर बैंक का एक विज्ञापन कहता है, “आपका पैसा हमारे साथ तेजी से बढ़ता है।”

सदियों से, लोग बतौर मित्र बराबरी से काम करते थे – बारी-बारी से एक दूसरे की सहायता करते हुए। अब चूँकि कटाई के समय श्रम के लिये पैसा देना पड़ता है; जिसे पैसा देना होता है वह कम से कम देना चाहता है, जबकि वह जिसे लेना है, अधिक से अधिक लेना चाहता है। रिश्ते बदल गये हैं। पैसा लोगों के बीच की खाई बन गया है, वह उन्हें एक दूसरे से दूर कर रहा है।

तब घर में उत्सव का माहौल रहता था, जब त्सोरिंग और सोनम डोलमा के मित्र उनके साथ काम में हाथ बटाने के लिये पारंपरिक ‘इहान्गस्डे’ के रिवाज़ के अनुसार आते थे। उस अवसर के लिये सोनम विशेष खाना बनाती थी। किन्तु विगत कुछ वर्षों में यह चलन धीरे-धीरे समाप्त



परंपरा से कृषि कार्य में सब शरीक होते थे – परिवार के अंदर और घरों के बीच पारस्परिक व्यवस्था के अनुसार।

हो गया और लेह के निकट उनका खेत अब पैसे के बदले काम पर निर्भर होता जा रहा है। सोनम बड़ी कटुता से शिकायत करती है कि कीमतें बढ़ रही हैं और उसे बहुत मजदूरी देनी पड़ती है। मित्रगण मिलकर काम करते थे, वह उत्सवी वातावरण अब नहीं रहा; ये श्रमिक अजनबी हैं, कभी नेपाली तो कभी भारत के मैदानी क्षेत्रों के, जिनकी कोई एक भाषा नहीं है।

बदलती अर्थव्यवस्थाओं के कारण अब किसान बने रहना कठिन हो गया है। पहले, लोगों के बीच सहयोगात्मक श्रम के कारण, कृषकों को पैसों की जरूरत नहीं थी। अब अधिकाधिक मजदूरी देने में असमर्थ होने के कारण कई को गाँव छोड़ कर पैसा कमाने हेतु शहर जाना पड़ता है। जो नहीं जाते, उन पर लाभ के लिये अन्न उगाने का दबाव बढ़ता जाता है, न कि स्वयं के लिये अन्न उपजाने का। अब नगद फसल किसानों की पसंद बन रही है क्योंकि विकास की ताकतें उन्हें बाज़ार की अर्थव्यवस्था पर निर्भर बनाती जा रही हैं।

नई अर्थव्यवस्था अमीर और गरीब के बीच का अंतर भी बढ़ा रही है। पारंपरिक अर्थव्यवस्था में भी संपत्ति का फर्क था, परंतु उसके संग्रह की प्राकृतिक सीमाएँ थीं। आप केवल इतने याक रख सकते थे, या इतने किलो जौ का भंडारण कर सकते थे। दूसरी ओर, पैसे को आसानी से बैंक में रखा जा सकता है, इससे धनी और धनवान तथा गरीब और गरीब होते जा रहे हैं।

मैं एक लोबजांग नामक व्यक्ति को जानती थी, जिसकी लेह में प्राचीन कलाकृतियों की दूकान थी। अन्य कई लद्दाखी दूकानदारों की भाँति, उसने खेती-बाड़ी छोड़ दी थी और धनार्जन हेतु लेह आ गया था। किंतु उसकी पत्नी व बच्चे गाँव में ही रहते थे। वह अपने बच्चों के लिये अच्छे से अच्छा करना चाहता था और जैसे ही घर लेने योग्य हो जाएगा, उसकी योजना उन्हें शहर ले आने की थी, ताकि बच्चों को शिक्षा का लाभ मिल सके — विशेषतः वे अंग्रेजी सीख सकें।

मैं यँ ही उसकी दूकान में हेलो कहने के लिये आई थी, जब एक वृद्ध व्यक्ति, लोबजांग के गाँव से अपने मक्खन रखने के पात्र बेचने के लिये आया। गाँव से यह एक पूरे दिन की पैदल और बस की यात्रा थी। वृद्ध शायद कुछ दिन लेह में अपने संबंधियों के साथ बिताना चाहता था, अपने मक्खन पात्रों को बेचकर उन पैसों से घरेलू सामान खरीद कर ले जाना चाहता था। वह अपने बर्गन्डी ऊनी लबादों में प्रतिष्ठित लग रहा था। उसने दो जार काउन्टर पर रखे। उन बर्तनों में जंग जैसी हरी काई लगी थी, जो कई पीढ़ियों द्वारा प्रयुक्त होने से आती है। वे बड़िया खूबानी की लकड़ी के बने थे और उनमें ऐसी भव्यता थी, जो पर्यटकों को अवश्य आकर्षित करती। “ये अति सुंदर हैं,” मैंने कहा। “आप इसके बिना मक्खन किसमें रखेंगे?” “हम उसे उपयोग किये जा चुके दूध के टिन के डब्बों में रखते हैं।” उसने कहा।

उनमें कीमत को लेकर सौदेबाजी शुरू हुई। कदाचित् कुछ सप्ताह पहले, लोबजांग ने उससे कहीं अधिक कीमत देने का आश्वासन दिया था, जितना कि वह अब दे रहा था। उसने बर्तनों में कुछ दरारें दिखाई और अधिक देने को तैयार नहीं हुआ। मैं जानती थी कि पर्यटकों को बेचकर वह दस गुना अधिक कमाएगा। वृद्ध ने मेरी ओर याचना भरी नज़रों से देखा, पर मैं क्या कर सकती थी? वह निराश होकर झुके कंधों के साथ चला गया और अब उसके पास कुछ किलो चीनी खरीदने के पैसे थे।

“आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये था कि ये कितने सुंदर हैं।” लोबजांग ने मुझे डाँटा। “मुझे उसे अधिक पैसे देने पड़े।”

“पर वह तो आपके गाँव का था। क्या उसके साथ इतनी कठोर सौदेबाजी करना उचित था?”

“मुझे ऐसा करने से नफरत है, पर करना पड़ता है। और वह किसी अजनबी को बेचता, तो इससे भी कम पाता।”



अध्याय ग्यारह

लामा से अभियन्ता

किसे भिक्षुओं की आवश्यकता है?

लद्दाखी नवयुवक, 1984

लद्दाख को “विकसित” होते हुए देखने में यह कहना कठिन है कि परिवर्तन का मुख्य दलाल कौन है, पैसा या तकनीक। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये दोनों आपस में मजबूती से जुड़े हैं और मिलकर समाज के योजनाबद्ध रूपान्तरण की आधार शिला बनाते हैं।

लद्दाख ने अभी तक दूरगामी तकनीकी बदलाव का अनुभव नहीं किया है, किंतु वह आकर रहेगा यदि वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही। और परिवर्तन जो अब तक हो चुके हैं, वे पश्चिमी शैली के तकनीकी विकास के कुछ “परोक्ष प्रभावों” को प्रकट करने हेतु काफी हैं। एक उदाहरण लेह में डीजल चलित आटा-चक्की है। यह पुरानी जल-चक्की से कई गुना रफ्तार से अनाज पीसती है, पर लोगों को अपना गेहूँ और जौ, कई मील परिवहन कर के लाना पड़ता है तथा पिसाई के पैसे देने पड़ते हैं। तेज़ रफ्तार के प्रभाव से दाने गर्म हो जाते हैं और उनकी पौष्टिकता घट जाती है। इतना ही नहीं, मील हवा में प्रदूषणकारी धुँआ फैलाती है।

गाँव में तकनीक पारंपरिक ज्ञान पर आधारित थी और स्थानीय संसाधनों का उपयोग होता था। हल स्थानीय लकड़ी का बनता था और उसका लोहे का सिरा गाँव के लोहार द्वारा बनाया जाता था। याक या ‘दजो’ जो इसे खींचते थे, उन्हें ऊँचाई के चारागाहों की घास खिलाई जानी थी। इस प्रकार हल चलाने हेतु लगभग सभी कौशल और आवश्यक सामग्री का नवीनीकरण किया जा सकता था और वे सरलता से उपलब्ध होती थीं।

पारंपरिक अभियांत्रिकी की प्रशंसा में कसीदे पढ़ना सरल है, लेकिन पश्चिम में उनके अनेक फायदों की अनदेखी करना भी आम बात है। ताशी राबग्यास कभी-कभी नयों के मुकाबले पुराने के फायदों के बारे में बतलाते थे और खास करके मशीनों के बजाय पशुओं के साथ काम

करने के विषय में: “वे आपके दोस्त बन जाते हैं, उनसे आपका रिश्ता बन जाता है। यदि उन्होंने कोई खास अच्छा काम किया या अत्यधिक श्रम किया, तो आप उन्हें कुछ विशेष खाने को दे सकते थे। किंतु मशीनें मृत होती हैं, उनसे आप रिश्ता नहीं कायम कर सकते। आप उनके जैसे हो जाते हैं, आप स्वयं मुर्दा बन जाते हैं।”

बेशक, पुराने ढंग से हल चलाने में अधिक समय लगता है — एक एकड़ पूरा करने में आधा दिन लग सकता है। इसलिए स्वाभाविक है कि कोई कृषक, जो ताशी की भाँति कभी लद्दाख के बाहर नहीं गया, ऐसी अभियांत्रिकी का स्वागत करेगा, जिसमें समय की बचत होती हो। जब ट्रैक्टर किसी काम को आधे घंटे में कर सकता है, तो उसके लिये आधा दिन क्यों खराब करें? परंतु सच्चाई यह है कि, अंततः नई और तेज अभियांत्रिकियों से समय की बचत नहीं होती।

पारंपरिक अर्थव्यवस्था में, समय की कोई कमी नहीं थी और इसकी सीमाएँ केवल मौसम से प्रभावित होती थी। जितना भी काम हो, उसे करना था। जीवन मानवीय गति से चलता था और हर कोई धैर्यवान था। इसके विपरीत, आधुनिक अर्थव्यवस्था समय को वस्तु बना देती है, कोई चीज जिसे खरीदा व बेचा जा सके — और एकाएक उसका भी परिमाणीकरण हो गया है और वह अत्यंत छोटे भागों में बंट गया है। समय का मूल्य बढ़ गया है और जैसे-जैसे लोग “समय बचाऊ” अभियांत्रिकियों को प्राप्त करते जाते हैं, जीवन की रफ्तार और तेज होती जाती है।

अब लद्दाखियों के पास एक दूजे के और खुद के लिये समय कम है। इसके फलस्वरूप वे अपने इर्द गिर्द की दुनिया के प्रति अपनी तीव्र संवेदना को खोते जा रहे हैं — उदाहरण के लिये, मौसम के हल्के से परिवर्तन अथवा नक्षत्रों की चाल को पहचान लेने की योग्यता। मार्खा दर्रे के एक मित्र ने मुझे बताया, “मैं इसे समझने में असमर्थ हूँ। मेरी बहन राजधानी में है, उसके पास वे सभी चीजें हैं जो तेज गति से काम करती हैं। वह दुकान से अपने वस्त्र खरीद लेती है, उसके पास जीप है, टेलीफोन और गैस का चूल्हा है। ये सब वस्तुएँ समय बचाती हैं, फिर भी जब मैं उससे मिलने जाता हूँ, तब उसके पास मुझसे बातें करने का भी समय नहीं होता।”

बदलते हुए लद्दाख ने एक मारक सबक जो मुझे सिखाया है, वह है कि आधुनिक संसार के उपकरण व मशीनें समय की अवश्य बचत करती हैं, किंतु जीवन की रीति कुल मिलाकर समय हरने वाली है। विकास के परिणामस्वरूप, आधुनिक सेक्टर के लद्दाखी उस अर्थव्यवस्था के अंग बन गए हैं, जिसमें लोगों को उपलब्ध अभियांत्रिकियों की गति से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। यह, मेरे मतानुसार अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा है। उस समाज में जिसके पास टेलीफोन हैं, आप आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत बड़े घाटे में हैं — यदि आपके पास नहीं है।

अपना संदेश व्यक्तिगत रूप से देना, व्यावहारिक दृष्टि से सही विकल्प नहीं है। उसी तरह, एक बार कारें और बसें हो, तो आपके पास पैदल चलने या किसी पशु पर सवारी कर जाने का विकल्प नहीं रह जाता। आप प्रातः उठकर यह नहीं कह सकते, “आज मैं ड्राइव करूँगा या पैदल काम पर जाऊँगा।” जीवन की गति आपके लिये निर्धारित है।

मुझे याद है कि जब मैं पहली बार सोनम के साथ उसके परिवार से मिलने हेमिस शुकपाचन गई थी। जब हम रसोई में चुल्हे के आसपास बैठे थे, तो उसने उन पर्यटकों की नकल करके बताई जिन्हें उसने लेह में देखा था। “वे इतने व्यस्त दिखाई देते हैं,” उसने कहा, “वे कभी स्थिर नहीं बैठते। बस क्लिक, क्लिक, क्लिक ...।” उसने अपने दर्शकों की अबोधता के कारण फोटों खींचने का अभिनय करके बताया। उसके बाद उसने अपनी छोटी बहन के सिर को थपथपाया और पर्यटक की नकल उतारते हुए कहा “ये तेरे लिये बाल प्वाइंट पेन है।” वे हमेशा इसी तरह दौड़ते रहते हैं, उसने कूदते हुए और रसोई में झटके से दौड़-भाग करते हुए बताया। “उन्हें किस बात की जल्दी रहती है?”

तकनीकी परिवर्तन धनवान और निर्धनों के बीच के अंतर को भी बढ़ाता है। एक लद्दाखी जो अपनी कार में फर्राटे से निकल जाता है, पैदल चलने वालों को पीछे धूल में छोड़ते हुए, भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से। और फिर कई नई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जब लोग रहते एक जगह पर हैं और काम दूसरी जगह पर करते हैं। औरतों को स्वयं के भरोसे छोड़ दिया जाता है तथा समुदाय बिखर जाता है।

लोबजांग सरकारी ड्राइवर था। जब वह सेवानिवृत्त हुआ, उसने एक जीप खरीद ली और उसे लेकर अपने गाँव आ गया। गर्मियों में वह पर्यटकों को मठों को दिखाने ले जाता था और वर्ष के शेष महीनों में वह अपने पड़ोसियों को किराये पर लेह लाया, ले जाया करता था। इसके कारण अन्य ग्रामवासियों से उसके संबंध बदलने लगे — उसके पास अब कुछ था जो दूसरों के पास नहीं था और वह उन लोगों में से एक नहीं रह गया।

“भविष्य में और कदाचित वह दिन ज्यादा दूर नहीं है, जब हम ऐसी मशीन बना सकेंगे, आपके एक बटन दबाने पर आप जो चाहें — प्लास्टिक की बाल्टी से लेकर सेब तक बाहर आ जाएगा।” ऐसा मुझसे त्सेरिंग दोरजे ने कहा जब वह काश्मीर विश्वविद्यालय से लौटकर आया था, जहाँ भौतिकशास्त्र में उसकी बहुत रुचि हो गई थी। जब मैंने आश्चर्य व्यक्त किया, तो उसने कहा, “क्योंकि अंततोगत्वा हर चीज एक ही अणु से बनी होती है, तो कोई कारण नहीं कि हम उन अणुओं को मिला कर ऐसी वस्तु न बना सकें जो हम चाहते हों।” त्सेरिंग की भावनाएँ



प्राचीनता के प्रतीक, नए के प्रतीक।

मूल्यों एवं प्रवृत्तियों में हो रहे बुनियादी अंतर को प्रतिबिंबित करती है — लद्दाख में नई दुनिया का जन्म, एक वैश्विक परिदृश्य, जो मनुष्यों को प्रकृति की अन्य रचनाओं के ऊपर अधिक शक्ति देता है। पारंपरिक समाज में, सर्वाधिक सम्माननीय व्यक्ति लामा होता था। आधुनिक खंड में, वह अभियंता (इंजिनियर) है।

जब मैं स्टाक गाँव में स्मानला परिवार के साथ रह रही थी, तब मैंने पिता और दादी के बीच उनके सबसे छोटे लड़के के भविष्य के विषय में होने वाले वार्तालाप को सुना। ऐसे संवाद अनेक घरों में हो रहे थे। अबी (दादी) चाहती थी कि लड़का भिक्षु बने। उनका कहना था कि हर परिवार से एक न एक को मठ में होना चाहिये। परंतु पिता उसे आधुनिक शिक्षा दिलाने के इच्छुक थे ताकि उसे शासकीय नौकरी मिले। यद्यपि पिता धार्मिक प्रकृति के थे, वे चाहते थे कि उनका बेटा नए तौर-तरीकों को सीखे। बड़ा लड़का, न्यिनमा पहले ही काश्मीर के कृषि महाविद्यालय में अध्ययनरत था। अबी ने कहा, “देखो न्यिनमा का क्या हुआ जब वह स्कूल में पढ़ने गया। अब उसके मन में धर्म के प्रति कोई आदर नहीं है।” हाँ, पिता ने कहा, “पर शीघ्र ही वह पैसे कमाने लगेगा और यह आज के समय में आवश्यक है। हम कैसे जान सकते हैं कि क्या श्रेष्ठ है? यहाँ गाँव में हम नए तौर-तरीकों को नहीं जानते।”

लामा और अभियंता (इंजिनियर) का दुनिया को देखने का नज़रिया पूर्णतः अलग है। पुरानी आस्थाएँ यथार्थ के वर्णन पर आधारित थीं, जो एकता या समस्त जीवन की निर्भर उत्पत्ति की पक्षधर थीं, जबकि नई वैज्ञानिक अवधारणा पृथक्ता पर बल देती है। उसकी मान्यता है कि हम अलग हैं — शेष कृतियों की परिधि से बाहर। और प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है, उसे समझने के लिये, हमें पदार्थ को छोटे और छोटे टुकड़ों में विच्छेदन करके, प्रत्येक टुकड़े को पृथक् मानते हुए परीक्षण करना होगा।

लामा से अभियंता की ओर जाने का मतलब, नैतिक मूल्यों से अलग होना है, जो स्पष्ट व दयालुता का संबंध है, जो कि मूल्य-मुक्त वस्तुनिष्ठ से युक्त है, अभियंता का कोई नैतिक आधार नहीं है।



अध्याय बारह

पाश्चात्य रीति से सीखना

यदि आप जानते भी हों, तो भी किसी से पूछना बेहतर है।

लदाखी कहावत

वास्तविक शिक्षा के मूल्य से कोई भी इनकार नहीं कर सकता, जो है ज्ञान को विस्तारित और समृद्ध करना। परंतु आज शिक्षा कुछ और ही हो गई है। वह बच्चों को उनकी संस्कृति और प्रकृति से अलग कर देती है बल्कि उन्हें पश्चिमीकृत नगरीय पर्यावरण में संकीर्ण विशेषज्ञ बनने का प्रशिक्षण देती है। यह प्रक्रिया लदाख में विशेष रूप से स्पष्ट है, जहाँ आधुनिक स्कूली शिक्षा आँखों पर पट्टी बाँध देती है, बच्चों को उस संदर्भ को देखने से रोकती है जिसमें वे रहते हैं। जब वे स्कूल छोड़ते हैं तो अपने ही संसाधनों का उपयोग नहीं कर पाते, अपने ही संसार में कोई कार्य नहीं कर पाते।

मठों में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा को छोड़ कर पारंपरिक संस्कृति में “शिक्षा” नाम की कोई पृथक् प्रक्रिया नहीं थी। शिक्षा, समुदाय तथा उसके पर्यावरण से घनिष्ठ संबंध का उत्पाद थी। बच्चे दादा, नाना, परिवार और मित्रों से सीखते थे। उदाहरण के लिए, बुआई में मदद करते हुए वे सीख लेते थे कि गाँव के एक तरफ का हिस्सा थोड़ा गर्म है और दूसरी तरफ थोड़ा ठंडा। अपने निजी अनुभवों से बच्चे जौ की विभिन्न किस्मों के अंतर और प्रत्येक किस्म को कैसी खास उपजने की स्थिति की ज़रूरत होती है, को समझ लेते थे। वे सूक्ष्मतम जंगली पौधे को पहचानना और उसका उपयोग करना सीख जाते थे, तथा सुदूर पर्वतीय ढलान में अपने पशु को ढूँढ़ लेते थे। वे अपने आसपास के प्राकृतिक संसार के जटिल संजाल के विषय में, उनके ऊपर-नीचे होते संबंधों, युतियों, प्रक्रियाओं और बदलावों को सीखते थे।

पीढ़ी-दर-पीढ़ी, लदाखी स्वयं को वस्त्र और घर उपलब्ध कराने की कला सीखते हुए बड़े होते थे; कैसे याक के चर्म से जूते बनाना और कैसे भेड़ की ऊन से लबादे बनाना; कैसे मिट्टी

और पत्थर से घर बनाना; शिक्षा स्थान-केंद्रित थी और जिस जगत में वे रहते हैं उससे अंतरंग संबंधों को पुष्ट करने वाली थी, जो उन्हें, जैसे-जैसे वे बड़े होते थे, उसके उपयोग से संसाधनों का प्रभावी एवं अधिकाधिक उपयोग करना सिखाती थी।

ऐसी कोई शिक्षा आधुनिक स्कूल में नहीं दी जाती। बच्चों को अभियांत्रिकी समाज में विशेषज्ञ बनने की शिक्षा दी जाती है, बजाय कि एक पर्यावरणीय समाज में। स्कूल वह स्थान है जहाँ पारंपरिक कौशल को भुला ही नहीं दिया जाता है बल्कि उसकी ओर हीन दृष्टि से देखा जाता है।

पाश्चात्य शिक्षा, लदाख के गाँवों में सर्वप्रथम सत्तर के दशक में आई। आज यहाँ लगभग दो सौ स्कूल हैं। इसका मूल पाठ्यक्रम भारत के विभिन्न भागों में जो पढ़ाया जाता है, उसकी भोंडी नकल है; जो खुद ब्रिटिश शिक्षा की नकल है। उसमें लदाखी तो कुछ है ही नहीं। एक दफ़ा लेह के स्कूल की कक्षा में, मैंने एक पाठ्यपुस्तक में चित्र देखा जो लंदन या न्यूयार्क के बच्चे के शयनकक्ष का होगा। इसमें बड़ी सफाई से घड़ी किये गए रूमालों की थप्पी थी और निर्देश थे कि वेनिटी यूनिट के किस दराज में उन्हें रखना चाहिये। ऐसे ही मूर्खतापूर्ण उदाहरण सोनम की छोटी बहन की पाठ्यपुस्तक में थे। एक बार होमवर्क (गृहकार्य) में उसे बताना था कि पीसा की झुकती मीनार कितने अंश का ज़मीन से कोण बनाती है। एक बार वह ‘इलियड’ के अंग्रेजी अनुवाद से उलझ रही थी।

अधिकांश हुनर जो लदाखी बच्चे स्कूल में सीखते हैं, वे उनके किसी काम में नहीं आएँगे। वे उस शिक्षा का निकृष्ट संस्करण सीखते हैं जो न्यूयार्क के लिये उचित हो सकती है। वे उन पुस्तकों से पढ़ते हैं, जो उनके द्वारा लिखी गई हैं, जिन्होंने कभी लदाख में पैर नहीं रखा। जो 12,000 फीट की ऊँचाई पर जौ कैसे उगाई जा सकती है, या धूप में सुखाई ईंटों से घर कैसे बनाए जा सकते हैं, इस बाबत कुछ नहीं जानते।

आज विश्व के हर कोने में, “शिक्षा” नामक प्रक्रिया उसी अवधारणा पर और उसी यूरोप केंद्रित नमूने पर आधारित है। ध्यान दूर के तथ्यों और आँकड़ों पर केंद्रित किया जाता है – वैश्विक ज्ञान। किताबें ऐसी सूचनाएँ देती हैं जो पूरे ग्रह के लिये उचित हों। परंतु चूंकि एक ही तरह का ज्ञान जो विशिष्ट पर्यावरणीय पद्धतियों तथा संस्कृतियों से बहुत दूर है, पूरे विश्व पर लागू किया जा रहा है और बच्चे जो सीखते हैं, वह मूलतः नकली और जीवंत संदर्भ से एकदम अलग होता है। यदि वे उच्च शिक्षा की ओर जाते हैं तो वे भवन निर्माण के विषय में सीख सकते हैं, पर वे मकान कांक्रीट व इस्पात के होंगे, वैश्विक डिब्बे। इसी तरह यदि वे कृषि का अध्ययन करते हैं, तो औद्योगिक खेती करना सीखेंगे: रासायनिक खाद और कीटनाशक, बड़ी मशीनें और संकर बीज। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली हमें और गरीब बनाती जा रही है, क्योंकि वह

दुनिया भर में लोगों को एक जैसे संसाधनों का प्रयोग करना सिखाती है, जिसमें उनके अपने पर्यावरण की अवहेलना होती है। इसी प्रकार शिक्षा कृत्रिम कमी सृजित कर रही है और प्रतियोगिता को बढ़ावा दे रही है।

इस प्रक्रिया में सबसे स्पष्ट उदाहरण है जिस तरह से याक और उसके स्थानीय संकरों को हटाकर उनके स्थान पर जर्सी गायों को लाने में दृष्टिगोचर होता है। पारंपरिक अर्थव्यवस्था में याक महत्वपूर्ण है। यह ऐसा जानवर है, जो स्थानीय पर्यावरण के सर्वथा अनुकूल है और 16,000 फीट या उससे अधिक की ऊँचाई पर हिमनदों के पास रहना पसंद करता है। यह लंबी दूरियाँ तय करता है और चरने हेतु सीधी-खड़ी ढलान पर चढ़-उतर सकता है और उस अल्प वनस्पति पर गुज़ारा कर सकता है जो इस कठिन भूमि में उगती है। इसके लंबे बाल इसकी ठंड से रक्षा करते हैं और अपनी विशाल काया के बावजूद यह ऊबड़-खाबड़ चट्टानों में संतुलन बनाए रख सकता है। याक — ईंधन, गोشت, श्रम और बाल का प्रदाय करता है जिससे कंबल बुने जाते हैं। मादा याक भी सीमित मात्रा में पर बहुत पौष्टिक दूध, औसतन तीन लीटर प्रतिदिन देती है।

आजकल के मानदंडों के अनुसार याक “अकुशल” है। कृषि विशारद जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की है, इसकी और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। “‘ड्रिमो’ (मादा याक) मात्र तीन लीटर दूध एक दिन में देती है,” उनका कहना है, “हमें जिसकी आवश्यकता है वह जर्सी गायें हैं — वे प्रतिदिन तीस लीटर दूध देती हैं। विशेषज्ञों का प्रशिक्षण उसकी अनुशंसा करते समय, उन्हें विस्तृत सांस्कृतिक, आर्थिक और पर्यावरणीय नतीजों की ओर नहीं देखने देता। याक चरते समय दूर-दूर तक चलकर ऊर्जा का संचय करता है — ऊर्जा, जो ईंधन के अतिरिक्त, अंततः लोगों द्वारा भोजन, वस्त्र एवं श्रम के रूप में प्रयुक्त होती है। उसकी तुलना में जर्सी गाय, 16,000 फीट तक चल भी नहीं सकती, उस ऊँचाई में ज़िंदा रहना तो दूर की बात है। वह 10,000 या 11,000 फीट तक रह सकती है, जहाँ लोग रहते हैं और उसे विशेष आवास की जरूरत होती है। उसे विशेष रूप से तैयार किया गया चारा, उसके आवास में जाकर देना पड़ता है।

आधुनिक शिक्षा न केवल स्थानीय संसाधनों की उपेक्षा करती है, बल्कि उससे भी बुरा यह है कि वह लद्दाखी बच्चों के दिमाग में ऐसी सोच भर देती है कि वे स्वयं को व अपनी संस्कृति को हीन समझें। उनसे उनका स्वाभिमान छीना जा रहा है। स्कूल की हर बात पश्चिमी मॉडल को आगे बढ़ाती है, जिसका सीधा प्रभाव यह होता है कि वे अपनी खूद की परंपराओं पर लज्जित होते हैं।

1986 में स्कूली बच्चों से वर्ष 2000 में लद्दाख कैसा होगा, इसकी कल्पना करने को कहा गया। एक छोटी लड़की ने लिखा, “1974 के पहले, लद्दाख के बारे में दुनिया कुछ नहीं जानती थी, लोग असभ्य थे, हर चेहरे पर मुस्कान थी। उन्हें पैसों की आवश्यकता नहीं थी,



अपने पर्यावरण के लिये आदर्श, याक ऊँचे चरागाहों में चरते हैं।

जो कुछ भी उनके पास था, वह उनके लिये पर्याप्त था।” एक अन्य निबंध में एक बच्चे ने लिखा, “वे अपने गाने इस तरह गाते हैं, जैसे बड़े शर्म की बात हो, पर वे अंग्रेजी और हिंदी गाने बड़ी रुचि से गाते हैं। ... परंतु इन दिनों हम देखते हैं कि अधिकांश लोग, लद्दाखी वस्त्र नहीं पहनते, जैसे शर्म आती हो।”

शिक्षा लोगों को कृषि से खींच कर शहर में ले आती है, जहाँ वे पैसों के अर्थतन्त्र पर आश्रित हो जाते हैं। पारंपरिक लद्दाख में, बेरोजगारी जैसी कोई चीज़ नहीं थी। किंतु आधुनिक काल में अब अत्यंत सीमित संख्या में, विशेषतः सरकार में नौकरियाँ उपलब्ध होने के कारण जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा है। इसके फलस्वरूप बेरोजगारी गंभीर समस्या बन चुकी है।

आधुनिक शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ भी हुए हैं, जैसे साक्षरता व गणना कर सकने की दर में सुधार। इसके कारण लद्दाखी, बाहरी दुनिया में कौन सी शक्तियाँ काम कर रही हैं, इसके विषय में जानकारी प्राप्त कर सका है। परंतु ऐसा करने में, लद्दाखी एक दूसरे से तथा ज़मीन से बंट गए हैं और विश्व की आर्थिक सीढ़ी के सबसे निचले पायदान पर आ गए हैं।



अध्याय तेरह

केन्द्र की तरफ खिंचाव

ऐसा कुछ भी बचा नहीं रहेगा जो लद्दाख की संस्कृति को सिद्ध कर सके।

लद्दाख में परिवर्तन पर लेख का अंश — डोल्मा, आठ वर्ष

अधिक समय नहीं हुआ, जब मैं बस से लेह से सकती गाँव जा रही थी। जैसा कि प्रायः होता है, एक महिला ने मुझसे, मेरे देश के जीवन के बारे में पूछा। “वहाँ आपके लिये जीवन बड़ा सरल, सुखद होगा,” उसने कहा। “नहीं, वैसा नहीं है जैसा आप कल्पना करती हैं,” मैंने उत्तर दिया, “आपको आश्चर्य होगा, वहाँ अनेक नुकसान भी हैं।” मैंने उसे अपनी समस्याओं के विषय में बताया — कितने लोग बड़े नगरों में एक साथ ठूँसे हुए रहते हैं और फिर भी अपने पड़ोसियों के नाम तक नहीं जानते; कैसे माता-पिता के पास बच्चों के लिये समय ही नहीं होता; कैसे हवा बेहद प्रदूषित है, सड़कों पर शोर है। जब मेरी बात पूरी हुई, काफी पीछे बैठे एक व्यक्ति ने उस महिला से पूछा कि मैं क्या बता रही थी। “उन्होंने कहा कि वहाँ भी जीवन वैसा ही है, जैसा इन दिनों लेह में है।” महिला ने चिल्ला कर उत्तर दिया।

जब मैं पहली मर्तबा लेह आई थी, तब यह बड़ा प्यारा कस्बा था। यहाँ केवल दो फर्श लगी सड़कें थी और मोटर वाहन कभी-कभार ही दिखाई देता था। गायों के कारण ही भीड़-भीड़ होती थी। हवा स्फटिक जैसी स्वच्छ थी, इतनी साफ कि घाटी के उस पार करीब बीस मील दूर बर्फ से ढंकी पर्वतों की चोटियाँ इतनी पास लगती थी, कि जैसे उन्हें छू लो। कस्बे के केंद्र से किसी भी ओर जाओ तो पाँच मिनट तक चलने पर जौ के खेत होते थे, बीच-बीच में बड़े खलिहान थे। लेह में गाँव जैसा माहौल था; हर कोई एक दूसरे को जानता था और अभिवादन करता था।

विगत सोलह वर्षों में मैंने इस गाँव को बेतरतीबी से फैलता एक शहर बनते देखा है। आत्माहीन, कोठरीनुमा “हाउसिंग कालोनियों” ने हरे भरे खेतों को लील लिया है और वे अब धूल-धूसरित मरु भूमि बन गये हैं, बीच-बीच में कहीं भी वृक्ष नहीं, अपितु बिजली के खंभे हैं

और फेंका गया प्लास्टिक का कचरा अब यहाँ का आम नज़ारा है, विज्ञापन पट्टों (होर्डिंग) में सिगरेट एवं दुग्ध-पावडर के विज्ञापन हैं।

शताब्दियों से लेह लद्दाखी टिकाऊ अर्थतंत्र के अंतर्गत रहा। ग्रामीण व शहरी के बीच गतिशील संतुलन था और दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। कुछ लोग जबकि बाहरी दुनिया से व्यापार करके जीविका चलाते थे, अधिकांश आर्थिक गतिविधि स्थानीय संसाधनों पर आधारित थीं। अब विकास लेह को भिन्न आर्थिक नीवों का केंद्र बना रहा है। सड़कों के निर्माण से गाँवों का बाहरी दुनिया से संपर्क हो रहा है और अब लद्दाख की पहुँच वैश्विक वृहत अर्थव्यवस्था तक हो गई है। इसके कारण स्थानीय आर्थिक गतिविधियाँ सिमट कर राजधानी (लेह) में केंद्रित हो गई हैं। वहाँ आधुनिक जीवन के सभी तत्त्व आ गए हैं: बिजली, एक पेट्रोल पंप, सरकार, वेतन पर नौकरी, एकमात्र चिकित्सालय और छविगृह, अच्छे स्कूल, दो बैंक, यहाँ तक कि फुटबाल स्टेडियम भी। अन्य स्थानों की तरह लद्दाख में भी विकास, बवंडर की भाँति हुआ है। लोगों को बड़ी निर्दयता से केंद्र की ओर खींचा गया है। गत सोलह वर्षों में लेह की जनसंख्या लगभग दुगुनी हो गई है और ग्रामीण आबादी कम हुई है, क्योंकि युवा लोग काम व शिक्षा की तलाश में शहर की ओर जा रहे हैं।

लगातार आने वालों की भीड़ और इतनी कम जगह के कारण कई समस्याएँ सिर उठाती हैं। गर्मियों में लेह की सड़कें रूको-और-बढ़ो यातायात से भरी होती हैं। हवा में डीज़ल का धुँआं दम घोंटता है। पारंपरिक सौहार्द्र का स्थान धकेल कर आगे निकलने की आधुनिक शहरी जिंदगी ने ले लिया है। लोग एक-दूसरे के काफी करीब रहते हैं, इसके बावजूद उनके बीच दूरी बढ़ी है। राजनैतिक और आर्थिक ढाँचा जिसने पारंपरिक सहायता तथा एक दूजे पर निर्भरता को गाँव में प्रोत्साहित किया था, टूट गया है; बीमारी या अन्य ज़रूरतों के समय, लेह का व्यक्ति अपने गाँव में निवास करने वाले संबंधियों से सहायता लेना पसंद करता है, बजाय अपनी ही इमारत में दीवार के उस ओर रहने वाले अजनबियों से। रहने की जगह खचाखच भरी है — प्रायः आठ सदस्यों के परिवार के लिये दो छोटे कमरों से अधिक नहीं है, जिनमें स्नानघर या रसोईघर तक नहीं होता।

नोबू का पालन-पोषण स्टोक गाँव में उसके पारिवारिक घर में हुआ था — एक तीन मंजिला भवन, चूने से पुती सफेद दीवारें और नक्काशीदार छज्जे। दस्तकारी से सुशोभित अग्र कक्ष थे, जहाँ से पोपलर वृक्षों की पंक्ति वाले खेत और हिमनद की धारा दिखाई देती थी। उसके एक ओर मठ था; और दूसरी ओर राजमहल।

अब नोबू लेह के एक कमरे में रहता है। एक खिड़की से वह धूल भरे फुटबाल के मैदान का कोना देख सकता है, एक कंटीले तारों की बागड़, विद्युत के खंभे और टूटे तारों के उलझे

हुए पुंज। पास में एक ढहती दीवार है, जो बतौर सार्वजनिक मूत्रालय के काम आती है और उस पर मवेशियों को दूर रखने हेतु टूटे काँच लगे हैं।

नोबू पूरी तरह से अपनी मर्जी से गाँव छोड़ कर लेह नहीं आया था — और किसी ने इस हेतु उस पर दबाव नहीं डाला था। यह वस्तुतः आधुनिकीकरण का प्रबल प्रभाव था, जो व्यक्तियों को शहरी केंद्रों की ओर ठेल रहा है। उसकी शिक्षा ने उसे आधुनिक क्षेत्र में काम करने हेतु तैयार किया था और सारी नौकरियाँ लेह में ही थी। अब वह बतौर किसान काम करने हेतु व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से योग्य नहीं रह गया था।

आज की केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था, ऊर्जा की अत्यधिक मात्रा के उपयोग पर निर्भर है और इस वजह से आम तौर पर संसाधनों का अधिक उपभोग होता है। नई सड़कों के संजाल में जो भारी निवेश हो रहा है वह दूर-दूर के उत्पादों पर निर्भरता को प्रोत्साहित करता है। लेह में आजकल लोग अपने लिये कुछ भी तैयार नहीं करते; अनाज, वस्त्र और भवन निर्माण सामग्री सभी कुछ शहर में लाई जा रही है — प्रदूषण फैलाने वाले ट्रकों का अटूट कारवाँ — कुछ मामलों में तो ये दक्षिण भारत तक से आता है। यहाँ तक कि पानी भी “आयात” किया जाता है, अक्सर आसपास के ग्रामीण अंचल की कीमत पर, जहाँ आवश्यक सिंचाई प्रदाय को घटाया जा रहा है। इसके फलस्वरूप पुरानी आजमाई हुई, पानी को क्रमवार बांटने की प्रथा टूट रही है।

नए आयातित उत्पादों से स्वास्थ्य के लिये कितना भारी खतरा है, इसकी लगभग थोड़ी सी भी जानकारी लोगों को नहीं है। कई लदाखी अब अपनी रोटी एस्बेस्टॉस के टुकड़ों पर सेंकते हैं और मैंने उन्हें कीटनाशक डिब्बों में नमक रखते देखा है। भारत में प्रयुक्त होने वाले सत्तर प्रतिशत कीटनाशक पश्चिम में या तो प्रतिबंधित हैं या उनके अत्यल्प उपयोग की अनुमति है; बावजूद इस हकीकत के कि लदाख में कीट का प्रकोप लगभग है ही नहीं, कृषकों को *बीएचसी* का प्रयोग करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है, जो कि *डीडीटी* से अधिक जहरीला होता है। एक दफा जब मैंने कुछ लदाखी मित्रों को समझाने का प्रयत्न किया कि जिस मक्खन का वे लोग इस्तेमाल कर रहे हैं, उसमें फार्मलडीहाइड होता है जो उनके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, तो उन्हें ताज्जुब हुआ। उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि यदि वह इतना नुकसानदेह है तो दूकानों में कैसे बिकता है और इतने सारे लोग क्यों उसे खा रहे हैं।

किसी भी प्रकार का अनुपयोगी कचरा पारंपरिक गाँव में होता ही नहीं था, किंतु लेह में पुनर्चक्रीकरण का कोई साधन नहीं है। फेंके गए प्लास्टिक, काँच, कागज और धातु की पैकिंग सामग्री, जो लंबी दूरी के परिवहन में काम आती है, कचरों के ढेर के रूप में इकट्ठा होते रहते हैं। जिन संसाधनों की पारंपरिक अर्थव्यवस्था में असली कीमत होती थी, अब उनकी अनदेखी की जाती है।

उदाहरण के लिये मानव विष्टा का प्रयोग अब खेतों की पौष्टिकता बढ़ाने के लिये नहीं होता; बजाय इसके अब यह एक समस्या बनती जा रही है, क्योंकि बिरले संसाधनों (जल) को इसे ठिकाने लगाने हेतु मोड़ना आवश्यक है। चूंकि फ्लश शौचालय बन रहे हैं, घरों की छतों पर बहुमूल्य पानी पहुँचाने के लिये ऊर्जा की जरूरत होती है, ताकि गैलनों से पानी फ्लश होकर मीलों लंबी पाइपों और सेप्टिक टैंकों तक जा सके। लेह की भीड़भाड़ युक्त स्थितियों में, रिसाव वाली टंकियाँ प्रदूषण का बड़ा कारक बनती जा रही हैं और इनके कारण हाल में पीलिया व पानी से होने वाली अन्य बीमारियों के प्रकरण बढ़ रहे हैं।

आधुनिक प्रखंड में “सभ्यता के रोग,” जिसके विषय में पारंपरिक लोग अभिनिष्ठ थे, अब वह बढ़ कर आम हो गया है। इनमें शामिल हैं — कैंसर, लकवा और मधुमेह। व्यायाम में कमी और बढ़ते तनाव के साथ-साथ अधिक वसा व शर्करा युक्त प्रसंस्करित आहार इसके लिये जिम्मेदार हैं। हाल ही के वर्षों में मैंने अपने कई लदाखी दोस्तों को मोटे और थुलथुले होते देखा है।

हजारों लदाखियों का इलाज अब लेह के एक अस्पताल में होता है। अधिकांश विकासशील दुनिया की तरह, यहाँ भी अंतिम उत्पाद पाश्चात्य चिकित्सा की खराब नकल है। कुछ काबिल चिकित्सक हैं, पर उन्हें ऐसी व्यवस्था में काम करना पड़ता है जहाँ अनेक प्रकार की दिक्कतें हैं। आधुनिक प्रणाली अत्यधिक पूँजी एवं ऊर्जा माँगती है; लदाख के संपूर्ण विकास बजट के अतिरिक्त और अधिक राशि अस्पताल पर खर्च करनी पड़ेगी, ताकि वह पश्चिम के मानकों के समतुल्य हो सके। अभी तो हालात ऐसे हैं कि डॉक्टर आपको देखे इसके लिये बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, वार्डों में भीड़ है, स्टाफ की कमी है एवं दवाएँ तथा उपकरण अपर्याप्त हैं। पानी का प्रावधान संतोषप्रद नहीं है तथा सफाई व्यवस्था भयावह है।

इस स्तर की पाश्चात्य शैली की केंद्रीकृत स्वास्थ्य सेवा भी, लेकिन, पारंपरिक पद्धति को कमजोर करने के लिए पर्याप्त है। डॉक्टरों का आधुनिक प्रशिक्षण, पारंपरिक पद्धति की अवहेलना करता है और लदाखियों को उनकी संस्कृति व संसाधनों से विमुख कर रहा है। ‘*आमची*’ का तरीका समय लेने वाला था: कौशल को सीखना, रंगरूटों को सिखाना, मरीजों को देखना, औषधियाँ तैयार करना। एक अकेला ‘*आमची*’, जिसे पर्वतों से जड़ी-बूटियों को एकत्रित करना पड़ता है, फिर उन्हें सुखाना, पीसना और फिर दवा बनाना, किस प्रकार बड़ी दवा निर्माता कंपनियों से होड़ कर सकेगा, जिन्हें शासन से रियायतें (सबसिडी) प्राप्त होती हैं? कभी लगभग प्रत्येक गाँव में ‘*आमची*’ होता था, अब बहुत कम हैं और नए प्रशिक्षु तो और भी कम हैं।

स्थानीय कृषि को भी नष्ट किया जा रहा है। आयातित अनाज पर मिलने वाली सरकारी छूट के चलते लेह में एक पौंड गेहूँ का आटा जो पंजाब से आता है, को खरीदना, निकटतम गाँव से क्रय करने से सस्ता पड़ता है। चावल, शक्कर व अन्य खाद्य वस्तुओं पर भी छूट मिलती है। इसके परिणाम स्वरूप अपना अनाज उगाना घाटे का सौदा होता है, जो कि स्थानीय अर्थतंत्र में कभी सोचा भी नहीं जा सकता था।

आधुनिक अर्थव्यवस्था सामान्य ज्ञान का कचूर निकाल रही है। लेह में, उदारहरण के लिये आजकल मिट्टी से घर बनाना अत्यधिक महंगा होता जा रहा है, जबकि सीमेंट की लागत उसी अनुपात में कम हो रही है। पाश्चात्य शैली का विकास, स्थानीय व्यवस्था को कमर किस प्रकार तोड़ता है, यह इसका बेहतरीन उदाहरण है। यह संभव ही नहीं है कि भारी और प्रसंस्करित सामग्री, जिसे परिवहन द्वारा हिमालय तक लाना पड़ता है, वह मिट्टी से मुकाबला करे जो प्रचुरता से और मुफ्त में उपलब्ध है। पर ऐसा ही हो रहा है।

आधुनिक प्रखंड में, भूमि वस्तु बन जाती है, जिसकी कीमत होती है। लोगों की भीड़ इकट्ठा होने पर, उन्हें आवंटित स्थान छोटा होता जाता है और जमीन, जिसके लिये पहले कभी पैसों की आवश्यकता नहीं थी, अधिकाधिक मूल्यवान होती जाती है। मिट्टी की ईंटें बनाने के लिये, बजाय अपने घर के इर्द-गिर्द खुदाई करने के, आपको काफी दूर फैलते शहरी क्षेत्र को लाँघ कर जाना पड़ता है और नगद भुगतान करना पड़ता है — मिट्टी के लिये, ईंटें बनाने हेतु मजदूरी के लिये और ट्रक का भाड़ा उसे शहर में लाने के लिये। अब समय का अर्थ पैसा है और यह एक और नुकसान मिट्टी के उपयोग का है, क्योंकि मिट्टी से घर बनाने में समय अधिक लगता है। इतना ही नहीं, जैसा कि पहले बताया गया है, ज्यादातर “शिक्षित” लोगों ने मकान कैसे बनाना है, सीखा ही नहीं है और अभियंता सीमेंट तथा लोहे से बनाना जानते हैं। इस वजह से, मिट्टी से घर बनाने में जिस कौशल की आवश्यकता होती है, वह और भी अधिक विरल हो जाता है और इसलिए अधिक महंगा भी। इसका एक मनोवैज्ञानिक पहलू भी है: लोग पिछड़े हुए नहीं कहलाना चाहते — और हर वह बात जो पारंपरिक है, उसे पिछड़ापन निरूपित किया जाता है। वे आधुनिक घर में रहना चाहते हैं, मिट्टी के घर से छवि खराब होती है।

खाद्य पदार्थ और भवन निर्माण सामग्री के अतिरिक्त, तीसरी मूल आवश्यकता — वस्त्र है — उस पर भी नई अर्थव्यवस्था का प्रभाव पड़ रहा है। पारंपरिक ऊनी कपड़ों का स्थान सिंथेटिक धागों, या आयातित ऊन ने ले लिया है। हाथ से बुने वस्त्र महंगे होते जा रहे हैं, जबकि पहले उनकी कोई कीमत नहीं होती थी।



संकर गाँव में शीतकाल। घरों की मोटी दीवारें मध्यम से चरम मौसम के लिए अनुकूल होती हैं।

मैंने उन तमाम दबावों को देखा है — सब एक साथ सक्रिय — लद्दाखियों को उनके अपने संसाधनों से खींच कर दूर कर दो। इसके कारण अत्यंत जटिल हैं और जीवन की संपूर्ण शैली के सुविचारित परिवर्तन के कारक हैं। किंतु, यह बिल्कुल साफ है कि केंद्र की ओर खिंचाव बड़ी हद तक जानबूझ कर बनाई गई योजना का प्रत्यक्ष परिणाम है। पश्चिम का आर्थिक वृद्धि का नशा दूसरों पर “विकास” करने हेतु दबाव बनाता है और विकास की स्थितियाँ निर्मित करने के लिये, सरकारें विराट संसाधनों को समाज की पुनर्रचना के लिये खर्च करती हैं। हर जगह, अधोसंरचना की आड़ में — केंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन से लेकर पाश्चात्य नगरीकृत शिक्षा — मूलतः एक ही बात है। और इसलिए भी, वही परिणाम स्वरूप पैदा होने वाली समस्याएँ हैं।



अध्याय चौदह

विभाजित लोग

फैशनपरस्ती से अभिमान आया और सहानुभूति कम होगी।

लद्दाख में परिवर्तन पर निबंध का अंश — नोबू, 10 वर्ष

लद्दाख में मेरा पहला साल, मैं चिलिंग से मार्खा घाटी में एक मित्र के साथ ट्रेकिंग कर रही थी। हम रास्ते के एक अत्यंत कठिन भाग तक आए जहाँ प्रपाती चट्टाने थीं, जो सैकड़ों फुट नीचे नदी की ओर जाती थीं। एक वृद्ध व्यक्ति छड़ी लेकर आराम से डग भरता हुआ विपरीत दिशा से आया। हमने एक दूसरे का अभिवादन किया और चलते रहे क्योंकि उस स्थान पर खड़े रहा ही नहीं जा सकता था। मैं बहुत ही धीरे चल पा रही थी, कि कोई दस मिनट बाद, मैंने वृद्ध को मुझे पुकारते हुए सुना। वह रास्ते के खतरनाक भाग के सिरे को पार कर चुका था और अचानक उसने देखा कि मुझे चलने में परेशानी हो रही है। वह वापस लौट कर मेरे पास तक आया, अपनी छड़ी मुझे दी और मुस्कुराते हुए कहा, “शायद आपको मेरी अपेक्षा इसकी अधिक जरूरत है।” अब जब मैं बस में लेह के भीड़ भरे बस अड्डे पर चढ़ती हूँ, तो मुझे लड़ते हुए रास्ता बनाना पड़ता है और बूढ़े लोग भी मुझे धकिया कर आगे निकलना चाहते हैं।

पारंपरिक अर्थव्यवस्थाओं में आपको मालूम रहता था कि आपको दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ेगा और आप भी उनका ध्यान रखते थे। लेकिन नई अर्थव्यवस्थाओं में, लोगों के बीच की दूरी बढ़ गई है, तो ऐसा लगता है कि आपको एक-दूसरे की आवश्यकता ही नहीं रह गई है। अंततः जरूरत तो पड़ती है, किंतु परिवारों, मित्रों और पड़ोसियों की भाँति प्रत्यक्ष रूप से नहीं। अब आपके राजनैतिक व आर्थिक आपसी व्यवहार चक्करदार रास्ते से, अनाम नौकरीशाही के माध्यम से होते हैं। पारस्परिक निर्भरता का स्थानीय ताना-बाना बिखर रहा है और वही हाल सहिष्णुता तथा सहयोग के पारंपरिक ढाँचों का है। यह विशेषतः लेह के निकटवर्ती गाँवों की सच्चाई है जहाँ झगड़े और कटुता, उन समुदायों में, बल्कि परिवारों में गत

कुछ वर्षों में नाटकीय रूप से बढ़ गई है, जिनमें घनिष्ठ संबंध थे। स्कारा गाँव में मैंने सिंचाई के पानी को लेकर भयंकर वाद विवाद होते देखा है, एक प्रक्रिया जिसका व्यवस्थित संचालन सहयोगात्मक ढाँचे के अंतर्गत होता था।

जैसे-जैसे आपसी मदद का स्थान दूरगामी ताकतों पर निर्भरता लेती गई, वैसे-वैसे लोग अपने जीवन से संबंधित बातों पर स्वयं निर्णय लेने में असमर्थ होते गए हैं। प्रत्येक स्तर पर निष्क्रियता, बल्कि उदासीनता बढ़ती जा रही है; लोग अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारियों से दूर भाग रहे हैं। पारंपरिक गाँव में, सिंचाई की नहरों की मरम्मत के काम में पूरा समुदाय हाथ बटाता था। जैसे ही किसी नाली में रिसन होती, लोगों का समूह फावड़े लेकर उसे दुरुस्त कर देता था। अब लोग इसे सरकार की जिम्मेदारी मानते हैं और नाली में रिसाव होने देते हैं, जब तक कि उनके लिये सरकार यह काम न कर दे। जितना ही सरकार ग्रामवासियों के लिये करती है, उतना ही वे स्वयं की सहायता करना बंद करते जा रहे हैं। मुझे एक शासकीय अधिकारी से हुई बातचीत याद है, जो जल विद्युत संयंत्र के बारे में थी और जो नुरला गाँव में स्थापित किया गया था। “मेरी समझ में नहीं आता,” उसने कहा, “वे सदैव अपनी जल-चक्की की बड़ी कुशलता से देखरेख करते थे, पर अब इसके बारे में उन्हें कोई फिक्र नहीं है। इन गर्मियों के आरंभ में कुछ पत्थर टर्बाइन में आ गए थे, पर किसी ने कुछ भी करने की जहमत नहीं उठाई — और अब उनके पास बिजली नहीं है।”

आज “विकास” लोगों को और भी वृहद राजनैतिक तथा आर्थिक इकाइयों में फँसाता जा रहा है। पहले व्यक्ति के पास वास्तविक शक्ति थी, क्योंकि इकाइयाँ छोटी थी और प्रत्येक व्यक्ति समुदाय के अन्य लोगों के साथ सीधे व्यवहार कर सकता था। राजनैतिक शब्दों में, एक लद्दाखी अब 800 मिलियन में से एक और वैश्विक अर्थव्यवस्था के अंग के रूप में अनेक बिलियनों में से एक होकर रह गया है।

मीडिया के जरिये जो सांस्कृतिक केंद्रीकरण होता है, उसका भी योगदान सतत बढ़ती असुरक्षा एवं निष्क्रियता में है। पारंपरिक रूप से कितना नर्तन, गायन और नाटक हुआ करता था। सभी आयुवर्ग के लोग सम्मिलित होते थे। अलाव के चारों ओर बैठे हुए समूह में इतने छोटे बच्चे, जो चलना सीखने के चरण में होते थे, वे भी अपने से बड़े बच्चों और दोस्तों की मदद से नाचते थे। हर कोई कैसे गाना, अभिनय करना और संगीत बजाना जानता था। अब चूँकि लद्दाख में रेडियो आ गया है, आपको अपने गीत गाने या अपनी कहानियाँ सुनाने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। आप बैठकर श्रेष्ठतम गायक या सर्वश्रेष्ठ कहानी सुनाने वाले को सुन सकते हैं। किंतु इसका परिणाम यह हुआ कि लोग आशंकित व संकोची हो गए हैं। अब आप अपनी तुलना पड़ोसियों और मित्रों से नहीं करते जो असली लोग हैं — कुछ आपसे गाने

में बेहतर हैं, पर शायद नाचने में आप उनसे बेहतर हैं — पर आप उन रेडियों के सितारों से बेहतर नहीं हैं। जब लोग निष्क्रिय होकर बैठे हुए सर्वश्रेष्ठ को रेडियो पर सुनते हैं, बजाय इसके कि साथ मिल कर नाचे-गाएँ, तो सामुदायिक कड़ियाँ भी टूटती हैं।

जब मैं लेह के हवाई अड्डे पर हवाई जहाज का इंतजार कर रही थी, मुझे दावा और उसके दो दोस्त मिल गए। वह एक जर्मन दल को लेने आया था और उसके मित्र कुछ धंधा मिलने की आशा से आए थे। उनमें से एक अतिथि निवास चलाता था और दूसरा ट्रेकिंग गाइड था। वे मुझे उस हिंदी फिल्म के बारे में बतलाने लगे जिसकी लद्दाख में शूटिंग हो रही थी। निश्चित ही उन्होंने सेट के पास घंटों व्यतीत किये थे और कलाकारों के आटोग्राफ लिये थे, जिसे उन्होंने मुझे बड़े गर्व से दिखाया। दावा ने बड़े मनोरंजक ढंग से नायिका की तीखी आवाज की नकल की। उन्होंने अभिनेताओं आदि की विचित्र आदतों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा था : हीरो कैसे चलता था, सिगरेट कैसे पकड़ता था, किस ब्रांड की सिगरेट और व्हिस्की उसे पसंद है। सितारों की मोहकता की उन पर गहरी छाप पड़ी थी। उनके साथ हुई बातचीत ने मुझे उदास कर दिया।

उसी दिन शाम को मेरी पालजोर के साथ साप्ताहिक बैठक थी, जो लोकगीतों का अनुवाद करने में मेरी मदद कर रहे थे। मैंने उनसे हवाई अड्डे पर दावा व उसके मित्रों से हुई भेंट के बारे में बताया। “पालजोर, क्या आपको युवाओं के इस परिवर्तन को देखकर बेचैनी नहीं होती? दावा इस बाबत बड़ा भ्रमित प्रतीत होता है कि वह स्वयं क्या है। वह फिल्मों के मेचो चरित्र की तरह आचरण करने लगा है।” “मैं जानता हूँ,” उन्होंने कहा, “मेरा छोटा बेटा भी उसी रास्ते पर जा रहा है।”

जैसे-जैसे लद्दाखी सुरक्षा और पहचान की समझ को भूलते जा रहे हैं, जो अन्य लोगों से गहन व स्थायी जुड़ाव से उत्पन्न होती है; अब उनके मन में संदेह जन्म ले रहा है, कि वे आखिर हैं कौन। इसी के साथ, पर्यटन और मीडिया नई छवि प्रस्तुत कर रहे हैं कि तुम्हें कैसा होना चाहिये। उन्हें पाश्चात्य जीवन शैली अपनाना चाहिये — खाने की मेज पर बैठ कर रात्रि भोज करें, कार चलाएँ, कपड़े धोने की मशीन का प्रयोग करें। सभी प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं को सभ्य समाज की आवश्यक शक्तों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है; आधुनिक रसोईघर और स्नानकक्ष हैसियत के अहम प्रतीक बन गए हैं। ये छवियाँ उनसे कह रही हैं कि बदलें, जैसे हैं उससे बेहतर हो जाएँ।

आश्चर्यजनक रूप से आधुनिकीकरण वैयक्तिक विविधता को समाप्त कर रहा है। अब लोग संकोची और असुरक्षित होने के साथ ही उस दबाव को भी महसूस कर रहे हैं, जो उन पर पड़

रहा है, कि वे आदर्श के रूप में गढ़ी हुई छवि के अनुरूप रहें। इसके विपरीत, पारंपरिक गाँव में, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक ही जैसे वस्त्र पहनता है और सरसरी तौर पर देखने वाले को सब एक से दिखाई देते हैं, आपके पास चिंता न करने की अधिक स्वतंत्रता होती है, आप वही बने रह सकते हैं, जो कि आप हैं।

स्थानीय आर्थिक और राजनैतिक कड़ियों के टूटने से, आपके आसपास के लोग और भी अधिक अनजान, अनाम हो जाते हैं। इसके साथ ही जीवन की गति तीव्रतर होती जाती है और जीविका हेतु अन्यत्र जाना — परिवारिक रिश्तों को भी कृत्रिम व अल्पकालिक बना देती है। लोगों के बीच जुड़ाव केवल बाहरी दिखावा भर रह जाता है। लोगों की पहचान इस बात से होती है कि उनके पास क्या है और वह उनके कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं के पीछे अदृश्य हो जाती है।

कदाचित सभी दुष्चक्रों में सबसे अधिक दुःखदायी जो मैंने लद्दाख में देखा वह है कि किस प्रकार वैयक्तिक असुरक्षा, परिवार एवं समुदाय के जुड़ावों को भी कमजोर करती है और वह व्यक्ति के आत्मसम्मान को और भी हिलाकर रख देती है। इस सारी प्रक्रिया में उपभोक्तावाद की प्रमुख भूमिका होती है, क्योंकि भावनात्मक असुरक्षा हैसियत के प्रतीकों की भूख को जाग्रत करती है। पहचान तथा स्वीकृति की आवश्यकता, वस्तुओं को पाने की ललक को प्रज्वलित करती है — वस्तुएँ जो आपको कुछ खास बना देगी। अंततः यह वस्तुओं के सम्मोहन से कहीं ज्यादा महत्त्व का प्रेरक घटक है। यह देखकर मन खटटा हो जाता है कि लोग वस्तुएँ इसलिए खरीदते हैं कि सब उनकी प्रशंसा व आदर करें और अंततः उनसे प्यार करें, जबकि वास्तविकता यह है कि इसका उलटा असर होता है। एक चक्र चल पड़ा है जिसमें अधिकांश लोग आपस में और एक दूसरे से विभाजित होते जाते हैं।

मैंने लोगों को एक दूसरे से बंटते हुए अनेक प्रकार से देखा है। बूढ़ों और जवानों, पुरुषों व महिलाओं, धनी व निर्धनों, बौद्ध व मुसलिमों के बीच खाई बढ़ती जा रही है। एक नया विभाजन जो आधुनिक, शिक्षित विशेषज्ञ तथा पिछड़े, अशिक्षित कृषक के बीच किया गया है, वह कदाचित सबसे बड़ा है। लेह के आधुनिकीकृत निवासियों में बहुत कुछ दिल्ली या कलकत्ता के रहने वालों के समान है, बजाय उनके अपने संबंधियों के, जो अपनी ज़मीन से जुड़े रह गए और वे उन सबको हिकारत की नज़र से देखते हैं जो कम आधुनिक हैं। आधुनिक प्रखंड में रहने वाले कुछ बच्चे तो अब अपने माँ-बाप और दादा-दादी से इतने दूर हो गए हैं कि वे एक सी भाषा भी नहीं बोलते। अंग्रेजी व उर्दू में शिक्षित, वे अपनी मातृभाषा को भूलते जा रहे हैं।

एक अन्य अत्यंत विभाजक घटक वह है जिसके चलते पुरुष एवं स्त्रियों की भूमिकाओं का शक्ति-विभाजन होता जा रहा है, क्योंकि उनके कार्य अलग-अलग हो गए हैं। विश्व भर में

औद्योगीकरण का एक परिणाम यह हुआ है कि पुरुष अपने परिवारों को आधुनिक अर्थव्यवस्था में पैसा कमाने हेतु ग्रामीण क्षेत्र में छोड़ देते हैं; लद्दाख अपवाद नहीं है। पुरुष घर के बाहर अभियांत्रिकी-आश्रित जीवन का भाग बन जाते हैं और उन्हें ही समाज का एकमात्र उत्पादक घटक (कमाऊ) माना जाता है।

मेरा मित्र सोनम इसका सटीक उदाहरण है। उसकी विधवा माँ और बहनें अभी भी हेमिस में हैं। कुछ वर्ष पूर्व उसने विवाह किया, पर उसे वधू को घर पर ही छोड़ना पड़ा और वह चार साल में चार मर्तबा ही उससे मिल पाता है। कभी जब वह पत्नी व बच्चों को अपने साथ रहने के लिये लाता भी है तो भी उसे देर तक घर के बाहर काम करना पड़ता है, उनके साथ वह बहुत कम समय बीता पाता है।

महिलाओं का जहाँ तक प्रश्न है, वे अदृश्य छाया बन गई हैं। चूंकि वे जो काम करती हैं उसका उन्हें कोई पैसा नहीं मिलता, अतः अब उन्हें “उत्पादक” नहीं माना जाता। उनके काम को सकल राष्ट्रीय उत्पाद का भाग नहीं माना जाता है। शासन की सांख्यिकी में लद्दाखियों में काम करने वाले लगभग 10 प्रतिशत को उनके कार्य या पेशे के अनुसार आधुनिक प्रखंड के अंतर्गत सूचीबद्ध किया गया है; शेष 90 प्रतिशत — गृहिणियाँ और पारंपरिक कृषक — को “काम न करने वालों” के तौर पर रखा गया है। इसके कारण लोगों की भावना खुद अपने प्रति और अन्यो के प्रति बदलती है और मान्यता व पहचान के अभाव का गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। पारंपरिक किसानों एवं महिलाओं को हीन माना जाने लगा है और स्वयं उनमें असुरक्षा व हीनता की भावना घर करने लगी है।

कुछ सालों में मैंने देखा है कि लद्दाख की मजबूत व मिलनसार महिलाओं का स्थान नई पीढ़ी लेती जा रही है — जो अपने आप को लेकर असमंजस में है और अपने रंग रूप के विषय में बहुत चिंतित है। परंपरा से, औरत कैसी दिखती है यह महत्त्वपूर्ण था, किंतु उसकी क्षमताएँ — जिनमें सहिष्णुता और सामाजिक कौशल भी हैं, को अधिक तवज्जो दी जाती थी।

एक दिन जब मैं देसकित को देखने गई तो मैंने उसे प्रातः दस बजे टी.वी. के सामने अकेली बैठी देखा। उसका कमरा शानदार था, जिसमें नया, बड़ा विनाइल सोफ़ा व आरामकुर्सी थी, पर वह फर्श पर बैठी थी। उसके बच्चे स्कूल में थे और पति काम पर गया था। मैं उसे गाँव से जानती थी जब वह थोड़ी शर्मीली थी किंतु वह सुंदर और चमकती हुई थी। खूबसूरत वह अभी भी थी, किंतु चमक चली गई थी। वह स्पष्ट रूप से नाखुश थी और उसकी मिलनसारिता गायब हो गई थी।

मैं उसे देखने इसलिए आई थी क्योंकि उसकी एक काकी ने मुझे बताया था कि वह ठीक नहीं है। न तो काकी और न स्वयं देसकित जानती थी कि वह इतनी दुःखी क्यों है, क्योंकि

ऊपर से देखने पर उसके पास वह सब कुछ था जिसकी कोई कामना कर सकता है। उसके पति की डॉक्टर के रूप में एक अच्छी नौकरी थी, उसके बच्चे लेह के श्रेष्ठतम स्कूल में पढ़ते थे, उसका घर आधुनिक, स्वच्छ व आरामदेह था। परंतु विकास की प्रक्रिया ने देसकित को अकेला कर दिया था, वह अपने एकल परिवार में कैद होकर रह गई थी, अपने वृहद समुदाय से दूर हो गई थी और उसके लिये करने को कुछ भी अर्थपूर्ण नहीं रह गया था। इस सब ने उसे बच्चों से भी अलग कर दिया था।

अपनी नई प्रभावी भूमिका के बावजूद, पुरुष भी परिवार और समुदाय के टूटने से भुगत रहे हैं। वे बच्चों के संपर्क से वंचित हैं। जब वे किशोर या युवा होते हैं तब मैचो छवि उन्हें किसी प्रकार का प्यार व्यक्त करने से रोकती है और जीवन के बाद के भाग में बतौर पिता उन्हें काम के सिलसिले में घर से दूर रहना पड़ता है।

पारंपरिक संस्कृति में बच्चे न केवल माता-पिता के साथ निरंतर संपर्क से लाभान्वित होते थे, अपितु जीवन के उस तरीके से भी जिसमें विभिन्न आयु वर्ग के लोग एक दूसरे से लगातार व्यवहार करते हैं। उस मौहल में बड़े बच्चों के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे छोटों के प्रति जिम्मेदारी की भावना रखें। बदले में छोटा बच्चा, बड़ों की ओर सम्मान व प्रशंसा की नज़र से देखता था और बड़ों जैसा बनना चाहता था। बढ़ना एक नैसर्गिक, प्रतिस्पर्धा विहीन सीखने की प्रक्रिया थी।

अब बच्चों को स्कूल में विविध आयु वर्गों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार के स्तरीकरण का बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। ऐसी सामाजिक इकाइयों की कृत्रिम रचना करना जिसमें सभी एक उम्र के हों, इससे एक-दूसरे की सहायता करना व एक दूसरे से सीखना कम हो जाता है। बजाय इसके, प्रतिस्पर्धा की स्थितियाँ स्वमेव निर्मित होती जाती हैं, क्योंकि हर बच्चे पर यह दबाव होता है कि वह उतना ही अच्छा हो जितना दूसरा है। दस बच्चों के समूह में जो विविध आयुवर्ग का है, उनमें स्वाभाविक रूप से अधिक सहयोग होगा बनिस्वत दस वर्षीय दस बच्चों के समूह में।

विभिन्न आयु वर्गों में विभाजन स्कूल तक ही सीमित नहीं है। अब यह प्रवृत्ति आम है कि अपना समय अपने बराबर वालों के साथ ही बिताया जाए। इसके फलस्वरूप, जवानों एवं वृद्धों के बीच आपसी असहिष्णुता उत्पन्न होती है। छोटे बच्चों का अब अपने दादा-दादी के साथ कम संपर्क हो पाता है, जिन्हें अकसर गाँव में ही रहना पड़ता है। अनेक पारंपरिक परिवारों के साथ अनेक वर्षों तक रह लेने के बाद, मैंने बच्चों और उनके दादा-दादियों के बीच रिश्ते की गहनता का अनुभव किया है। यह स्पष्टतः एक प्राकृतिक संबंध है, जिसका आयाम माता-पिता व बच्चों के रिश्ते से एकदम अलग होता है। इस जुड़ाव को तोड़ना बहुत बड़ी त्रासदी है।

ऐसे ही दबाव, पारंपरिक परिवारों को तोड़ने में अपना अवदान दे रहे हैं। नाभिकीय (एकल) परिवार का पाश्चात्य नमूना अब एक प्रादर्श के रूप में देखा जाता है और लद्दाखी अब अपनी बहुपति प्रथा से शर्म महसूस करने लगे हैं। चूंकि युवा लोग पुराने पारिवारिक ढाँचे को तिलांजलि देकर एक पत्नी प्रथा को अपना रहे हैं, इसलिए जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, साथ ही साथ मठों के जीवन की प्रथा भी कम हो रही है, अतः भिक्षु एवं भिक्षुणियों की संख्या में गिरावट आ रही है। आबादी में इजाफे की यह भी एक वजह है।

रोचक बात यह है कि लद्दाखी जन्म दर में वृद्धि को आधुनिक लोकतंत्र के आगमन से जोड़ते हैं। “ताकत, मतों का प्रश्न है,” सोनम रिनचेन ने हाल ही में कहा। अर्थात् आधुनिक प्रखंड में आपका समूह जितना बड़ा होगा, उतनी ही ताकत तक आपकी पहुँच होगी। नौकरियों के लिये प्रतिस्पर्धा और नई केंद्रीकृत संरचनाओं में राजनैतिक प्रतिनिधित्व, लद्दाखियों को तेजी से विभाजित कर रहे हैं। जातीय एवं धार्मिक विभाजन ने अब राजनैतिक आयाम ग्रहण कर लिया है, जिसके कारण कटुता व शत्रुता इतनी बढ़ गई है कि जिसके विषय में कुछ समय पूर्व तक कोई जानता ही नहीं था।

यह नई प्रतिद्वंद्विता अत्यंत पीड़ादायक विभाजन है जो मैं लद्दाख में देख रही हूँ। विडंबना यह है कि इसका विस्तार पारंपरिक धार्मिक श्रद्धा में गिरावट के अनुपात से हुआ है। मैं पहले ही बतला चुकी हूँ कि जब मैं पहली बार यहाँ आई थी, तो मैं बौद्धों व मुसलिमों के बीच आपसी सम्मान एवं सहयोग देख कर अचंभित रह गई थी। किंतु विगत कुछ वर्षों में बढ़ती हुई प्रतिद्वंद्विता वस्तुतः हिंसक हो गई है। पहले संघर्ष की छुटपुट घटनाएँ होती थी, किंतु 1986 में, मैंने पहली बार समूहों के बीच बढ़ते तनाव के चिह्न देखे जब मैंने लद्दाखी मित्रों को लोगों को इस आधार पर परिभाषित करते सुना कि वे बौद्ध हैं या मुस्लिम। उसके बाद में भी कुछ सालों तक ऐसे संकेत मिलते थे जिनसे लगता था कि सब कुछ ठीक नहीं है। परंतु कोई भी इसके लिये तैयार नहीं था जो 1989 में हुआ, जब एकाएक दोनों समूहों के बीच झगड़ा हो गया। लेह बाज़ार में बड़ी घटनाएँ हुई, चार लोग पुलिस की गोलीबारी में मारे गए और लद्दाख के एक बड़े भाग पर कर्फ्यू लगा दिया गया।

तब से खुले तौर पर आमना-सामना नहीं हुआ, परंतु दोनों ओर से अविश्वास तथा पूर्वाग्रह के चलते रिश्ते बिगड़ते जा रहे हैं। जो लोग हिंसा और झगड़े के आदी नहीं थे, उनके लिये यह सदमा पहुँचाने वाला अनुभव था। एक मुसलिम महिला शायद समस्त लद्दाखियों की वेदना को व्यक्त कर रही थी, जब उसने मुझसे कहा, “इन हादसों ने मेरे परिवार को फाड़ कर रख दिया है। उनमें से कुछ बौद्ध हैं, कुछ ईसाई हैं और अब वे एक दूसरे से बातचीत तक नहीं करते।”

उपद्रवों का तात्कालिक कारण बौद्धों की यह शंका थी कि मुसलिमों के वर्चस्व वाली राज्य सरकार स्थानीय मुसलिम आबादी के पक्ष में बौद्धों के साथ भेदभाव कर रही है। और मुसलिमों की बेचेनी का कारण यह था कि अल्पमत होने के कारण उन्हें अपने हितों की रक्षा बौद्ध बहुमत के राजनैतिक दबाव के विरुद्ध करना पड़ रही थी। परन्तु हिंसा की जड़ में जो कारण थे वे बहुत दूरगामी थे। जो लदाख में हो रहा है, वह कोई अलग घटना नहीं है। काश्मीर के मुसलिमों और हिंदुओं के वर्चस्व वाली दिल्ली की केंद्रीय सरकार के बीच तनाव, भूटान में हिंदुओं और बौद्ध सरकार के बीच तथा बौद्धों और नेपाल की हिंदू सरकार के बीच एवं इस प्रकार के विश्व भर में हो रहे समस्त उपद्रवों के पीछे एक ही अंतर्निहित कारण है। विकास का वर्तमान प्रादर्श (मॉडल) अत्यधिक केंद्रीकृत है, जो ग्रामीण क्षेत्रों से विभिन्न गुणों एवं स्वभाव वाले लोगों को खींच कर बड़े नगरीय केंद्रों में लाता है और ताकत एवं निर्णय लेने का अधिकार केवल कुछ लोगों के हाथों में दे देता है। इन केंद्रों में नौकरी के अवसर अत्यल्प हैं; सामुदायिक बंधन टूट गए हैं और प्रतिस्पर्धा नाटकीय ढंग से बढ़ रही है। खासतौर पर नौजवान, जिन्होंने आधुनिक प्रखंड में नौकरी के लिये शिक्षा ग्रहण की है, अपने को जीवन के लिये संघर्ष करते हुए पाते हैं। इस स्थिति में, किसी भी प्रकार के धार्मिक या जातीय मतभेद को प्राकृतिक रूप से बढ़ा चढ़ा कर विकृत कर दिया जाता है। ऊपर से जो समूह सत्ता में होता है, उसकी प्रवृत्ति सदैव अपने लोगों को उपकृत करने की होती है तथा अन्यो को प्रायः भेदभाव की मार सहनी पड़ती है।

विकासशील देशों में लोग मानते हैं कि आधुनिकीकरण जातीय प्रतिद्वंद्विता को और बढ़ा देता है — या यों कहे कि सृजित करता है; किंतु वे इसे “प्रगति” की आवश्यक कीमत के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि केवल ऐसा समाज बनाने पर ही जो पूर्णतः धर्म निरपेक्ष हो इस प्रतिद्वंद्विता का समाधान हो सकता है। दूसरी ओर, पश्चिम के लोग प्रायः यह मानते हैं कि जातीय एवं धार्मिक झगड़े इस कारण से बढ़ रहे हैं क्योंकि आधुनिक प्रजातंत्र लोगों को मुक्त करता है, जिससे पुराने पूर्वाग्रह तथा घृणा सतह पर आ जाते हैं। यदि पहले शांति थी, तो वह, उनकी सोच के अनुसार दमन के कारण थी।

यह समझना आसान नहीं है कि क्यों लोग ऐसा मानते हैं कि हिंसा सांस्कृतिक या धार्मिक मतभेदों के कारण होती है; क्यों वे सारा दोष परंपरा पर मढ़ते हैं, बजाय आधुनिकता के। इसमें संदेह नहीं कि जातीय तनाव उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण के पहले से रहा आया है, परन्तु सोलह सालों के प्रत्यक्ष अनुभव के बाद जो कि मुझे भारतीय उपमहाद्वीप में हुआ है, मेरा विश्वास दृढ़ हुआ है कि “विकास” न केवल वर्तमान तनाव को हवा देता है, बल्कि कई मामलों में वही उसका रचयिता भी होता है। विकास कृत्रिम अभाव पैदा करता है, जिसके कारण

प्रतिस्पर्धा बढ़ती है और लोगों पर दबाव पड़ता है कि वे मानक के तौर पर पाश्चात्य मॉडल को अपनाएँ, जिसकी नकल वे कर ही नहीं सकते। अधिकांश लोग सुनहरे बालों वाले, गौर वर्ण एवं नीली आँखों वाले नहीं हो सकते और एक परिवार दो कार वाले नहीं रह सकते। जबकि हमारे विश्व ग्राम में यही आदर्श छवि है।

इस प्रकार के आदर्श के पीछे भागने का अर्थ है, अपनी स्वयं की संस्कृति और जड़ों को नकारना — वस्तुतः स्वयं अपनी पहचान को नकारना। इसके कारण अपनों से अलग किये जाने पर असंतोष व क्रोध उत्पन्न होता है और यही आज दुनिया में अधिकांश हिंसा एवं रुढ़िवाद का कारण है। औद्योगिकृत समाज तक में हम लोग मीडिया द्वारा बनाई गई घिसी पिटी छवि के शिकार बनते हैं; परन्तु तीसरी दुनिया में, जहाँ वास्तविकता एवं पश्चिमी आदर्श के बीच अंतर इतना अधिक है, हताशा की भावना कहीं ज्यादा तीव्र है।

भाग तीन

लद्दाख से सीख



अध्याय पंद्रह

न कुछ श्याम है, न कुछ श्वेत है

*मुझे आश्चर्य है, गाँधीजी लद्दाख तक नहीं गए; यहाँ उन्हें
वह सब मिलता जिसके लिये उनका हृदय तरसता था।*

मेजर एम.एम.ए. गोम्पर्ट्स, मैजिक लद्दाख, 1928

पिछले पन्नों में मैंने लद्दाख में पारंपरिक जीवन शैली तथा आधुनिक क्षेत्र के परिवर्तन की शक्तियाँ, दोनों का परिदृश्य सामने रखने का प्रयास किया है। पुराने लद्दाख में मैंने सुख, सहभागिता तथा भूमि के साथ संतुलन की जब बात की है; और उसकी तुलना आधुनिक क्षेत्र के अलगाव, सामाजिक विघटन तथा प्रदूषण से की है; अतः मेरा वर्णन किसी को भी अतिरंजित लग सकता है। जैसे कि मैंने पारंपरिक जीवन को गुलाबी चश्मे से देखा हो तथा आधुनिक का चित्रण अत्यधिक काले रंग से किया हो। परंतु, जबकि यह सच है, मैंने पुराने लद्दाख का जो विवरण दिया है व सकारात्मक लगता है और नए का मेरा अधिकांश वर्णन नकारात्मक बदलावों को दिखलाता है; यह इसलिए कि मैंने मुख्यतः संबंधों तथा जुड़ावों को ध्यान में रखा है। मैंने जीवन के दो विपरीत तरीकों के रूप एवं अनुभूति का बयान करने की कोशिश की है, और छुटपुट घटकों पर ध्यान केंद्रित नहीं किया है।

पारंपरिक संस्कृति के वैयक्तिक पहलुओं पर मेरे विचार निःसंदेह आदर्श कदापि नहीं थे: वहाँ जिसे हम बुनियादी आराम के सामान कहते हैं, उनका नितांत अभाव था, जैसे कि जमा देने वाली सर्दियों में गर्म रखने का प्रबंध। बाहरी दुनिया के साथ वाद सीमित था। निरक्षरता की दर ऊँची थी; नवजात मृत्यु दर ऊँची थी तथा औसत आयु पश्चिम की तुलना में नीची थी। ये सब गंभीर समस्याएँ हैं, जिनसे मैं इनकार नहीं करती। किंतु वे उतनी गंभीर नहीं हैं जितनी नज़र आती हैं, जब हम उनकी ओर बाहरी नज़रिये से देखते हैं। पाश्चात्य पैमाने का उपयोग भ्रमित कर सकता है। अनेक वर्षों तक लद्दाखी समाज से अंतरंग संपर्क के कारण मैं इन कमियों को अलग दृष्टिकोण से देख पाई हूँ।

पारंपरिक लदाखी ग्रामवासी, हमारी तरह, हर दिन झरने से पानी लाने को या गोबर के उपलों पर खाना बनाने को कठिनाई नहीं मानते। और न ही वे उतनी ठंड महसूस करते हैं, जितनी कि हम करते हैं। एक बार मैं पतझड़ के दौरान हेमिस की एक भिक्षुणी के साथ पैदल यात्रा कर रही थी। जब हमने एक जलधारा को पार किया जिसका जल इतना ठंडा था कि मैं दर्द से चीख उठी। मेरा पैर लाल सुर्ख हो गया था और मुझे सामान्य होने में पंद्रह मिनट लगे। भिक्षुणी इस बीच आराम से पानी से होकर चलती रही, बल्कि कुछ क्षण रुक कर उसने ऊपर किसी चीज़ का जायजा लिया और चकित रह गई जब मैंने पूछा कि उसे ठंड तो नहीं लगी।

लदाख में संचार के सीमित साधनों की प्रकृति का भी मेरे लिये कुछ और अर्थ था। जिस अवर्णनीय उत्साह और आनंद की अनुभूति मुझे गाँवों में हुई, वह निर्विवाद रूप से इस तथ्य से जुड़ी थी कि जीवन में प्रफुल्लता यहाँ और अभी है, आप के साथ है, आपके भीतर है। लोग ऐसा नहीं सोचते थे कि वे किनारे पर हैं; केन्द्र वहीं था जहाँ पर वे हैं। अपनी बैठक में टी.वी. के जरिये विश्व को सदाबहार अनुभव करना उतना समृद्ध करने वाला नहीं हो सकता जितना हम सोचते हैं। वस्तुतः, इसका ठीक उल्टा असर हो सकता है। आदर्श सितारे लोगों की सोच को कमतर और निष्क्रिय बनाते हैं; और दूरस्थ स्थानों का रंगीन चित्रण तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ और अभी को फीका कर देता है।

मैं अपने आपको उस स्थिति में नहीं पाना चाहती थी कि निरक्षरता का बचाव करूँ। इसमें शक नहीं कि अब लदाखियों को पढ़ना सीखने की आवश्यकता है। हमारे समाज में, निरक्षर होने का अर्थ अंततः शक्तिहीन होना होता है। बड़ी होती राजनैतिक इकाइयों के कारण, हम लिखित शब्द पर अत्यधिक निर्भर हो गए हैं। परंतु, पारंपरिक संस्कृति में, पैमाना ऐसा था कि यदि आपको बोलना आता है, तो आप निर्णयों को प्रभावित करने कि स्थिति में थे। आप भले ही निरक्षर हों, आपकी अपने जीवन को प्रभावित करने वाले मामलों में ताकत, एक औसत पाश्चात्य नागरिक से अधिक थी। पारंपरिक संदर्भ में निरक्षरता वैसी नहीं थी, जैसी आधुनिक संसार में समझी जाती है।

उन सभी घटकों में जो आधुनिक बनाम पारंपरिक समाज के विषय में लोगों की सोच को प्रभावित करते हैं, स्वस्थ तथा दीर्घायु होने से अधिक महत्वपूर्ण कुछ नहीं है। पारंपरिक लदाख में लोग उन बीमारियों से मरते हैं, जिनके लिये आधुनिक चिकित्सा ने इलाज ढूँढ़ लिया है और नवजात मृत्यु दर यहाँ पर पंद्रह प्रतिशत तक होने का अनुमान है। रोगों को कम करना और स्वास्थ्य में सुधार करना बिना शक एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

जब कोई तीसरी दुनिया में पाश्चात्य शैली की चिकित्सकीय देखभाल की वास्तविकता की जाँच-पड़ताल करता है, तो भी स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है। निश्चित ही उस पारंपरिक ज्ञान को

जो स्थानीय बीमारियों और उनके उपचार हेतु एक हजार वर्षों से अधिक काल तक से विकसित होता रहा है, उसे हटा देने में समझदारी नहीं होगी। न ही पाश्चात्य पद्धति की खराब नकल करने में समझदारी होगी, जो अधिकांश लोगों को अपर्याप्त चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध कराती है और जिसे आर्थिक दृष्टि से संभाला नहीं जा सकता। एक बार फिर यह सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है कि समस्याओं का अलग-अलग ढंग से समाधान करना उचित है या उन पर समग्र दृष्टि से विचार करना चाहिये। मिसाल के लिये, नवजात मृत्यु दर को कम करने के साथ-साथ जनसंख्या वृद्धि पर ध्यान न देने से लोगों के दूरगामी हितों का संवर्धन नहीं हो सकता। और जबकि आधुनिक औषधियाँ आपको कुछ अधिक समय तक जीवित रहने में सहायक हो सकती हैं, पर जब आपको अपने अंतिम वर्षों में अपनी संतानों और नाती-पोतों से कट कर अकेले रहना पड़े और कदाचित आप विकलांग एवं खुद कुछ भी करने में असमर्थ हो जाएँ, तब दीर्घायु होने को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता, जितना हम उसे मानना चाहते हैं।

इसके साथ ही बढ़ती आयु तथा मृत्यु के प्रति दृष्टिकोण भी उतना ही महत्वपूर्ण है। लदाख में उम्र एवं मृत्यु को प्राकृतिक चक्र का भाग माना जाता है। अक्सर जब मैं अपने किसी लदाखी मित्र से लंबे अरसे बाद मिलती हूँ तो वे कहते हैं, “पिछली दफा मैंने आपको देखा था तब से आपकी उम्र काफी बढ़ गई है।” ऐसा एक सच्चाई के रूप में वे कहते हैं, जैसे कि मौसम में परिवर्तन की बात कह रहे हों — शीत से वसंत। कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि मुझे ऐसी टिप्पणी अच्छी नहीं लगी होगी। लदाखी बढ़ती उम्र से डरकर जीने की ज़रूरत ही नहीं समझते हैं; जीवन के हर चरण के अपने लाभ हैं।

लदाखी ऐसा नहीं मानते कि यह जीवन ही आपका अंतिम अवसर है। वे जीवन एवं मृत्यु को बार-बार लौटने की कभी समाप्त न होने वाली प्रक्रिया मानते हैं। उनकी संस्कृति ने मृत्यु के साथ समझौता कर रखा है; और उनकी प्रवृत्ति अवश्यंभावी परिवर्तन को स्वीकार करने की है। इसलिए एक शिशु की मौत का सदमा भी उनके लिये एक अलग अहमियत रख सकता है।

चूंकि पारंपरिक समाज में अनेक विचारणीय कठिनाइयाँ थीं, इसलिए विकास से अनेक वास्तविक सुधार हुए हैं। निःसंदेह धन एवं अभियांत्रिकी का प्रवेश और आधुनिक चिकित्सा अपने साथ ठोस फायदे भी लाए हैं। अनेक लदाखी अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आरामदेह स्थिति में हैं। इसके अलावा लोग यात्राएँ करने तथा भिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदने का आनंद ले रहे हैं, जो बाहर से आती है। उदाहरण के लिए, चावल और चीनी, जो कभी विलासिता थी, अब रोज के खाने में शुमार हो गई है।

शिक्षा कई को नए व उत्तेजक अवसर प्रदान कर रही है और उन लोगों के लिये जो पारंपरिक रूप से समाज में कमतर लाभ की स्थिति में थे, जैसे लोहार, उनके लिये आधुनिकीकरण

सामाजिक ढाँचे में ऊँची स्थिति की संभावना का वादा करता है। खासकर नवयुवकों के लिये आधुनिक दुनिया द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता और गतिशीलता अत्यधिक प्रलोभनकारी है। नए विचार उन्हें अन्य लोगों एवं स्थान की दासता से मुक्त करते हैं। अब उनके लिये अपने पड़ोसियों, अभिभावकों या दादा-नाना की बात सुनना आवश्यक नहीं रह गया। दरअसल, आधुनिक आदर्श, ताकतवर 'मुक्त' पुरुष है।

पारंपरिक समाज की विशुद्ध और असली समस्याओं के बावजूद और उतने ही असली सुधारों के बावजूद जो विकास के कारण संभव हुए हैं, सब कुछ अलग नज़र आता है, जब कोई महत्वपूर्ण रिश्तों की जाँच-पड़ताल करता है: भूमि से, एक-दूसरे से, और खुद से। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने पर, पुरातन और नवीन के बीच का अंतर कठोर एवं व्याकुल करने वाला बन जाता है — लगभग, पर निश्चित ही पूरा श्वेत-श्याम नहीं। यह स्पष्ट हो जाता है कि पारंपरिक, प्रकृति आधारित समाज अपनी समस्त त्रुटियों एवं सीमाओं के बावजूद, अधिक टिकाऊ था — सामाजिक व पर्यावरणीय दोनों दृष्टियों से। यह मनुष्यों और उनके आस पास के बीच वार्तालाप का प्रतिफल था। एक निरंतर वार्तालाप, जिसका मतलब था कि गत दो हजार वर्षों के गलती करने व उन्हें सुधारने के चलते संस्कृति में बदलाव होते गये। विश्व के प्रति पारंपरिक बौद्ध दृष्टिकोण परिवर्तन का हिमायती है, परंतु यह परिवर्तन दया एवं सभी घटनाओं के आपसी जुड़ाव की गहरी समझ के ढाँचे के अंदर होना चाहिये।

पुरानी संस्कृति बुनियादी मानवीय आवश्यकताओं को, प्राकृतिक सीमाओं का सम्मान करते हुए प्रतिबिंबित करती थीं और यह व्यवस्था सफल थी। यह प्रकृति के लिये ठीक थी और लोगों के लिये भी ठीक थी। पारंपरिक व्यवस्था में तमाम जोड़ने वाले रिश्ते आपस में पुष्ट होते थे तथा सामंजस्य और स्थिरता को प्रोत्साहित करते थे। सबसे अधिक महत्वपूर्ण, गत सोलह वर्षों में अपने मित्रों को बदलते हुए देखकर, मुझे कोई संदेह नहीं है कि पारंपरिक समाज में संबंध और उत्तरदायित्व बोझ न होकर, लोगों में सुरक्षा की भावना को दृढ़ करते थे, जो कि आंतरिक शांति एवं संतुष्टि की पहली शर्त है। मुझे विश्वास हो गया है कि जब विकास नहीं हुआ था, तब लोग कहीं अधिक सुखी थे, जितने आज हैं। और किसी समाज पर फैसला करने की इससे बेहतर कसौटी और क्या होगी: सामाजिक शब्दावली में लोगों की खुशहाली; पर्यावरण की शब्दावली में उसका बना रहना।

तुलनात्मक दृष्टि से, नया लद्दाख इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक संस्कृति पर्यावरण के लिये समस्याओं का पुलिन्दा खोल रही है; यदि इसे रोका न गया तो ऐसी क्षति होगी जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकेगी; समाज की दृष्टि से वह समुदाय को तोड़ देगी एवं

वैयक्तिक पहचान को खोखला कर देगी।

बार-बार मैंने पश्चिम के लोगों को गैर-पश्चिम संस्कृतियों को हीन ठहराते हुए देखा है, क्योंकि वे काल्पनिकता से तुलना करते हैं बजाय किसी वास्तविक समाज के। जैसे कि मानव विज्ञानी पारंपरिक लद्दाख में वर्ग भेद को आदर्श समानता की संपूर्णता से तुलना करते हैं। वे भूल जाते हैं कि स्वयं उनके समाज में अमीरों और गरीबों के बीच का फासला लद्दाख की अपेक्षा अधिक है। पश्चिमी लोग पारंपरिक संस्कृतियों की तुलना भी अव्यक्त ढंग से उन आदर्शों से करते हैं, जिनका विकास वादा करता है, पर वे उस सच्चाई की अनदेखी करते हैं कि विकास के कारण विश्व के तमाम समाजों की कैसी दुर्गति हुई है।

मेरे यूरोप व उत्तरी अमेरिका के व्याख्यानों के दौरान लोग प्रायः एक ही सवाल पूछते हैं। लद्दाखियों की चौड़ी, निश्छल मुस्कान एवं पारंपरिक कला, शिल्प और परिदृश्य के चित्रों को देखकर और आधुनिक प्रखंड की कुटिलता व सांस्कृतिक निर्धनता को देखकर, वे कहते हैं “लद्दाखी अपनी पारंपरिक जीवन शैली क्यों छोड़ना चाहेंगे? उन्हें परिवर्तन की इच्छा होगी, पारंपरिक संस्कृति में कोई न कोई दोष होगा, जिसके कारण वे उसे छोड़ना चाहते हैं; वह उतनी अच्छी नहीं होगी।”

इसे समझना कठिन नहीं है कि लोग ऐसी धारणा क्यों बना लेते हैं। यदि मैं पहले ही वर्ष में लद्दाखी भाषा धाराप्रवाह न बोलने लगती, यदि आधुनिक जगत ने उनकी चेतना में प्रवेश किया उसके पहले ही मुझे लद्दाखियों के साथ घुल मिल कर रहने का सौभाग्य न मिला होता, तो निश्चित तौर पर मैं भी इसी ढंग से सोचती। परंतु वे लद्दाखी जिनके साथ मैं रही, संतुष्ट थे, उन्हें अपने जीवन से कोई असंतोष नहीं था। मुझे याद है कि जब मैं उन्हें बतलाती थी कि मेरे देश में अनेक लोग इतने दुःखी होते हैं कि उन्हें मनोचिकित्सक के पास जाना पड़ता है, तो वे हैरान रह जाते थे, अविश्वास से उनके चेहरे लटक जाते। यह उनके अनुभव से परे था। गहरी संतुष्टि का भाव कुछ ऐसी चीज़ थी, जिसे वे निश्चित मान कर चलते थे।

यदि लद्दाखी अन्य किसी संस्कृति को अपनाने के इच्छुक होते, तो ऐसा वे आसानी से कर सकते थे। सदियों से लेह ट्रांस-एशियाई व्यापार का केंद्र रहा है। लद्दाखी भी बतौर तीर्थयात्री और व्यापारी, विविध प्रकार के विदेशी प्रभाव से रू-ब-रू होते रहे हैं। कई मामलों में उन्होंने अन्य संस्कृतियों की वस्तुओं और रीति-रिवाजों को आत्मसात भी किया है और उनकी सहायता से अपनी संस्कृति को समृद्ध किया है। पर कभी भी उन्होंने विदेशी संस्कृति को आमूलचूल नहीं अपनाया। यदि कोई चीन से लेह आया, तो परिणाम ऐसा नहीं हुआ कि युवा वर्ग एकाएक चीनी टोपी लगाने लगे या चीनी व्यंजन खाने लगे या चीनी भाषा बोलने लगे।



क्या लदाखियों का प्राकृतिक इबुलिएस (उत्साह) और जोड़ए डी विवर,
आधुनिकीकरण का दबाव झेल सकेगा?

जैसा कि मैंने इस पुस्तक में बतलाने का प्रयास किया है, सांस्कृतिक असफलता की ओर जो दबाव ले जाते हैं, वे अनेक एवं विविध प्रकार के होते हैं। परंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्वों को इस सत्य की ओर ध्यान देना चाहिये कि लोगों को इसे देखने की सुविधा नहीं है कि उनके साथ क्या हो रहा है, क्योंकि वे विकास प्रक्रिया के बीचो बीच खड़े हैं। आधुनिकीकरण को संस्कृति के लिये खतरे के रूप में नहीं देखा जाता है। जो एकल परिवर्तन होते हैं, उन्हें बिना शर्त सुधार के तौर पर लिया जाता है; उनके क्या दुर्गामी नकारात्मक परिणाम होंगे, इसका अनुमान लगाने का कोई उपाय नहीं है। और लदाखियों के पास इस बात की भी कोई जानकारी नहीं है कि विकास का क्या असर विश्व के अन्य भागों पर पड़ा है। केवल पीछे की ओर देखने पर ही विध्वंसक प्रभावों के बारे में पता चलता है।

सांस्कृतिक असफलता का एक उतना ही महत्वपूर्ण कारण आधुनिक विश्व के सम्पर्क में आने से पैदा होने वाली हीन भावना है। पहले लदाखी आत्मनिर्भर थे — मनोवैज्ञानिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से। उस तरह के विकास की कोई इच्छा उनमें नहीं थी जो बाद में “आवश्यकता” बन गई। कई दफा मैंने लोगों से उन परिवर्तनों के विषय में पूछा, जो हो रहे थे और उन्होंने आधुनिक होने में कोई विशेष रुचि नहीं दर्शाई; कभी-कभी तो वे लोग उल्टे शंका भी करते थे। दूर दराज के क्षेत्रों में जब सड़क बनाई जाने वाली थी, तो लोग अधिक से अधिक संभावना को लेकर दुविधा में होते थे। यही बात बिजली के बारे भी सच थी। मुझे ठीक से याद है कि 1975 में स्टेंगो गाँव के लोगों का एक समूह मज़ाक कर रहा और हँस रहा था कि पड़ोस के गाँवों में बिजली लाने हेतु इतनी झंझट क्यों की जा रही है। वे सोचते थे कि यह कैसा मज़ाक है कि इतनी परेशानी उठाने और खर्च करने के बाद बड़ा बेतुका लाभ होने वाला है। “क्या इतनी झंझट करने का कोई तुक है कि आपकी छत से एक चीज लटकती रहेगी?” दो वर्ष बाद जब मैं उसी गाँव में परिषद से मिलने आई तो पहली बात जो उन्होंने मुझसे कही वह थी, “आप हमारे पिछड़े गाँव में इतना कष्ट उठाकर क्यों आई हैं, जहाँ हम अंधेरे में रहते हैं?” यद्यपि उन्होंने यह मज़ाक में कहा, पर यह जाहिर था कि बिजली न होने के कारण वे लज्जित थे।

जब तक कि लोगों की आत्मसम्मान और आत्म-मूल्य की भावना विचलित नहीं हुई थी, बिजली की ज़रूरत यह सिद्ध करने के लिए नहीं थी कि वे सभ्य हैं। परंतु थोड़े ही समय में मैंने देखा है कि विकास की ताकतें लोगों के आत्मसम्मान को किस कदर दबा देते हैं कि बिजली ही नहीं अपितु पंजाबी चावल और प्लास्टिक भी अब ज़रूरतों में शुमार हो गए हैं। मैंने लोगों को बड़े गर्व से कलाइयों पर घड़ियाँ पहने देखा है, जिन्हें वे पहन नहीं सकते और न उनका उनके लिये कोई उपयोग है। जैसे-जैसे आधुनिक दिखने की इच्छा बलवती होती जा रही है, लोग

अपनी संस्कृति को नकार रहे हैं। यहाँ तक कि पारंपरिक भोजन भी अब गर्व का विषय नहीं रहा। अब जब मैं किसी गाँव में अतिथि होती हूँ, तो लोग क्षमा माँगते हैं कि वे 'न्गाम्फे' खिला रहे हैं न कि तुरंत तैयार होने वाला नूडल्स। इस प्रक्रिया में लद्दाखी अपने अतीत के ज्ञान को बदल रहे हैं। आरंभिक दिनों में लोग मुझसे कहते थे कि लद्दाख में कभी भुखमरी नहीं रही। मैं अक्सर उन्हें "तुंगबोस ज़ाबोस" कहते सुनती थी — पर्याप्त पीने को और पर्याप्त खाने को। अब विशेषतः आधुनिक क्षेत्र में लोगों को यह कहते हुए सुना जा सकता है, "विकास अत्यावश्यक है, अतीत में हम प्रबंध नहीं कर पाते थे, हमारे पास पर्याप्त नहीं था।"

उन कारणों के लिये जिन्हें चिह्नित करने का मैंने यत्न किया है, अधिसंख्य लद्दाखी अब विकास को आवश्यक मानते हैं। और यद्यपि पारंपरिक समाज की तुलना नए से इतने अच्छे से की जा सकती है, वह आदर्श हर्गिज़ नहीं था; उसमें सुधार की गुंजाइश तो थी।

लेकिन क्या विकास का अर्थ विनाश होना चाहिये? मैं ऐसा नहीं मानती। मैं आश्वस्त हूँ कि लद्दाखी अपने जीवन के स्तर को, बिना सामाजिक एवं पर्यावरणीय संतुलन की कुर्बानी दिये उठा सकते हैं, जिसका आनंद वे शताब्दियों से उठाते रहे हैं। परंतु ऐसा करने के लिये, उन्हें अपनी प्राचीन आधार शिलाएँ बनाए रखनी होंगी, बजाय उन्हें चीर कर रख देने के, जैसा कि वर्तमान विकास का तरीका है।



अध्याय सोलह

विकास का छल

यदि लद्दाख को कभी विकसित करना हो, तो हमें यह देखना होगा कि इन लोगों को कैसे अधिक लालची बनाया जाए। उसके बगैर आप उन्हें अभिप्रेरित कर ही नहीं सकते।

लद्दाख में विकास आयुक्त, 1981

जब मैं पहली बार लद्दाख आई थी तो यह देख कर विस्मित थी कि यहाँ लालच का नामो-निशान तक नहीं है। जैसा कि विकास आयुक्त ने देखा, लोग अपना आराम या आनंद केवल भौतिक लाभ हेतु कुर्बान नहीं करना चाहते थे। उन आरंभिक वर्षों में, पर्यटक चकरा जाते थे जब लोग उन्हें कोई भी वस्तु बेचने से इनकार कर देते थे — किसी भी कीमत पर। अब विकास के अनेक वर्षों के पश्चात, पैसा बनाना प्रमुख पेशा बन गया है। नई ज़रूरतें रची जा रही हैं।

विकास के संदेशवाहक — पर्यटक, विज्ञापन और फिल्मों की छवि — स्पष्ट रूप से लद्दाखियों से कहते आए हैं कि उनके पारंपरिक तरीके पिछड़े हुए हैं और आधुनिक विज्ञान प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में इतनी मदद करेगा कि उत्पादन बहुत बढ़ जाएगा। विकास असंतोष और लालच को प्रोत्साहित कर रहा है; और ऐसा करते हुए वह उस अर्थव्यवस्था को नष्ट कर रहा है, जिसने लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक हजार वर्षों से अधिक समय तक की है। पारंपरिक रूप से लद्दाखी अपने आसपास के संसाधनों का उपयोग कमाल की पटुता और कौशल से करते रहे हैं, और सापेक्षिक सुख तथा ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली सुरक्षा में रहने का उपाय उन्होंने ढूँढ़ लिया था। वे उससे संतुष्ट थे जो उनके पास था। परंतु अब जो भी उनके पास है, वह नाकाफी है।

कोई सोलह वर्षों से या जब से लद्दाख में विकास का प्रथम आगमन हुआ, मैंने अमीरी और गरीबी के बीच के अंतर को बढ़ते देखा है, मैंने महिलाओं को अपना आत्मविश्वास और अधिकार खोते देखा है; मैंने बढ़ती बेरोजगारी और मुद्रास्फीति को देखा है एवं अपराध में नाटकीय वृद्धि को; मैंने जनसंख्या के स्तर को उठते देखा है, जिन्हें अनेक प्रकार के आर्थिक

और मनोवैज्ञानिक दबावों ने बढ़ावा दिया है; मैंने परिवारों तथा समुदायों को बिखरते देखा है; और मैंने लोगों को ज़मीन से अलग होते देखा है, क्योंकि आत्मनिर्भरता का स्थान बाहरी दुनिया पर निर्भरता ने ले लिया है।

जब मैंने देखा कि पीतल के पात्र को प्लास्टिक की बाल्टी से बदल दिया गया है, या याक के बालों के बने जूतों को फेंक कर सस्ते, आधुनिक जूते पहने जाने लगे हैं, तो मेरी पहली प्रतिक्रिया स्तब्ध रह जाने की थी। लेकिन शीघ्र ही मैं सोचने लगी कि मुझे अपने सौंदर्यबोध की प्राथमिकताओं को दूसरों पर थोपने का कोई हक नहीं है, या लोगों को यह बतलाने का कि उनके लिये क्या अच्छा है। नए जमाने की घुसपैठ कुरूप व अनुचित लग सकती है, पर उससे भौतिक लाभ भी तो आए हैं। अनेक वर्षों के बाद ही मैं एकल घटनाओं को जोड़ने पर यह जान सकी कि वे सब एक ही प्रक्रिया के पहलू थे : लद्दाखी संस्कृति को योजनाबद्ध ढंग से तोड़ना। मैंने रोजमर्रा की जिंदगी में होने वाले छोटे-छोटे बढ़ते हुए परिवर्तनों को देखना शुरू किया — जूतों की नई जोड़ी, कांक्रिट का नया मकान — जो सब आर्थिक निर्भरता, सांस्कृतिक अस्वीकृति और पर्यावरणीय पतन के भाग थे।

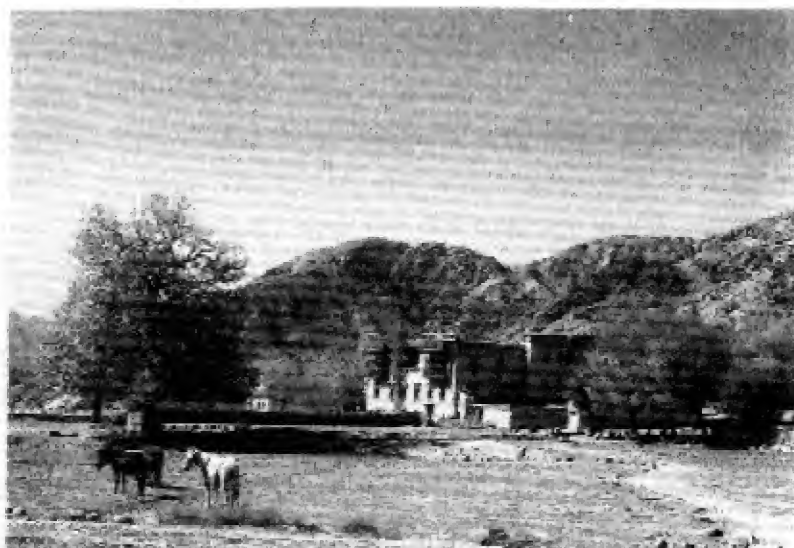
जब ये सूत्र मेरे सामने स्पष्ट होने लगे, तब मुझे शक होने लगा कि “विकास” आखिर है क्या। यह सुविचारित परिवर्तन, जिससे आशा थी कि वह अभियान्त्रिक प्रगति और आर्थिक वृद्धि के द्वारा जीवन के स्तर को ऊँचा उठाएगा, बजाय लाभ के हानि अधिक करता दिखाई देने लगा। मेरी समझ में आ गया कि लालच की रचना, कहीं अधिक बड़े परिवर्तनों के अंग के रूप में की गई है। लद्दाख में विकास, जैसा कि विश्व में हर ओर हो रहा है, के लिये समाज की विराट और योजनाबद्ध पुनर्रचना की आवश्यकता है; और इसके लिये “अधोसंरचना” पर भारी और निरंतर निवेश ज़रूरी है : पक्की सड़कें, पाश्चात्य शैली के चिकित्सालय, स्कूल, रेडियो स्टेशन, हवाई अड्डा और सबसे अधिक आवश्यक विद्युत उत्पादक इकाइयाँ। इस सब के लिये न केवल बड़े पैमाने पर पैसा लगेगा बल्कि श्रम एवं प्रशासन पर भी भारी खर्च होगा। किसी भी चरण में इस पर विचार नहीं किया गया कि इन विशाल प्रयासों के जो परिणाम प्राप्त होंगे, वे उनसे बेहतर होंगे, जो पहले से थे, अथवा नहीं। यह तो शून्य से प्रारंभ करने जैसा था, जैसे कि विकास के पहले लद्दाख में कोई अधोसंरचना थी ही नहीं। जैसे कि वहाँ पर इलाज की सुविधा, शिक्षा, संचार, परिवहन या व्यापार कुछ था ही नहीं। सड़कों, रास्तों और व्यापार मार्ग का जटिल संजाल, सिंचाई की नहरों का विशाल और परिष्कृत संजाल, जिसे सदियों तक कार्यशील स्थिति में रखा गया: ये सब जीने के चिह्न, कार्यशील संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था की ओर से ऐसे आँखे मूँद ली गई मानो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। लद्दाख का दोबारा निर्माण पश्चिमी मानदंडों के अनुसार किया जा रहा था — डामर, कांक्रिट और लोहे से।

आज तक जो अर्थव्यवस्था पूर्णतः कायम रही, लद्दाख एक ऐसा अनुपम पारिस्थितिक बिंदु उपलब्ध कराता है, जहाँ से विकास की सारी प्रक्रिया को देखा जा सकता है। आधुनिक दुनिया से उसकी टक्कर विशेष रूप से आकस्मिक और नाटकीय रही है। फिर भी जिस बदलाव का वह अनुभव कर रहा है, वह जो भी हो, अनुपम है; और वही प्रक्रिया विश्व के कोने-कोने में प्रभावी हो रही है।

जब मैं लद्दाख के परिवर्तनों को अन्य स्थानों पर हो रहे बदलावों से जोड़ कर देखना शुरू करती हूँ, तो मुझे मोटे तौर पर कुछ सामान्यीकरण भी करना होंगे। इसके लिये मैं क्षमायाचना नहीं करूँगी, क्योंकि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, जिसका वर्णन मैं कर रही हूँ, वह खुद भी एक बड़ा सामान्यीकरण है — क्षेत्रीय विभिन्नता एवं आत्मनिर्भरता के स्थान पर एकरूपता और एक जैसी अर्थव्यवस्था को थोपना।

विकास इस धारणा पर आधारित होता है कि मुद्रा का प्रसार सदैव सुधार है। जितना अधिक धन हो उतना ही अच्छा। लेकिन ऐसा उन मुख्यधारा की निर्भर अर्थव्यवस्थाओं के मामलों में सही हो सकता है जो प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं पर आश्रित हैं; पर उन अस्तित्वमान अर्थव्यवस्थाओं पर नहीं, जिनके अंतर्गत लाखों लोग रहते हैं, या उनसे लाभान्वित होते हैं — अर्थात् गैर-धनीकृत अर्थव्यवस्था, जो स्थानीय संसाधनों से सीधे जुड़ी होती है। ऐसे लोगों के लिये, जो अपना अन्न, वस्त्र और घर स्वयं बनाने में समर्थ हैं, उनके लिये जीवन की गुणवत्ता में महत्वपूर्ण गिरावट आती है, जब वे अपनी संस्कृति तथा स्वतंत्रता को अस्थिर आय के लिये त्याग देते हैं।

लद्दाख और पड़ोस का हिमालयी राज्य भूटान इन त्रुटियों का खूबसूरती से पर्दाफाश करते हैं, जिसमें मानव कल्याण को मात्र पैसों से तौला जाता है। दोनों ही मामलों में जीवन का स्तर वस्तुतः तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों से अपेक्षा अधिक ऊँचा है। लोग अपनी मूल आवश्यकताओं का प्रबंध कर लेते हैं और उसके बाद भी उनके पास उम्दा कला और संगीत, परिवार और मित्रों तथा आराम की गतिविधियों के लिये पश्चिम लोगों की तुलना में काफी अधिक समय रहता है। इसके बावजूद विश्व बैंक भूटान को विश्व के निर्धनतम देशों में से एक करार देता है। क्योंकि उसका सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी) लगभग शून्य है। इसलिए इस देश को विश्व की अर्थव्यवस्था के क्रम में सबसे निचली पायदान पर रखा गया है। इसका मतलब यह हुआ कि न्यूयार्क की सड़कों पर रहने वाले बेघर तथा भूटानी या लद्दाखी कृषक में कोई अंतर नहीं किया गया है। दोनों ही मामलों में, भले ही कोई आय कुछ भी न हो किंतु सांख्यिकी के पीछे की हकीकत उतनी ही स्पष्ट है, जैसे रात, दिन से अलग होती है।



प्राचीन व आधुनिक घर। वर्तमान आर्थिक पैमाने के अनुसार, यह प्रगति है।

दूरस्थ स्वपोषित अर्थव्यवस्थाओं में या औद्योगीकृत विश्व के हृदयस्थल में, उस प्रणाली में कोई न कोई दोष है जो राष्ट्रीय लेखा-जोखा में जीएनपी को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य संकेतक मानती है। आज जो स्थिति है, व्यवस्था ऐसी है कि हर बार जब पैसा एक से दूसरे हाथ में जाता है — चाहे वह टमाटर की बिक्री से हो या कार दुर्घटना से — हम उसे जीएनपी में जोड़ कर खुद को अधिक धनवान समझने लगते हैं। इस प्रकार जो नीतियाँ जीएनपी को ऊपर उठाती हैं, उन्हें उनके पर्यावरण व समाज पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभाव के बावजूद चालू रखा जाता है। राष्ट्र का तुलन पत्र बेहतर दिखाई देने लगता है, उदाहरणार्थ, यदि उसके सारे वृक्ष काट दिये जाएँ, क्योंकि पेड़ों को गिराने से आय होती है। और यदि अपराध में इजाफा होता है और लोग चोरी गए स्टीरियो और वीडियो रेकार्डों के लिये नए खरीदते हैं; यदि हम बीमार और वृद्धों को महंगे वृद्धाश्रमों में रखते हैं; यदि हम भावनात्मक और तनाव से संबंधित समस्याओं के लिये मदद लेते हैं; यदि हम बोतलबंद पेयजल खरीदते हैं, क्योंकि पीने का पानी बहुत प्रदूषित हो चुका है, तो यह सब जीएनपी में जोड़ा जाता है और उसे आर्थिक प्रगति के तौर पर नापा जाता है।

स्थिति अत्यंत बेतुकी हो गई है: अपने ही बाग में बोए गए आलू को खाने के बजाय, अर्थव्यवस्थाओं के लिये यह बेहतर है कि आप देश के दूसरे छोर पर ऊगे आलू खरीदें, जिसका चूरा बनाया गया हो, उसे फ्रिज में सुखाया गया हो, और उनसे रंगबिरंगे आलू के गोले बनाए गए हों। इस तरह से उपयोग करने का अर्थ बिलाशक होगा, अधिक परिवहन, खनिज तेल का अधिक उपयोग, अधिक प्रदूषण, अधिक रासायनिक भोज्य (एडिटिव) और परिरक्षक एवं उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच अधिक अलगाव। परंतु इससे जीएनपी में वृद्धि होगी, इसलिए इसे प्रोत्साहित करना चाहिये।

प्रगति का यह एक आयामी दृष्टिकोण, जिसकी वकालत अर्थशास्त्री और विकास विशेषज्ञ करते हैं, ने आर्थिक वृद्धि के नकारात्मक पहलू को छिपाने में बड़ी मदद की है। इससे भी अधिक इसने हमें स्थानीय स्वपोषित अर्थव्यवस्था के मूल्य के प्रति अंधा बना दिया है। इसके कारण आज दुनिया के लोगों, तीसरी दुनिया के ग्रामीण क्षेत्र के करोड़ों लोगों में से अधिकांश की हालत को गलत ढंग से समझा जा रहा है — और उस सत्य पर पर्दा डाल दिया गया है कि विकास कार्यक्रम ने लोगों को लाभ पहुँचाने के बजाय, अनेक मामलों में उनके जीवन स्तर को गिराया ही है।

किसान जो पहले विविध प्रकार की फसलें पैदा करते थे और कुछ पशु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु रखते थे — या तो प्रत्यक्ष रूप से या स्थानीय अर्थव्यवस्था के माध्यम से — उन्हें अब दूर के बाजारों के लिये एक ही नगद फसल पैदा करने हेतु प्रोत्साहित

किया जा रहा है। इस तरह वे उन ताकतों पर आश्रित हो जाते हैं, जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता — विराट परिवहन नेटवर्क, तेल की कीमते एवं अंतर्राष्ट्रीय वित्त का उतार-चढ़ाव। धीरे-धीरे मुद्रास्फीति उन्हें ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करने के लिये बाध्य करती है, ताकि आय सुनिश्चित हो, जिसकी उन्हें ज़रूरत उन फसलों को खरीदने के लिये होती है जो वे स्वयं उपजाया करते थे।

चूंकि नगद अर्थव्यवस्था में अति नगण्य वेतन या भुगतान को भी सुधार समझा जाता है; अतः नगद फसलें उगाना और उसके कारण व्यापार तथा परिवहन में बढ़ोतरी स्पष्टतः फायदेमंद नज़र आते हैं। वस्तुतः इस तरह के पारंपरिक विकास से अक्सर गरीबी सृजित होती है क्योंकि ग्रामीण आबादी को प्रलोभन देकर अपनी ज़मीन से दूर शहरों की गंदी बस्तियों में खींचकर लाया जाता है। लोग लगातार ऐसी अर्थव्यवस्थाओं में बंद होते जाते हैं, जो परिधि से संसाधनों को केन्द्र में ले जाती है — विश्व के उद्योग विहीन भागों से औद्योगीकृत भागों में; ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर, निर्धन से धनवान की ओर। अक्सर ये संसाधन वाणिज्यिक उत्पाद के रूप में डिब्बों में बंद होकर, प्रसंस्करित होकर, लौटकर वहीं आ जाते हैं जहाँ से गए थे, किंतु उस कीमत पर जिस पर गरीब उन्हें नहीं खरीद सकता।

इस प्रक्रिया के एक पहलू के रूप में विकास राशि मुक्त रूप से विशाल परियोजनाओं में लगाई जाती है जिसका उद्देश्य सतत बढ़ते बाज़ार के कारोबार को बढ़ाना है। चुपचाप तरीके से, बिना किसी सार्वजनिक बहस के करोड़ों डॉलर सड़कों, बाँध और खाद कारखानों के निर्माण में उड़ले जाते हैं; जो सब केंद्रीकृत व्यवस्था और अधिक ऊर्जा की खपत पर निर्भरता को बढ़ाते हैं। फिर भी जब छोटी परियोजना की बात उठती है जो कि वास्तव में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देती है, जैसे कि गाँव के स्तर पर जल विद्युत स्थापना या सौर ऊर्जा भट्टियाँ और घरेलू उपयोग हेतु वाटर हीटर, तो तुरंत सवाल किया जाता है: “क्या लोग भुगतान कर सकते हैं?” नाभिकीय रिएक्टर और विशाल बाँध पर भारी अनुदान मिलता है, जबकि छोटी टेकनालॉजी आधारित अथवा पुनःनवीनीकृत ऊर्जा को कोई विशेष सहायता किसी भी बड़ी सहायता एजेंसी से नहीं मिलती। विकास के सबसे बड़े घोटालों में से एक है कि अपार क्षमता होने के बावजूद विकासशील दुनिया का एक भी देश लघु पैमाने पर सौर ऊर्जा के विकेन्द्रित उपयोग को बढ़ा नहीं सका है — केवल दिखाने के लिये छुटपुट कार्य हो रहा है।

दुनिया भर में, विकास की प्रक्रिया ने स्थानीय आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्थाओं को तथा छोटे किसानों को विशेष रूप से या तो बेदखल कर दिया है, या हाशिये पर डाल दिया है। औद्योगीकृत दुनिया में 90 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या को कृषि से विलग कर दिया गया है। अब वही प्रक्रिया विकासशील देशों में हो रही है, फर्क इतना है कि यहाँ ज्यादा तीव्र गति से

हो रही है, क्योंकि ग्रामीण स्थिरता को तेजी से मिटाया जा रहा है।

वही शक्तियाँ जो कृषकों को ज़मीन से दूर कर रही हैं, उन्हें और भी अधिक पूँजी-और-ऊर्जा खपाने वाली औद्योगिक कृषि में धकेलना चाहती हैं। ऐसा माना जाता है कि यह कृषि से हटकर कृषि व्यापार इसलिए आवश्यक है ताकि अधिक पैदावार मिल सके और बड़ी हुई पैदावार बढ़ती हुई वैश्विक आबादी के भोजन हेतु आवश्यक है। परंतु औद्योगिक कृषि स्थिर रहने में असफल सिद्ध हुई है। इसके खाद और कीटनाशक पानी को प्रदूषित करते हैं तथा भूमि को नष्ट करते हैं, और आरंभ में अधिक पैदावार के बाद उपज घटने लगती है। इसके अतिरिक्त, एक ही तरह का बीज (मोनोकल्चर) फसल को इतना कमजोर कर देता है कि वह एक ही कीट से नष्ट हो जाती है; और रासायनिक कीटनाशक, कीट नियंत्रण की प्राकृतिक प्रणाली को बिगाड़ देते हैं। लद्दाख में जिन किसानों को कीटनाशक का उपयोग करने हेतु प्रोत्साहित किया गया है, उनका कहना है कि इसके कारण कीटों की संख्या में स्पष्ट रूप से वृद्धि हुई है।

औद्योगिक कृषि अब उन विविध प्रकार के बीजों को समाप्त कर रही है, जो विशिष्ट पर्यावरण के अनुकूल हैं और उनके स्थान पर मानकीकृत किस्में दे रही हैं। बहुराष्ट्रीय निगम और बड़ी पेट्रोकेमिकल कंपनियाँ बीजों को विशेषतः तीसरी दुनिया से निकाल रही हैं और उनसे प्राप्त जनन (जेनेटिक) सूचनाओं के जरिये, जिनका हज़ारों वर्षों से स्थानीय स्थितियों से अनुकूलन हुआ था — संकर (हाईब्रिड) बीज बना रही हैं। इन्हें ही फिर वापस तीसरी दुनिया के किसानों को बेचा जाता है — रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों के साथ, क्योंकि संकर बीजों को इनकी ज़रूरत होती है। इन संकर बीजों में प्रायः पुनःप्रजनन की क्षमता नहीं होती और कृषकों को एक निर्भरता के चक्र में डाल दिया जाता है, उन्हें नए बीज व रासायनिक वस्तुएँ उन निगमों से लेनी पड़ती हैं, जो उनके स्वामी हैं और जिनका उन पर नियंत्रण है।

जैसे-जैसे औद्योगिक कृषि का तर्क खुलता है, उतना ही अधिक अनर्थकारी वह दिखाई देता है। बायोटेकनालॉजी क्रांति के साथ — एक अवयवी से जनन गुणों को निकाल कर उनका दूसरे में प्रत्यारोपण करना — हम इस वैज्ञानिक चालाकी को बहुत बड़े पैमाने पर देख रहे हैं। क्योंकि प्रकृति का उद्योग की आवश्यकताओं के अनुरूप अनुकूलन हो रहा है, इसके कारण अधिक मानकीकरण और एकसरता होती है और असुरक्षा बढ़ती जाती है।

आग्रह मानव कल्याण पर नहीं, बल्कि वाणिज्यिक लाभ पर है। इस सत्य के बावजूद कि अधिकांश शोध सार्वजनिक निधि से किया जाता है, उसकी टेकनालॉजी पर नियंत्रण अंतर्राष्ट्रीय निगमों के हाथों में होता है, जो अब पौधों, पशुओं, और तो और यहाँ तक कि मानव जीवों को संचालित करके, उनसे उत्पाद बनाते, उन्हें पेटेंट करा लेते और बेचते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि लोग किसी न किसी रूप में संकर नस्लों का विकास तब से करते आए

हैं जब कृषि की शुरुआत हुई थी। लद्दाख में 'दजो' वर्ण संकर का श्रेष्ठ उदाहरण है, जो वहाँ के पर्यावरण के अनुकूल है। आज की जीनांतरित आभियांत्रिकी इस दृष्टिकोण से अलग है कि संकर नस्ल का विकास स्थानीय पर्यावरणीय व्यवस्था को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है। और ऊपर से जीवन के जेनेटिक आधार की चालाकी से हेराफेरी की जाती है, जबकि इसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे, इस बाबत विचार नहीं किया जाता। जो हम पहले से जानते हैं, वह यह है कि टेकनालॉजियाँ विविधता मिटाती हैं तथा प्राणीशास्त्रीय अंतर्निभरता के जाल को नष्ट कर देती हैं।

बायोटेकनालॉजी के उत्पादों को प्रकृति से बेहतर बताया जाता है: कीट-प्रतिरोधक, सूखा-प्रतिरोधक और अधिक पैदावार देने वाले। किंतु कितने वर्षों तक पेटेंट किया हुआ मक्का बड़ा और अधिक चमकीला-पीला होगा? और कितने समय तक थकी हुई ज़मीन साथ देगी? जिन लोगों को विज्ञान एवं तकनीक पर असीमित विश्वास है, उन्हें इन बातों की कोई चिंता नहीं होती। कुछ वर्ष पूर्व, जब मैंने एक बड़ी तेल कंपनी के अधिकारी से बातचीत के दौरान, भूक्षरण को लेकर आश्चर्य प्रकट किया, तो उसने कहा, "फिक्र न करें! अब हम नए संकर पर काम कर रहे हैं। हमें भविष्य में मिट्टी की आवश्यकता ही नहीं होगी।"

विज्ञान की प्रगति पर इतना भरोसा होने के कारण, हमारी दृष्टि अधिकाधिक विशेषीकृत और संकीर्ण होती जाती है, जबकि प्राकृतिक जगत का जिस कुटिलता से हम दोहन कर रहे हैं, उसका और भी अधिक खतरनाक प्रभाव पड़ेगा। कई योग्य वैज्ञानिक तक भी इन चालाकियों के परिणामों पर भविष्यवाणी नहीं कर सकते और वे जीवन के जाल में फैलती जा रही हैं। इसके बावजूद, बजाय अधिक सतर्क होने के, हमने वैज्ञानिक खोज और बाज़ार पर उनके लागू करने की समयावधि को सिकोड़ कर लगभग शून्य तक ला दिया है।

ऐसा नहीं है कि वैज्ञानिक शोध का कोई स्थान नहीं है, या आभियांत्रिकी उपयोगी नहीं हो सकती, परंतु असलियत यह है कि दोनों का गठजोड़ फटाफट लाभ और कार्यसिद्धि के संकीर्ण लक्ष्यों के लिये हो गया है और उन्हें आवश्यकता से अधिक महत्व हमारे समाज के संचालन हेतु दे दिया गया है। हमारे सामने खतरा इस बात का है कि हम पूरी तरह से नैतिकता एवं मूल्यों से दूर होते जा रहे हैं।

अभी तक मैंने "विकास," "आधुनिकीकरण," "प्राश्चात्यीकरण" और "औद्योगिकीकरण" शब्दों का प्रयोग लगभग पर्यायवाची के रूप में किया है; एक ही घटना के उल्लेख के संदर्भ में — संकीर्ण आर्थिक-धातु रूपावली — वैज्ञानिक व आभियांत्रिकी नव-विचार के साथ। यह प्रक्रिया गत शताब्दी में यूरोपीय उपनिवेशवाद एवं औद्योगिक विस्तार के साथ उपजी थी,

जिसके जरिये हमारी वैविध्यपूर्ण दुनिया को लगातार बढ़ाते हुए एकसमान आर्थिक पद्धति में ढाल दिया गया — जिस पर औद्योगिक देशों के ताकतवर निहित स्वार्थ वाले बहुराष्ट्रीय निगमों एवं तीसरी दुनिया के अभिजात्य वर्ग का दबदबा है।

वर्तमान विकास का वादा यह है कि विश्व के "विकसित" देशों के चरण चिह्नों पर चलकर, "अविकसित" देश भी धनवान और सुखी हो सकते हैं। गरीबी समाप्त हो जाएगी तथा अधिक जनसंख्या और पर्यावरण की अवनति की समस्याएँ सुलझ जाएँगी।

तर्क जो प्रथम दृष्टया उचित लग सकता है, वस्तुतः अंदर से ही दोषपूर्ण एवं खोखला है, बल्कि धोखा है। वास्तविकता यह है कि विकसित राष्ट्र ज़रूरी औद्योगिक संसाधनों का उपयोग इस ढंग से कर रहे हैं और इस गति से कर रहे हैं कि विश्व के अविकसित क्षेत्रों के लिये उनका अनुसरण करना लगभग असंभव है। जब विश्व की एक तिहाई जनसंख्या विश्व के दो तिहाई संसाधनों का उपभोग करती है और फिर उलट कर दूसरों से कहती है कि तुम भी वैसा ही करो, तो यह किसी छल से कम नहीं है। विकास हमेशा से ही शोषण का बहाना, नव उपनिवेशवाद रहा है। विकास तथा आधुनिकीकरण की ताकतों ने अधिसंख्य लोगों को आत्मनिर्भरता की तरफ से खींच लिया है और उन्हें एक मृगतृष्णा के पीछे दौड़ा दिया है, जिसमें उनका मुँह के बल गिरना अवश्यंभावी है, वे भौतिक दृष्टि से कंगाल एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भ्रमित होकर रह जाएँगे। उनमें से अधिकांश झुग्गी-झोपड़ियों में रह रहे हैं — क्योंकि अपनी भूमि व स्थानीय अर्थव्यवस्था को वे शहरी सपनों की छाया में छोड़ आए हैं, जो कभी सच नहीं होंगे।

ऐसा क्या है कि इस छलावे को अभी तक बढ़ाया जा रहा है? इसे समझना बहुत सरल है कि वर्तमान विकास लद्दाखी जैसे लोगों को इतना आकर्षक क्यों लगता है, क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि तमाम लाभ बिना कुछ दिये प्राप्त होते हैं। जैसे कि उनके पास यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि उनके पितामहों से उनके रिश्ते बदल जाएँगे, क्योंकि उनके पास अधिक धन या कार होगी। परंतु ऐसा क्यों है कि हम लोग भी, जिन्होंने दुनिया भर में विकास के प्रभावों को देखा है, ऐसा मिथक पाले हुए हैं कि हर कोई उस अमरीकी सपने को जी पायेगा। कुछ हद तक, इसका उत्तर निहित स्वार्थों में मिल सकता है। तीसरी दुनिया के अभिजात्य, नियमित रूप से विकास राशि की "मलाई" खा जाते हैं और औद्योगिक देशों का प्राथमिक उद्देश्य, अपनी विशेषज्ञता एवं उत्पादों के लिये अपना बाज़ार निर्मित करना होता है।

लेकिन इससे भी अधिक कुछ है। जो भी हो, विकास पूरी तरह से संकीर्ण, स्वार्थी लोगों के हाथों में नहीं है; ऐसे विकास विशेषज्ञों की भी कमी नहीं है, जो ईमानदारी से चाहेंगे कि विकास अधिक बराबरी से और पर्यावरण हितेषी हो। बावजूद इसके आज विकास का बहाव वैसा ही है जैसा हमेशा से ही रहा है। जबकि एक तरफ 'स्व-सहायता, आत्मनिर्भरता और

टिकाऊपन' आदि की बातें करना फैशन हो गया है, दूसरी तरफ परनिर्भरता और ऋण का स्तर बढ़ता जा रहा है और पैसा बड़े पैमाने की बड़ी परियोजनाओं की ओर जा रहा है, जो कि सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टि से विनाशकारी है।

विकास के योजनाकार ढोंग कर सकते हैं कि हर कोई न्यू यार्क के निवासी के जैसा हो जाएगा, सिर्फ तब तक जब तक कि वे इस सत्य की ओर से आँखें मूंदे रहें कि प्राकृतिक संसाधनों की भी सीमा होती है। इस मुद्दे को लेकर अर्थशास्त्रियों एवं पर्यावरणवादियों के बीच लंबे समय से बहस चल रही है। अर्थशास्त्री और तकनीकी-आशावादी यह उम्मीद करते हैं कि हम ऐसा कोई आविष्कार करने में सफल हो जाएँगे जिससे किसी भी प्रकार की कमी नहीं होगी, कि विज्ञान किसी न किसी तरह धरती की उदारता को सृष्टि के अंत तक खींच सकेगा। ऐसा नज़रिया उस सत्य को नकारता है कि प्राकृतिक संसार की भी अपनी एक सीमा है, जिसे पार करना हमारी शक्ति के बाहर है और वे बड़े आराम से धन के पुनर्वितरण की आवश्यकता के मार्ग में अवरोध खड़े करते हैं। वैश्विक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन तब आवश्यक नहीं है, यदि आप मानते हैं कि हर चीज बेहिसाब मिलती ही रहेगी। तीसरी दुनिया के लोगों को केवल "शिक्षित" करना है कि वे भी वैश्विक बाज़ार में किसी दिन प्रवेश करें, जैसा कि औद्योगिक देशों के उनके बड़े भाइयों ने किया है।

इस प्रकार की सोच के अनुसार, गरीबी और अधिक आबादी आज विश्व की प्रमुख समस्याएँ हैं और ऐसा माना जाता है कि आर्थिक विकास ही इनका समाधान है। परंतु हकीकत यह है कि इन समस्याओं के महत्वपूर्ण और गंभीर होने के बावजूद, वे बड़ी हद तक वर्तमान विकास की ही देन हैं। नगरीकरण और औद्योगीकरण जिसका की विकास हिमायती है, ने कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था की अनदेखी के साथ-साथ बड़े पैमाने पर नुकसान किया है, जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। लद्दाख में मेरे अनुभवों के अनुसार विविध प्रकार के आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दबावों का जनसंख्या वृद्धि से सीधा संबंध है, किंतु प्रमुख कारण है, स्थानीय संसाधनों से लोगों के सीधे संबंध को काट देना। वस्तुतः जनसंख्या शास्त्री अब स्वीकार करते हैं कि आधुनिक जगत से संपर्क के बाद जनसंख्या का स्तर तेजी से बढ़ता है।

बढ़ती हुई पर्यावरणीय समस्याओं और तीसरी दुनिया के कर्ज एवं भूख के बढ़ते स्तर को एक संकेत के रूप में लिया जाना चाहिये, कि वर्तमान विकास ढाँचे में कोई न कोई दोष है। यद्यपि, हाल के वर्षों में इस विषय पर गर्मा-गर्म बहस तो हुई है, पर बात ज़्यादा आगे नहीं जा सकी। लगभग हर एक स्तर पर, कई पदक्रम वाली बड़ी एजेन्सियों से लेकर ज़मीनी संगठनों तक, पर्यावरणीय एवं कायम रह सकने वाली परियोजनाओं को बढ़ावा देने के लिये, वृहद स्तर पर नीतिगत बदलाव की बातें होकर रह जाती हैं। परंतु शायद इसलिए कि विकास को समझा

ही नहीं जाता कि वह एक विस्तृत योजनाबद्ध प्रक्रिया है। उसके अनेक विनाशकारी परिणामों को केवल "साइड इफेक्ट" कह कर टाल दिया जाता है, या सामान्य नैसर्गिक प्रक्रिया मान लिया जाता है। अक्षुण्ण रखे जा सकने योग्य विकास का अधिकतर साहित्य, सामाजिक एवं पर्यावरणीय विध्वंस के अंतर्निहित कारणों की सीधे बात नहीं करता है।

छोटे, विचारवादी संगठन भी, मूल समस्या को नज़रअंदाज करते हैं और प्रायः अधिकाधिक लोगों को वृहद अर्थव्यवस्था के तहत लाने की चेष्टा करते हैं, बजाय इसके कि स्थानीय वैविध्य और वास्तविक आत्मनिर्भरता को समर्थन देने के। जैसे आजकल की शिक्षा के ढाँचे पर सवाल न उठा कर, ये संगठन बतलाते हैं कि वे विकास की दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन की ज़रूरत नहीं महसूस करते। बहुमत अभी भी उस शिक्षा पद्धति का पक्षधर है, जो लोगों को पश्चिमीकृत नगरीय उपभोक्ता बनाती है।

इसी प्रकार, वे समूह भी जो लघु-अभियांत्रिकी-आधारित अथवा नवीनीकरण करने योग्य ऊर्जा पर काम करते हैं, ऐसा दर्शाते हैं कि यह विकल्प निर्धन ग्रामीण के लिये ही है और "वास्तविक" भारी अनुदान प्राप्त विकास को भी साथ-साथ चलना होगा। अधिकांश उपयुक्त (एप्रोप्रिएट) अभियांत्रिकी साहित्य, जो बतलाता है कि लोग किसी जंग खाए धातु के टुकड़े को थामे हुए हैं, यह उस प्रवृत्ति का ही संकेत है। इसके अलावा, उचित-अभियांत्रिकी परियोजनाओं का बड़ा बहुमत इस अभियांत्रिकी को पृथक्ता से आगे बढ़ाता है और वृहद आर्थिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ की अवहेलना करता है। ऐसी परिस्थितियों में, उचित-अभियांत्रिकी को असफल होना ही है। फिर भी, जब तक कि उसे ठीक से पुनर्जीवित न किया जाए, पर्यावरणीय एवं सांस्कृतिक विविधता को बचाए रखने की कोई आशा नहीं है। बजाय इसके, ऋण एवं निर्भरता का कभी खत्म न होने वाला चक्र चलता रहेगा, क्योंकि विकासशील देश विदेशी मुद्रा के लिये प्रतिस्पर्धा करते ही रहेंगे ताकि वे "हाइटेक", "कुशल" टेकनालॉजियाँ प्राप्त करते रहें।

यूरोप केंद्रित विज्ञान की कोख से जन्मे और पश्चिम के लोगों तथा पश्चिमीकृत अभिजात्यों द्वारा लागू किया गया विकास, वह प्रक्रिया है, जो विश्व की समस्त सांस्कृतिक विविधताओं को नष्ट करके एकल संस्कृति में ढालना चाहता है। यह उस अनुमान पर आधारित है कि हर जगह ज़रूरतें एक-सी होती हैं, कि हर कोई एक जैसा खाना खाए, एक ही प्रकार के घर में रहे, एक ही प्रकार के वस्त्र धारण करे। एक जैसी सीमेंट की इमारतें, एक जैसे खिलौने, एक जैसी फिल्में और टेलीविज़न कार्यक्रम — ये सब दुनिया के कोने-कोने में प्रवेश कर गए हैं। यहाँ तक कि भाषा भी एकरूप होती जा रही है, क्योंकि आधुनिक समुदाय का अंग बनने के लिये अंग्रेजी सीखना आवश्यक है।

वही पैमाना जो कभी यूरोपीयन लोगों के लिये विकसित किया गया था, अब हर जगह प्रयुक्त हो रहा है। उदाहरण के लिये, किसी विशेष आयु के शिशु का वजन कितना होना चाहिये, कमरे का न्यूनतम तापमान कितना हो और स्वस्थ आहार कैसा हो, के पैमाने को दुनिया भर में लागू किया जाता है। पाश्चात्य विशेषज्ञ लद्दाख के लोगों और पशुओं दोनों को “स्टन्टेड” (“जिनकी वृद्धि रुक गई है”) कहते हैं, क्योंकि वे वैश्विक मानकों से छोटे होते हैं। कितना विकिरण कोई बर्दाश्त कर सकता है, इसके मानक यूरोपीयन सफेद लोगों के लिए निर्धारित किये गये थे; उन्हें सभी पर लागू किया जा रहा है, चाहे उनकी आयु, लिंग और आकार जो भी हो। कुछ विशेषज्ञों का संकीर्ण और विशेषीकृत दृष्टिकोण, उन्हें, उनके कार्यों के विस्तृत परिणामों की ओर तथा उनके वैश्विक उत्तरों की सांस्कृतिक असंवेदनशीलता की ओर देखने से रोकता है। कुछ समय पूर्व एक गोष्ठी में जब एक प्रश्न उन सब्जियों के बारे में पूछा गया जो अफ्रीकी लोग तब खाया करते थे जब हमने अपने बीजों को उन्हें भेजना आरंभ नहीं किया था, तो एक स्वीडन के कृषि विशेषज्ञ ने कहा, “उनके पास कोई सब्जी नहीं थी। वे खर-पतवार (जंगली पौधे) खाते थे।” उसकी नज़र में जो पौधे वे खाते थे, की वह हैसियत नहीं थी जो कि उन पौधों की, जिन्हें वे “सब्जियाँ” कहते थे।

लद्दाख में वर्षों बिताने के बाद, मैं महसूस करती हूँ कि जो बढ़ती समस्याएँ मैं वहाँ देख रही हूँ, उनके पीछे काफी हद तक आधुनिक औद्योगिक संस्कृति है, लद्दाखियों में स्वयं एकाएक आया कोई बदलाव नहीं है। अब मैं देखती हूँ कि यह दोष मानव स्वभाव के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता कि लद्दाखी मित्र लालची या स्वार्थी हो गये हैं या कचरा उन झरनों में फेंक देते हैं जो अभी हाल तक स्वच्छ थे; इन परिवर्तनों की जड़ में वे अभियांत्रिकीय एवं आर्थिक दबाव हैं, जो लोगों को एक-दूसरे से तथा ज़मीन से विभाजित कर रहे हैं।

इस अनुभूति ने मेरी सहायता की है कि मैं दुनिया के अन्य भागों में, वर्तमान विकास के पड़ रहे दबावों को ज्यादा अच्छे से देख सकूँ। लद्दाख के आधुनिकीकरण के कारण जो सत्यानाशी प्रवृत्तियाँ लेह में पैदा हो रही हैं, वैसी ही भारत के अन्य शहरी क्षेत्रों में और भी बड़े पैमाने पर उभर रही हैं। झील के किनारे बसा खूबसूरत शहर श्रीनगर अब बेलगाम होकर फैलते वाणिज्यवाद की चपेट में है और साथ ही वायु तथा जल प्रदूषण, सामाजिक बेचैनी व असुरक्षा की भावना से ग्रस्त है। विगत दो तीन वर्षों में यह भारतीय सत्ता के विरुद्ध पृथक्तावाद का रणक्षेत्र बन गया है। इसी तरह दिल्ली भी दिन-ब-दिन अधिक प्रदूषित होता जा रहा है। यातायात दिन दूनी रात चौगूनी गति से बढ़ रहा है और इसीलिये खाँसी की तादाद भी बढ़ रही है। कांक्र्रीट की उपनगरीय गृह योजनाएँ और प्रदूषित औद्योगिक क्षेत्र, अव्यवस्थित रूप से फैल

कर किसी जमाने में दीवार से घिरे शहर को लील रहे हैं। पानी अब पीने योग्य नहीं रहा, सड़कें सुरक्षित नहीं रही तथा हिंसा और हताशा का बढ़ता स्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है। महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है; अपराध और जातीय या धार्मिक झगड़े लाइलाज हो गए हैं।

आज़ादी के चालीस वर्षों में भारत ने औद्योगिक विकास का एक संगठित कार्यक्रम लागू किया है। इस अपेक्षया अल्प अवधि के दौरान, जनसंख्या लगभग दो गुनी हो गई है और निर्धनता बढ़ी है। संख्या का दबाव और प्राकृतिक प्रणालियों के दुरुपयोग से पर्यावरणीय व्यवस्था चरमरा गई है। विकास से ज़्यादा से ज़्यादा पंद्रह से बीस प्रतिशत भारतीय लाभान्वित हुए हैं, जबकि अधिकांश को गरीबी और हाशिये पर धकेले दिया गया है।

प्रतिवर्ष मैं लौट कर पश्चिम में आती हूँ और मेरी समझ लगातार बढ़ती जा रही है कि आर्थिक एवं अभियांत्रिकीय परिवर्तन हमारी संस्कृति को भी उसी प्रकार बिगाड़ रहे हैं; हमारा भी “विकास” हो रहा है। आज यद्यपि आबादी के मात्र 2 या 3 प्रतिशत जनसंख्या का ही भूमि से जुड़ाव रह गया है, लघु कृषकों के अस्तित्व को समाप्त कर नकार दिया गया है। और यद्यपि औद्योगीकरण ने परिवार को नाभिकीय इकाई बना कर रख दिया है, हमारी अर्थव्यवस्था अभी भी उसके छिलके उतारने में लगी है। तकनीकी प्रगति जीवन की रफ्तार को बढ़ा रही है और साथ ही लोगों के समय पर भी डाका डाल रही है। अधिक व्यापार तथा और अधिक गतिशीलता या इधर से उधर होने से गुमनामी तथा समुदाय का टूटना बढ़ रहा है। पश्चिम में इन प्रवृत्तियों को “प्रगति” कहना अधिक पसंद किया जाता है बजाय “विकास” कहने के; पर उनका उदय उसी औद्योगीकरण की प्रक्रिया से होता है, जो अंततोगत्वा केंद्रीकरण, सामाजिक अवनति तथा संसाधनों के बर्बादीपूर्ण उपयोग की ओर ले जाती है।

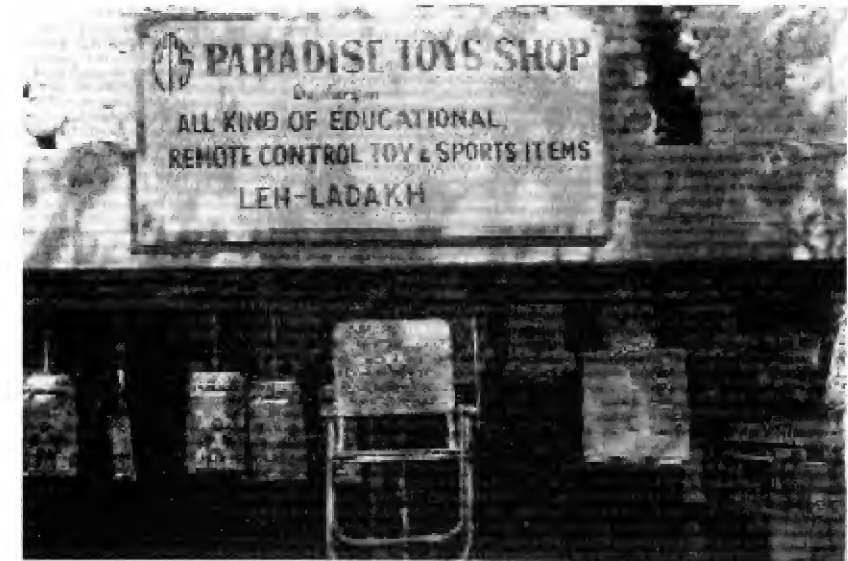
प्रगति विश्व के अनेक भागों में प्रगत चरण में पहुँच गई है। हम जिस ओर भी देखें, इसके निष्ठुर तर्क की बानगी देख सकते हैं — लोगों को हटा कर मशीनें लगाना, स्थानीय अंतर्निभरता की जगह वैश्विक बाज़ार को लाना, वेल्स में ग्रामीण पगडंडियों के स्थान पर राजमार्ग बनाना, जर्मनी में कोने की दूकान को हटा कर सुपर बाज़ार बना देना। इस सबके आलोक में साम्यवाद और पूँजीवाद का अंतर भी अप्रासंगिक हो जाता है। दोनों का जन्म एक ही वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण से हुआ, जो मानवों को सृष्टि की अन्य कृतियों से अलग रखता है; दोनों की ही मान्यता है कि प्रकृतिक संसाधनों को अंतहीन लंबाई तक खींचा जा सकता है — एक ही महत्वपूर्ण बिंदु पर अंतर दोनों में यह है कि प्राकृतिक संसाधनों को किस प्रकार विभक्त किया जाए।

उनका राजनैतिक झुकाव जैसा भी हो, सरकारें उस आर्थिक व्यवस्था में बंद हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की बढ़ोतरी पर टिकी हुई हैं। ऐसे व्यापार को भारी अनुदान प्राप्त होता है

— खास कर संचार और परिवहन नेटवर्क को बढ़ाने तथा उसका संधारण करने के लिये। स्वीडन के बिस्कुट या न्यूजीलैंड के सेब अमरीका और फ्रांस के स्थानीय उत्पादों से प्रतिस्पर्धा, ऊर्जा प्रधान प्रणाली के कारण ही कर पाते हैं, जो अनुदान से पोषित होती है और जहाँ प्रदूषण की हर कीमत पर अनदेखी की जाती है। अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण “मुक्त व्यापार” के झंडे तले चलता है और इसे लगभग दुनिया भर में लाभप्रद माना जाता है। स्वीडन के लोग केवल यूरोपीय समुदाय में शामिल होने के संभावित फायदों की बातें सुनते हैं; जबकि मैक्सिको में अमेरिका के साथ व्यापार से मुक्तिकरण के फायदे बिना किसी चुनौती के जारी हैं। गैट, उरुग्वे की बैठक में यह प्रचारित किया गया कि अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य के पहियों का तेलपानी करते रहना लाभकारी है। उसके अलोकतांत्रिक और अवैध प्रभावों — शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में अत्यधिक एवं अकल्पनीय आर्थिक नियंत्रण देना और तीसरी दुनिया के देशों की विश्व अर्थव्यवस्थाओं के अंदर हैसियत को कम करना — ये सब प्रकट नहीं किये जाते।

संयुक्त वैश्विक अर्थव्यवस्था का यदि नाममात्र का विरोध होता है और उसकी सामाजिक तथा पर्यावरणीय हानियों को बहुत कम विज्ञापित किया जाता है, तो इसमें क्या आश्चर्य है। एकता की अवधारणा की जबर्जस्त प्रतीकात्मक अपील है; वैश्विक सामंजस्य और मिलजुल कर रहना ने सभी प्रमुख धार्मिक व आध्यात्मिक परिपाटियों को आगोश में ले लिया है और इन्हें मानवता का सबसे बड़ा लक्ष्य माना जाता है। “एक बाज़ार” से समुदाय और सहयोग का बोध होता है और “वैश्विक गाँव” सुनने में सहिष्णुता व पारस्परिक विनिमय का स्थान जैसा लगता है। पर इस बात को कोई स्वीकार नहीं कर रहा है कि आर्थिक एकीकरण और अभियांत्रिकीय समानता वस्तुतः पर्यावरण का विध्वंस और समुदायों को पृथक् करने का प्रमुख कारण है। लोगों को पास लाने के बजाय, आज की अर्थव्यवस्था अमीरी और गरीबी के बीच की खाई को चौड़ा कर रही है। हम आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के भयानक केंद्रीकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं। राष्ट्रीय सरकारें, यूरोपीय समुदाय और विश्व बैंक जैसी राष्ट्रों के भी ऊपर की संस्थाओं को अपना नियंत्रण देती जा रही हैं तथा अपने उत्तरदायित्वों को तिलांजलि दे रही हैं। ऐसे संगठन उन लोगों से बहुत दूर हैं, जिनका प्रतिनिधित्व करना उनका कर्तव्य है और उनके विविध हितों की सार सम्हाल करने में भी वे अक्षम हैं।

ये राजनैतिक बदलाव दरअसल आर्थिक केंद्रीकरण के नतीजे हैं, जो बहुराष्ट्रीय निगमों को अनुमति देते हैं कि वे सरकारों के प्रभाव व शक्ति को उनसे छीन लें। ऐसी प्रवृत्तियाँ बहुत ही विचलित करने वाली हैं, क्योंकि ये निगम लोकतांत्रिक नियंत्रण की परिधि के बाहर होते हैं। संगठित श्रम और पर्यावरणीय दबाव समूहों का इन विराट निगमों से कोई मुकाबला नहीं हो



बाबी और रैम्बो : नए लड़ाखियों के रोल मॉडल।

सकता : वे वर्षों तक संघर्ष करके श्रमिकों के हितों की रक्षा करने वाले कानून बनवा सकते हैं या किसी विषैले रसायन को प्रतिबंधित करवा सकते हैं; पर उसके बाद भी पता लगता है कि कंपनियों ने अपना कारोबार विश्व के उस भाग में करना शुरू कर दिया है, जहाँ इतना कठोर नियंत्रण न हो। ट्रांसनेशनलों के लिये मुक्त बाज़ार का यही अर्थ होता है — अपने नए मुनाफों की खोज के लिये अवरोधों से स्वतंत्रता।

आज, वैश्विक अर्थव्यवस्था संसाधनों के और अधिक दोहन हेतु, अधिक अभियांत्रिकी आविष्कार, अधिक बाज़ार और अधिक लाभ की निष्ठुर दौड़ द्वारा अनुप्रेरित है। आर्थिक और मनोवैज्ञानिक दबाव, विश्व के विकासशील तथा विकसित भागों के लोगों को धकेल कर अंधे उपभोक्तावाद की ओर ले जा रहे हैं। इसका वेद वाक्य है “मानवता की बेहतरी के लिये आर्थिक वृद्धि।” विज्ञापन एवं मीडिया लोगों से कहते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिये — दरअसल वे उनसे कहते हैं, आधुनिक, सभ्य और धनवान बनो।

“तीसरी दुनिया” के ग्रामीण लोगों को आधुनिक जीवन की खासतौर से गलत छवि दिखाई जाती है — वह जिसमें आराम और तड़क-भड़क है, जहाँ हर कोई सुंदर है, हर कोई साफ-सुथरा है। वे तेज़ कारें, माइक्रोवेव ओवन और वीडियो मशीनें देखते हैं। वे देखते हैं कि लोगों

के पास अकूत धन है, वे उनके अकल्पनीय वेतनों के बारे में सुनते हैं। अब अखिल विश्व में विकास “स्वचलित पायलट” है। वहाँ भी जहाँ कोई नियोजित कार्यक्रम नहीं चल रहे हैं, विकास आधुनिक जीवन की एक आयामी छवि के अनुरूप जारी है: छवियाँ जो पार्श्व प्रभावों (साइड इफेक्ट्स) को शामिल नहीं करती – प्रदूषण, मनोवैज्ञानिक तनाव, नशे की लत, बेघर होना। लोग, जिन्हें विकास के सिक्के का केवल एक ही पक्ष दिखलाया जाता है, वे आधुनिकीकरण की चाह में धंसते चले जाते हैं।



अध्याय सत्रह

प्रति-विकास

हम अभी भी आकाश तक पहुँचने का यत्न कर रहे हैं। विकसित देशों में लोग लौट कर नीचे आ रहे हैं, यह कहते हुए, “वहाँ सब कुछ खाली है।”

ग्येलांग पालदान, सकती गाँव की एक बैठक में, 1990

जैसे-जैसे मैंने विकास प्रक्रिया के कारण लदाख को बदलते देखा, मुझे अनुभूति होने लगी कि लोगों को उन ताकतों के बारे में रती भर भी जानकारी नहीं है, जो उनके जीवन को प्रभावित कर रही है।

1987 में, जब मैं प्रदूषण के विषय पर लदाख के कृषि विभाग के अध्यक्ष से बातें कर रही थी, तो यह स्पष्ट हो गया कि उन्होंने यूरोप के मरते हुए वनों के बारे में कभी कुछ नहीं सुना था। जब मैंने उन्हें बताया कि जर्मनी के आधे के लगभग वृक्ष तेजाबी वर्षा के कारण या तो रुग्ण हैं या मर चुके हैं, तो वे दंग रह गए।

मेरी मित्र यांगसकित डोलमा ने सजल नेत्रों से मुझसे कहा, “मैंने सुना है उनके पास बड़ी संख्या में बम हैं। जब तुम अपने देश लौटोगी तो कृपया उनसे कहना कि इसे बंद करें। उनसे कहना हमें बमों की ज़रूरत नहीं है।”

एक काश्मीरी व्यापारी ने लेह में मुझसे बड़े गर्व से कहा, “हमारी सब्जियाँ स्थानीय सब्जियों से कहीं अच्छी हैं। हमारी तरकरियों में कम से कम सात विभिन्न रसायन हैं।”

कुछ साल पहले, एक लदाखी इंजीनियर मुझसे मिलने आया, वह बहुत सशंकित लग रहा था, “हमें ग्रीन हाउसेज (काँच का कमरा जिसमें नाजूक पौधे उगाए जाते हैं) बनाना बंद करना चाहिये,” उसने कहा, “ऐसा लगता है वे अत्यधिक हानिकारक हैं। अभी हाल ही में उसके विषय में बड़ी भारी अंतर्राष्ट्रीय बैठक हुई है।”

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्यर्थ के उदाहरण ज्ञान की कमी को परिलक्षित नहीं करते हैं बल्कि औद्योगिक संस्कृति के विषय में जानकारी के अभाव का परिणाम हैं। यांगसकित

पश्चिम के जीवन के विषय में कैसे जान सकती थी ताकि यह समझ सके कि मैं अपने समाज को उसी तरह प्रभावित नहीं कर सकती हूँ, जैसा वह अपने समाज को कर सकती थी? और काश्मीरी व्यापारी कीटनाशकों और खुम्भीनाशकों पर सवाल कैसे कर सकता था, जब उसे केवल उनके फायदों के बारे में बताया गया हो?

शिशुओं के लिये दुध के पावडर से लेकर जीवाष्म ईंधन तक, हर वस्तु के दूरगामी परिणामों की जानकारी को विश्व के कम विकसित क्षेत्रों तक पहुँचाने से रोकने के प्रयास किये जाते हैं। और मीडिया एवं विज्ञापन की प्रलोभनकारी छवियाँ जो उन तक पहुँचती हैं, उनके साथ विपैले कचरों, खेतों के क्षरण, तेज़ाबी वर्षा या दुनिया के तापमान में वृद्धि की चेतावनियाँ नहीं होती हैं।

विकासशील देशों के लोगों को इस बात की भी जानकारी नहीं है कि ऐसी समस्याओं की प्रतिक्रिया में, विश्व के औद्योगिक भागों के अनेक लोग अब ऐसे उपायों की तलाश में लगे हैं ताकि भूमि से पुनः संतुलन कायम हो सके। वे यह नहीं सुनते कि जो लोग बड़े नगरीय केंद्रों की भीड़ में शामिल हो गए हैं, जिनका समुदाय और प्रकृति से संबंध टूट गया है, वे अब “प्रगति” के पीछे के अनुमानों पर सवाल उठाने लगे हैं। वे मोटर वाहनों के सामाजिक एवं पर्यावरणीय पार्श्व प्रभावों (साइड अफेक्ट्स) के बारे में नहीं सुनते और यह भी कि जो लोग उन पर निर्भर हैं वे अब ट्रेनों या सायकलों का प्रयोग करने या पैदल चलने लगे हैं। समाचारों में यह शीर्षक भी नहीं होता कि औद्योगिक देशों में चिकित्सा के लिये अब अधिकाधिक प्राकृतिक उपायों का सहारा लिया जाने लगा है और यह कि अब वास्तविकता की भौतिक व्याख्या के स्थान पर आध्यात्मिक व्याख्या की ओर झुकाव बढ़ रहा है। इसे प्रचारित नहीं किया जाता कि विराट पर्यावरणीय समस्याओं को यूरोप और उत्तरी अमेरिका में कृषि में परिवर्तन की दिशा में मोड़ा जा रहा है, या यह कि औद्योगिक विश्व में उपभोक्ता अब अप्रसंस्कारित (प्राकृतिक) भोज्य पदार्थों के लिये दुगुनी कीमत देने को तैयार हैं, जो रासायनिक अवशिष्टों से मुक्त हो और यह कि कुछ सरकारें भी अब किसानों को रसायनों पर निर्भरता छोड़ कर जैविक तरीकों की ओर उन्मुख करने के लिये प्रोत्साहित कर रही हैं।

इसके साथ ही पश्चिम में तीसरी दुनिया में विकास के लिये खर्च की जा रही सहायता की सूचना अपूर्ण है। अधिसंख्य करदाता उन परियोजनाओं के प्रभाव के विषय में अनभिज्ञ हैं, जिनमें वे अपना अंशदान दे रहे हैं। अधिक से अधिक, कदाचित वे सुनते हैं कि गरीब क्षेत्रों में सड़कों और अस्पतालों का निर्माण किया जा रहा है और मान लेते हैं कि यह सुधार है। उन्हें विश्वास हो जाता है कि वे निर्धन देशों के उत्पादों को खरीद कर उनकी मदद कर रहे हैं, पर यह नहीं जानते कि तीसरी दुनिया के ग्रामीण समुदाय उस स्थिति में अधिक खुशहाल होंगे जब

वे स्वयं अपने लिये और स्थानीय मंडियों के लिये अन्न उपजाएँ, बजाय पश्चिम के बाजारों के लिये काफी, कोको या चावल पैदा कर के। उन समुदायों के विषय में बहुत कम सुना जाता है जो आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत स्वतंत्र हैं और वैसे ही रहना पसंद करते हैं, जैसे चिपको महिलाएँ, जो हिमालय की तराई में पेड़ों से लिपट जाती हैं ताकि उन्हें लकड़ी का व्यापार करने वाली कंपनियों के लिये काटा न जा सके।

इसके अलावा, पश्चिम में हम लोग यद्यपि औद्योगिक उत्पादों के संभावित खतरों के विषय में अच्छी तरह से वाकिफ़ हैं, किंतु तीसरी दुनिया में ऐसी सूचनाओं के विषय में नहीं जानते। उदाहरण के लिये शक्तिशाली दवाओं और रसायनों के संभावित पार्श्व प्रभाव (साइड इफेक्ट) के अनुभव ने हमें बहुत चौकन्ना कर दिया है। ऐसे तजुबों के अभाव में, तीसरी दुनिया के लोग बहुत कम सतर्कता बरतते हैं। कृषि श्रमिक जो खेतों में डीडीटी का छिड़काव करते हैं, वे प्रायः असुरक्षित रहते हैं, जबकि वे औषधियाँ जिन्हें पश्चिम में प्रतिबंधित कर दिया गया है, का व्यापक उपयोग होता है — कभी-कभी बहुत ही भारी मात्रा में — और वह भी बिना डॉक्टर की पर्ची के।

अनेक औद्योगिक देशों में, प्रदूषित एवं खतरनाक और विषाक्त उत्पादों की बेरोकटोक बिक्री पर थोड़ा बहुत नियंत्रण कानूनों एवं दबाव समूह की निगरानी के चलते रहता है। परंतु, विकासशील देशों में ऐसा नियंत्रण प्रायः दयनीय रूप से अपर्याप्त है। 1989 में यूरोपीय समुदाय की एक बैठक में यह बात नाटकीय ढंग से उभर कर आई जब पर्यावरण विज्ञानियों को अवसर दिया गया कि वे नीति निर्धारकों तथा उद्योगों के प्रमुखों के समक्ष, औद्योगिक कृषि के खतरों पर अपने विचार व्यक्त करें। जब वे पश्चिमी यूरोप में पारिस्थितिक विज्ञान की खराबी (ब्रेकडाउन) की भयावहता का चित्रण कर रहे थे, तब फ्रांस की एक अग्रणी औद्योगिक फर्म के प्रतिनिधि ने अपने हाथ उठा कर कहा, “हाँ, हाँ ठीक है! पर तीसरी दुनिया को हमारे लिये छोड़ दीजिए!”

यदि हम विकास और प्रगति के नाम पर हो रहे विनाश को रोकना चाहते हैं तो इसके लिये मिल जुल कर सूचना अभियान चलाए जाने की सख्त ज़रूरत है: एक शिक्षा कार्यक्रम उस औद्योगिक व्यवस्था को सुधारने के लिये, जो इस व्यवस्था की अधूरी एवं गुमराह करने वाली छवि पेश करता है, जो कि दुनिया को सामाजिक और परिस्थितियन्त्र टूटन की ओर ले जा रहे हैं। मेरे मतानुसार अधिक विकास नहीं हमें “प्रति-विकास” की आवश्यकता है।

“प्रति-विकास” का प्राथमिक ध्येय लोगों को ऐसे साधन उपलब्ध कराना होगा जिससे वे पूरी बात को समझ कर अपने भविष्य का स्वयं चयन करें। संचार के हर साधन का उपयोग करते

हुए, जैसे सेटेलाइट टेलीविज़न से लेकर कथा-कहानियों के जरिये हमें उस सत्य का प्रचार करना होगा कि आज की पूँजी-और-ऊर्जा-केंद्रित प्रवृत्तियाँ टिकाऊ नहीं हैं। अंततः, लक्ष्य होगा आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को आगे बढ़ाना और इस प्रकार स्थानीयता आधारित, सही मायनों में टिकाऊ विकास की स्थितियाँ उत्पन्न करना।

वर्तमान विकास की एक बड़ी खामी संकीर्ण, अल्पकालिक अवधारणा पर विश्वास है, जो मात्रात्मक विश्लेषण पर आधारित है। प्रति-विकास विशेषीकरण और टुकड़ों में बँटी विशेषज्ञता से आगे जाकर औद्योगिक समाज की योजनाबद्ध साजिशों को सामने लाएगा। वह समुदाय और परिवार की टूटन की ओर ध्यान आकर्षित करेगा; वह जीवाष्म ईंधन पर टिके समाज की छिपी सहायता (सबसिडी) की पोल खोलेगा; वह पर्यावरणीय क्षति को आर्थिक बही-खाते के नामे (डेबिट) की तरफ रखेगा। संक्षेप में, वह हमारे जीवन के औद्योगिक तौर तरीकों पर होने वाली बढ़ती लागत का पर्दाफाश करेगा।

इसके साथ ही प्रति-विकास नई, व्यापक और अधिक मानवीय परिभाषा को आगे बढ़ाएगा और उसका प्रचार करेगा। वह उन अनेक स्थानीय पहलों में से कुछ को रेखांकित करेगा जो अधिक टिकाऊ विकल्पों की खोज कर रही हैं। वह पारंपरिक पद्धतियों की जीवन क्षमता की ओर ध्यान दिलाएगा और उसके साथ कृषि में नई प्रवृत्तियों के विषय में सूचना देगा: पर्माकल्चर के बारे में, बायोडायनेमिक कृषि के बारे में और खेती की जैविक विधियों हेतु चल रहे आंदोलन की जानकारी देगा। वह बायो-क्षेत्रवाद एवं स्थानीय आर्थिक प्रणालियों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा; भौतिकी के नए संपूर्णतावादी पथ के बारे में बतलाएगा; वह डेनमार्क और केलिफोर्निया की पवन चक्कियों को प्रचारित करेगा तथा एक्यूंपंचर, होम्योपैथी व चिकित्सा की अन्य पद्धति आधारित प्रणालियों की बढ़ती माँग का प्रचार करेगा। वह विश्व में पर्यावरण की रक्षा, भूसंरक्षण तथा वायु एवं जल की गुणवत्ता के प्रति जबरदस्त और दिखाई देने वाली रुचि पैदा करेगा।

जिन कदमों को, ऐसे बेतरतीब और गैर-टिकाऊ विकास को रोकने हेतु उठाए जाने की आवश्यकता है, उन्हें बहुत बड़े पैमाने पर उठाना होगा तथा उन्हें शीघ्र लागू करना पड़ेगा। एकल संस्कृति (मोनोकल्चर) के तेज बहाव को रोकने हेतु हमें उन्हीं के उपायों को अपनाना पड़ेगा : वैश्विक, शिखर से नीचे की ओर, तीव्र गति से और पूँजी-केंद्रित। प्रभावी होने के लिये प्रति-विकास कार्यक्रमों के लिये भारी राशि की आवश्यकता होगी; भारत में टेहरी बांध का विरोध या कटिबंधीय वर्षा वनों को गिराने के विरोध के लिये काफी प्रयासों व धन की जरूरत होगी। उपनिवेशवाद और विकास का एक प्रभाव यह हुआ है कि विश्व के लोगों का बहुमत कुछ चुनिंदा यूरोपीय भाषाओं में से एक को बोलते हैं। अतः, विविधता को आगे बढ़ाने हेतु शैक्षणिक कार्यक्रम अपेक्षया सरलता से और तेजी से आरंभ किये जा सकते हैं; उन्हीं चंद

भाषाओं का उपयोग करते हुए संदेश प्रसारित करके।

यद्यपि प्रति-विकास की अवधारणा को अभी तक मान्यता नहीं प्राप्त हुई है, पर कई प्रयास पहले ही शुरू किये जा चुके हैं, जो इसके मानदंडों के अंतर्गत आते हैं। दुर्भाग्य से कोई ऐसा विकास संगठन मेरी जानकारी में नहीं है, जिसके पास ऐसा कार्यक्रम हो, परंतु कई पर्यावरण समूह इस दिशा में कार्यरत हैं — उदाहरणार्थ, उन समूहों का नेटवर्क जिसके दबाव के चलते विश्व बैंक को पर्यावरण विभाग आरंभ करना पड़ा, समूह जो नाभिकीय ऊर्जा के संभावित खतरों से संबंधित साहित्य का संकलन कर रहे हैं, जिसे पूर्वी यूरोप के अशासकीय संगठनों को निःशुल्क बाँटा जाएगा। और फिलीपीन्स का समूह जिसने ग्रामीण समुदायों को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया है। यह ग्रामवासियों को गाँवों से शहरों में लाकर झुग्गीवासियों से मिलाने हैं, यह दिखाने के लिये कि अपनी ज़मीन छोड़ने से कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं।

इनमें से कुछ विस्तृत प्रयास तीसरी दुनिया के व्यक्तियों द्वारा प्रेरित हैं, जिन्होंने औद्योगिकृत विश्व में लंबा समय बिताया है और जिनके लिये पाश्चात्य जीवन शैली की मोहकता चकनाचूर हो गई है। एक अच्छा उदाहरण न्सेकुये बिज़िमाना का है, जो रवांडा के हैं और जिन्होंने एक दशक से अधिक समय जर्मनी में व्यतीत किया है। अपनी पुस्तक, *व्हाइट पैराडाइज, हेल फॉर अफ्रीका?* में उन्होंने बताया है कि कैसे पहले उनके मन में जो पश्चिम की आदर्श छवि थी, वह वस्तुतः पुष्ट हुई। वे अभिभूत हो गए थे: फास्ट फूड, तेज कारें, स्वतंत्रता और गुमनामी। कुछ वर्षों के बाद उन्हें सतह के नीचे की असलियत दिखाई देने लगी — एकाकीपन और दुःख, अन्याय और बर्बादी। एक के बाद एक उनकी भ्रांतियाँ टूटती गईं और उन्हें अनुभूति होने लगी कि उनकी अपनी संस्कृति में कोई सकारात्मक गुण है, जो पश्चिम खो चुका है। पाश्चात्य समाज का अंदर से तजुर्बा हासिल करने के बाद, उनका अफ्रीका के लिये पश्चिम शैली के विकास के अनौचित्य तथा व्यर्थता पर विश्वास दृढ़ हो गया और उन्होंने देशज, अधिक आत्मनिर्भर विकल्पों का समर्थन करना आरंभ किया।

इस क्षेत्र में अन्य अग्रणी लोग भी ऐसे ही अनुभव से प्रभावित हुए थे। इनमें से मलेशिया के थर्ड वर्ल्ड नेटवर्क के मार्टिन खोर, केन्या में वांगारी माथाई, वंदना शिवा और अनिल अग्रवाल भारत में, तथा पियरे राभी बुर्किना फासों में। यह परमावश्यक है कि तीसरी दुनिया के और भी समर्पित लोगों को पश्चिम में समय व्यतीत करने का मौका मिले, ताकि वे आधुनिकीकरण के काले पक्ष का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकें।

यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि पश्चिम के वे लोग भी जिन्हें चिंता है, प्रति-विकास में शामिल हों। जिस किसी को भी पाश्चात्य संस्कृति का अनुभव है, वह इसमें भाग ले सकता है, इसके लिये किसी खास विशेषज्ञता की जरूरत नहीं है। बतौर व्यक्ति हम सरकारों और सहायता

एजेंसियों पर दबाव डाल सकते हैं। हम उन ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले संगठनों की मदद कर सकते हैं, जो आत्मनिर्भरता के लिए काम कर रहे हैं और हम स्थानीय संस्कृति को विनाशकारी परिवर्तन का विरोध करने के लिए सूचनाएँ उपलब्ध करा सकते हैं।

कई लोगों का मानना है कि तीसरी दुनिया के मामलों में पश्चिम का शरीक होना गलत है। सिद्धांततः यह ठीक है, वैध तर्क है। पर इसमें यह आसानी से भुला दिया जाता है कि घर पर रह कर भी, बतौर पश्चिम वालों की हमारी जीवन शैली — जो संसार के अन्य भागों के शोषण पर निर्भर है — का असर हमारी भौतिक उपस्थिति से भी ज्यादा नुकसानदायक है। और फिर हमारे पास औद्योगिक संस्कृति का अमूल्य अनुभव है, जिसकी आवश्यकता कम विकसित क्षेत्रों को है। यदि हम तीसरी दुनिया में शामिल नहीं होते हैं, तो क्या, उदाहरणार्थ यह सुन कर हम केवल अपने कंधे उचका देंगे कि माताएँ अपने शिशुओं को दुग्ध चूर्ण, प्रदूषित पानी मिला कर पिलाती हैं?

लेकिन लोग कहते हैं कि “उन्हें स्वयं सीखना चाहिये” और “उन्हें भी इस सबसे गुजरना होगा।” मैंने अनगिनत बार इस बाबत फ़िक्रमंद लोगों को ऐसे विचार व्यक्त करते हुए सुना है। यह तो तीसरी दुनिया के लोगों को छोटे बच्चे समझने जैसा हुआ : आप कितना ही उन्हें खतरे के प्रति सावधान करो, पर उन्हें आग में उंगली डालने से नहीं रोक सकते। अधिकतर दृष्टिकोण, अनजाने में ही विकास के छल को बनाए रखने में सहायक होते हैं। “इसमें से गुजरने” का मतलब उस प्रादर्श (मॉडल) की नक़ल करना है, जिसकी प्रतिकृति बन ही नहीं सकती; यहाँ पर संसाधन हैं ही नहीं।

आज की समस्याओं के टिकाऊ समाधान को ढूँढ़ने के लिये वास्तविक और प्रभावी प्रति-विकास एक आवश्यक शर्त है। जब तक कि उपभोक्ता एकल संस्कृति को रोका नहीं जाता, तब तक लगातार विकराल होती निर्धनता, सामाजिक विघटन और पर्यावरण की क्षति को रोकने की कोई आशा नहीं है। परंतु प्रति-विकास ही अपने आप में पर्याप्त नहीं है। अभियांत्रिकी की एकरूपता का विरोध करने के अलावा, हमें पर्यावरणीय एवं सांस्कृतिक वैविध्य को सक्रियता से सहायता देनी होगी और इसके लिये स्थानीय संसाधनों, ज्ञान एवं कौशल के यथासंभव भरपूर उपयोग को प्रोत्साहित करना होगा। विश्व के “विकसित” और “विकासशील” दोनों ही भागों में, कृषि में आत्मनिर्भरता को अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्थान देना होगा। महिलाओं के दृष्टिकोण व मूल्यों को बराबरी का महत्व दिया जाना चाहिये; तथा परिवार व समुदाय की कड़ियों को पुष्ट करना चाहिये।

यदि प्रकृति एवं लोगों के प्रति आदर हमारा आरंभ बिंदु है, तो उसकी स्वाभाविक परिणति विविधता होगी, यदि तकनीक और लोगों की आवश्यकताएँ हमारा आरंभ बिंदु है,

तो हमारे पास आज जो है वह सामने है — विकास का ऐसा मॉडल जो विशेष लोगों एवं स्थानों की ज़रूरतों से खतरनाक रूप से दूर है और उसे बड़ी सख्ती से ऊपर से नीचे की ओर थोपा गया है।

हमारे लिये स्थानीय एवं वैश्विक के बीच के संतुलन को पुनः प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि “थिंक ग्लोबली, एक्ट लोकली” पदबंध आजकल बहुत दोहराया जाता है, पर आधुनिकीकरण को पूर्णतः भूमंडलीकरण की ओर धकेला जा रहा है। स्थानीय संस्कृतियाँ और अर्थव्यवस्थाएँ खतरनाक दर से विलुप्त होती जा रही हैं और अपने साथ पौधों तथा पशु प्रजातियों को भी ले जा रही हैं। बीच का टिकाऊ रास्ता अपनाने हेतु हमें अनिवार्य रूप से विकेंद्रीकरण की ओर सक्रियता से कदम उठाने पड़ेंगे। चूँकि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यधिक निर्भरता पहले से ही रची जा चुकी है, अतः अर्थव्यवस्थाओं को एकदम एक दूसरे से “अलग” कर देना और एक से दूसरे दिन की सहायता को बंद कर देना गैर जिम्मेदाराना कार्य होगा। उदाहरण के लिये, हम तीसरी दुनिया से कॉफी या कपास क्रय करना एकदम से बंद नहीं कर सकते, जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ ऐसे व्यापार पर टिकी हैं। लेकिन हम तुरंत ऐसे सहायता कार्यक्रमों को मदद देना शुरू कर सकते हैं, जो किसानों को फिर से स्थानीय उपभोग के लिये फसल उगाने के लिये अनुप्रेरित करे; बजाय पश्चिम को निर्यात हेतु नगद फसल उगाने के।

आर्थिक विकेंद्रीकरण के समानांतर, हमें ऊर्जा उत्पादन का भी विकेंद्रीकरण करना पड़ेगा। यह भी पश्चिम और तीसरी दुनिया, दोनों में किया जाए क्योंकि अधिकांश विकासशील देशों की ऊर्जा अधोसंरचना अभी भी अपेक्षया सीमित है। इसलिए इन क्षेत्रों में सौर, पवन, बायोमास और जलशक्ति अभियांत्रिकियों का व्यापक उपयोग अपेक्षाकृत सरल होगा। परंतु अभी तक ऐसा कुछ नहीं हुआ है। बजाय इसके, पश्चिम ने अपने खुद के औद्योगिक मॉडल को बड़े पैमाने पर बढ़ाया है, जो केंद्रीकृत ऊर्जा उत्पादन पर आधारित है। विनाशकारी विकास को वास्तविक सहायता में बदलने के सर्वाधिक प्रभावी उपायों में से एक यह होगा कि नवीनीकृत (रिन्यूएबल) की जा सकने योग्य ऊर्जा के उपकरणों के विकेंद्रीकृत उपयोग हेतु व्यापक दबाव बनाना और उसे सहायता देना।

उचित टेकनालॉजी, “उच्च” टेकनालॉजी से बहुत कम खर्चीली होगी — केवल विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं, पर उससे भी महत्वपूर्ण, उसके समाज एवं पर्यावरण पर प्रभाव की दृष्टि से। इसका जन्म विशिष्ट सामाजिक और भौगोलिक वातावरण पर शोध से होगा और वह उस क्षेत्र विशेष के अनुकूल होगी, न कि उसके प्रतिकूल। जैसा कि हर व्यक्ति जो ज़मीन से जुड़ा हो, जानता है कि वायु, जल, धूप, मिट्टी और तापमान में विषमता अत्यंत कम दूरी

पर भी महत्वपूर्ण होती है। जैसे कि उपलब्ध मिट्टी के प्रकार के अनुसार लद्दाख में ईट निर्माण एक से दूसरे क्षेत्र से भिन्न है, इसीलिये स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल लघु स्थापनाओं की आवश्यकता होगी, अगर हम उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना चाहते हों। इसके लिये सुनने की, प्रकृति की गहन जानकारी की ज़रूरत होगी — एकदम अलग सोच (एप्रोच), औद्योगिक समाज के भारी भरकम तरीकों से अलग।

यदि विकास को स्थानीय संसाधनों पर आधारित होना है, तो इन संसाधनों के ज्ञान को संवर्धित करना और उसकी मदद करना आवश्यक है। बजाय मानकीकृत वैश्विक ज्ञान रटवाने के, बच्चों को वे उपकरण दिये जाने चाहिये जिनसे वे अपने वातावरण को समझ सकें। इस प्रक्रिया में, संकीर्ण विशेषीकरण तथा नगरीय परिस्थितियों के अनुसार ढालने वाली पाश्चात्य शिक्षा पद्धति की जगह व्यापक, अधिक संदर्भागत एवं पर्यावरणीय दृष्टिकोण को आगे बढ़ाना होगा। इस प्रकार का स्थान आधारित ज्ञान एक ही साथ संपूर्ण एवं विशिष्ट होगा। ऐसा विचार पारंपरिक ज्ञान को पुष्ट करेगा या उसकी पुनः खोज में सहायक होगा। वह किसी स्थान विशेष की स्पष्ट अंतर्क्रियाओं एवं जीवन के संजाल की सदियों पुरानी परंपरा की नींव पर निर्मित होगा।

स्थानीय ज्ञान का संरक्षण, शिक्षा के समस्त क्षेत्रों — प्राकृतिक विज्ञान सहित होना चाहिये। यूरोप केंद्रित वर्तमान विज्ञान से आगे निकलने हेतु हमारे लिये ज़रूरी है कि हम ऐसे शोध का समर्थन करें जो कम केंद्रीकृत हो और जो आबादी के बड़े भाग की पहुँच के अंदर हो। परिवर्तनीयों (वेरिएबल्स) को कृत्रिम प्रयोगशाला स्थितियों के अंतर्गत अलग थलग करने के बजाय, विविध संस्कृतियों तथा पारिस्थितिक विज्ञान के वातावरण में एवं जोर स्थानीय शोधार्थियों पर होना चाहिये। बजाय हाईटेक बीज बैंकों का संधारण करने के, मिसाल के लिये, कृषकों को लुप्तप्राय, देशज फसलों को उपजाने हेतु प्रोत्साहित किया जाना चाहिये और इस तरह जैविक विविधता का एक जीवंत भंडार तैयार हो सकेगा।

कृषि सबसे अधिक बुनियादी मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और यह तीसरी दुनिया के लोगों में से अधिसंख्य के जीविका का स्रोत है। इसके बावजूद किसान की स्थिति इतनी नीची कभी नहीं रही। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक शिखर वार्ताओं में, कृषि को, कई महत्वपूर्ण मसलों पर सहमति के रास्ते में सिर्फ एक “अवरोध” माना जाता है। वास्तव में, यदि यही रवैया जारी रहा, तो छोटा किसान अगली पीढ़ी तक विलुप्त हो जाएगा। यह ज़रूरी है कि हम कृषि को वह महत्व देकर जिसकी कि वह हकदार है, इन प्रवृत्तियों को उलट दें और कृषि कार्य को एक पेशे के तौर पर स्थापित करने में सक्रिय रूप से प्रयास करें। विकेंद्रीकृत विकास का पथ छोटे किसानों को अत्यधिक लाभ पहुँचाएगा। लघु कृषकों की स्थिति सुधरेगी — यदि स्थानीय

उपभोग हेतु अन्न उत्पादन को तबज्जो दी जाए, बजाय निर्यात के लिये फसल उगाने के; यदि उनके उत्पादों को उन उत्पादों से टक्कर न लेनी पड़े जो लंबी दूरियों तक अनुदान प्राप्त परिवहन नेटवर्क द्वारा भेजे जाते हैं; और यदि ऐसी कृषि अभियांत्रिकियों की सहायता उपलब्ध कराई जाए जो स्थानीय परिस्थितियों के लिये उचित हो, न कि पूँजी-केंद्रित कृषि उपकरणों के लिये, जो विशाल खेतों और कृषि व्यापार हेतु बनाए जाते हैं। वे इस तरह से भी लाभान्वित हो सकते हैं, यदि सहायता कीटनाशकों व रासायनिक खाद के लिए न देकर, अधिक परिवेशीय व तर्कसंगत उपायों की ओर मोड़ी जाए।

किसानों के साप्ताहिक बाज़ार आदि इस तरह के कई परिवर्तन अब दिखने लगे हैं। कृषक मंडियाँ जो उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की दूरी को कम करती हैं, दिखाई देने लगी हैं, जबकि विश्व भर में हज़ारों लोग एवं संगठन, स्थानीयता आधारित, टिकाऊ विकल्पों की खोज में लगे हैं और वे प्रायः पारंपरिक कृषि पद्धति की प्रमाणित सफलता से प्रेरित होते हैं। परंतु, अधिकारिक सहायता अभी भी बहुत पीछे चल रही है। हालाँकि उत्साहवर्धक संकेत मिल रहे हैं कि सरकारें भी जैविक कृषि को मान्यता देने की आवश्यकता की ओर अग्रसर हो रही हैं, परंतु आर्थिक उत्प्रेरणा अभी भी बायोटेकनालॉजी और वृहद कृषि-व्यापार के पक्ष में ही है। हमें छोटी, विविधता प्रदान करने वाली कृषि को राष्ट्रीय प्राथमिकताओं की सूची में सबसे ऊपर रखने की ज़रूरत है।

एक विकेंद्रीकृत विकास पथ निश्चित ही स्त्रियों की स्थिति को मज़बूत करेगा और पुरुष व महिला के मूल्यों के बीच के संतुलन को पुनः स्थापित करेगा। औद्योगिक संस्कृति में, शक्ति लगभग पूर्ण रूपेण पुरुषों के हाथों में होती है। विज्ञान, अभियांत्रिकी और अर्थशास्त्र — इस संस्कृति की आधार शिलाएँ, आरंभ से ही पुरुषों के वर्चस्व में रही हैं। विकास के प्रभाव के चलते स्त्रियाँ पीछे रह गई हैं — वास्तविक और प्रतीकात्मक दोनों रूप से — क्योंकि पुरुष काम की तलाश में नगरीय केंद्रों में चले जाते हैं। और कृषि अर्थव्यवस्थाओं के अंदर भी, पूरे विश्व में ही महिलाओं को मशीनीकरण के चलते हाशिये पर धकेला गया है। विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था, स्थानीय संबंधों को मज़बूत करके स्त्रियों के लिये अपनी बात कहने को सरल बना देगी। तब महिलाएँ निर्णय लेने और आर्थिक गतिविधियों की परिधि पर नहीं बल्कि इसके केंद्र में होगी।

तीसरी दुनिया के अधिकांश भागों में परिवार आज भी भरे पूरे और सुदृढ़ हैं। बच्चे व बुजुर्ग एक साथ रहते और बढ़ते हैं, एक दूसरे को सहायता एवं सुरक्षा प्रदान करते हैं। पर पारिवारिक जुड़ाव भी, पश्चिम-शैली की प्रगति के शक्तिशाली बलों का हमला झेल रहे हैं, जो कि पीढ़ियों के मध्य और भी अधिक विभाजन करने पर आमादा हैं। इस प्रवृत्ति को उलटने के लिये हमें

समुदायों के आपसी जुड़ाव को मज़बूत करना होगा जिन पर भावनात्मक रूप से स्वस्थ परिवार एवं व्यक्ति निर्भर हैं। इसका निहितार्थ है — स्थानीय सुदृढ़ अर्थव्यवस्थाओं की सहायता करना।

ऐसी अर्थप्रणालियाँ सुहाने सपनों से कहीं अधिक हैं; उन्होंने एक सहस्र वर्षों तक विश्व के अनेक भागों में प्रशंसनीय सेवा की है। उनका झुकाव संपत्ति के समान वितरण की ओर अधिक है, बनिस्बत वृद्धि आग्रही केंद्रीकृत प्रणालियों की तरफ; और वे लोगों की आवश्यकताओं के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों की सीमाओं के अनुरूप हैं। उन्हें पुनर्जीवित करने में सहायक होकर, हम सांस्कृतिक और पारिस्थितिक (ईकोलॉजिकल) विविधता को बनाए रखने में भी मददगार हो सकेंगे।

इस प्रकार की सोच, वर्तमान विकास के विचारों के मापदंडों के बाहर की चीज़ है। निःसंदेह वे मानव कल्याण के लिये अत्यंत बुनियादी हैं। पर, यही कि हम भूल न जाएँ कि विकास का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये। जैसा कि भूटान नरेश ने कहा था कि समाज की खुशहाली का सही संकेतक सकल राष्ट्रीय उत्पाद नहीं, अपितु “सकल राष्ट्रीय सुख” है।



अध्याय अठारह

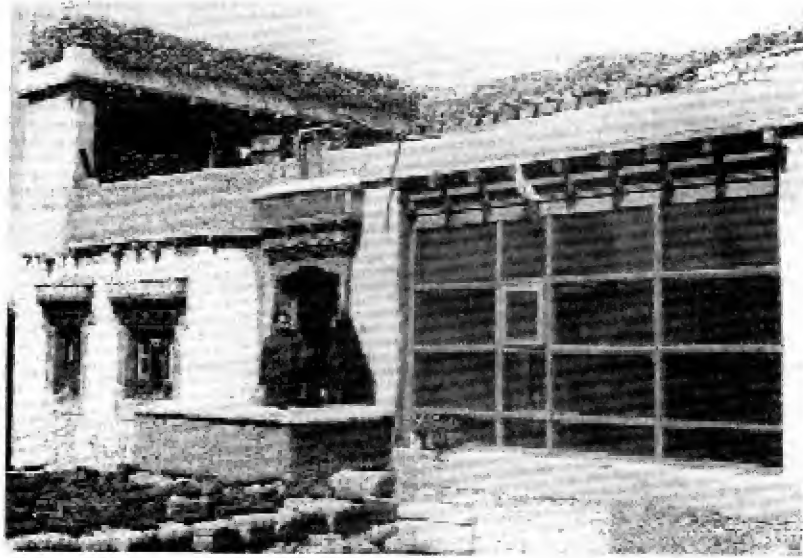
लद्दाख परियोजना

लद्दाख वास्तव में स्वर्ग है। अफसोस इसे नष्ट किया जाएगा।

पर्यटक 1975 में

लद्दाख में मेरे पहले साल के दौरान, अनेक पर्यटक जिनसे मैं मिली वे भाग्यवादी थे। उन्हें पूरा यकीन था कि इस क्षेत्र का संपर्क जब बाहरी दुनिया से होगा, तो उसके अवश्यंभावी परिणाम होंगे — अपराध, प्रदूषण और बेरोजगारी। उनकी नज़रों में प्रगति एक प्राकृतिक और अटल प्रक्रिया है, जो एक ही आकार ले सकती है। पर मैं सहमत न हो सकी। मुझे लगता था कि विनाश, जिसे मैंने शुरू होते देखा, वह न तो आवश्यक था और न ही अवश्यंभावी। बल्कि, वह विशेष नीतियों और सोच का परिणाम था, जिसे बदला जा सकता था। मैं आश्चर्य थी कि कोई और रास्ता निकल सकता है।

उन्हीं दिनों ‘स्माल इज़ ब्यूटीफुल’ की प्रति मेरे हाथ लग गई जिसके लेखक अर्थशास्त्री ई.एफ. शुमाकर थे, जिसने मेरे विश्वास को पुष्ट किया कि विकास का मतलब विनाश नहीं होता। मैं देख चुकी थी कि आधुनिक क्षेत्र के लद्दाखी लोग किस तरह अपने घरों को शीतकाल में गर्म रखने हेतु आयातित कोयला और लकड़ी खरीदने लगे थे। उनके लिये, यह वाकई बढ़िया सुधार था, बजाय थोड़ी ही मात्रा में उपलब्ध गोबर को जलाकर सर्दियों की कड़कड़ाती ठंड का मुकाबला करने के। किंतु, जैसा कि स्पष्ट होता जा रहा था, इन ईंधनों को परिवहन द्वारा हिमालय तक लाना बड़ी समस्या थी और कीमतें प्रति वर्ष बढ़ती जाती थीं। ऐसा कोई उपाय नहीं था जिससे पारंपरिक स्वपोषित अर्थव्यवस्था में रहने वाला परिवार, पूरी सर्दियों का खर्च वहन कर सकता था; इन ईंधनों को खरीदने का एक ही साधन था कि लेह में पूँजी-अर्थतंत्र से जुड़ जाएँ। इसके कारण लोग ज़मीन से पूँजी की ओर जाने लगे और मुद्रास्फीति वाली अर्थव्यवस्था पर निर्भरता बढ़ती गई, जो ऐसे संसाधनों पर आधारित होती है जिनका नवीनीकरण नहीं किया जा सकता।



ट्रोम्बे वाल सोलर स्पेस हीटिंग सिस्टम — साबू गाँव के एक निजी मकान में। स्थानीय लोगों द्वारा निर्मित, इसका पारंपरिक शिल्प से अच्छा संयोजन हुआ है।

मैंने राज्य और केंद्रीय सरकारों को पत्र लिखना आरंभ किया, ऐसी नीतियों की वकालत करते हुए, जो स्थानीय संस्कृति की शक्तियों पर बनाई जाएँ और नवीनीकरण योग्य ऊर्जा के प्रयोग को प्रोत्साहित करें। 1978 में योजना आयोग के साथ अनेक बैठकों के पश्चात, मैंने निवेदन किया और मुझे अनुमति मिली कि मैं एक लघु परियोजना बनाकर कुछ सरल सोलर टेकनालॉजियों का प्रदर्शन करूँ। सौर ऊर्जा पहली पसंद थी, क्योंकि क्षेत्र में साल में तीन सौ दिवसों तक सूर्य का प्रकाश रहता है। परियोजना का केंद्र बिंदु था, घरों को गर्म रखने का प्रभावी तरीका ढूँढ़ना, पर हमने प्रदर्शन हेतु सौर भट्टी (ओवन) और ग्रीन हाउस भी बनाया। सौभाग्य से घरों को गर्म रखने हेतु एक सुरुचिपूर्ण सरल अभियांत्रिकी उपलब्ध थी, जिसे उसके फ्रांसीसी रूप-रेखाकार के नाम पर ट्रोम्बे वाल नाम दिया गया था। हमने पाया कि यह पद्धति सरलता से पारंपरिक शिल्प व उपलब्ध सामग्री से अपनाई जा सकती है। बाहर की दक्षिणमुखी दीवार पर कांच की दो परतें जोड़ी जाती हैं, जिन पर काला रंग कर दिया जाता है, ताकि वे सूर्य की किरणों को सोख लें। छत एवं अन्य दीवारें घास फूस से तापरोधी की जाती हैं।

ट्रोम्बे वाल लद्दाख के लिये आदर्श साबित हुई। मिट्टी की ईंट सौर ऊर्जा का अवशोषण और भंडारण करने का अच्छा माध्यम है; और सर्दियों के निचले सूर्य की किरणें कमरे को अच्छे

से गर्म कर देती थीं, जबकि गर्मियों में उच्च सूर्य किरणें मुश्किल से दीवार को स्पर्श कर पाती थीं, जिससे कमरा ठंडा और आरामदेह रहता था। पूरी प्रणाली की स्थापना पर लगभग तीन सौ डॉलर का व्यय आता है, या एक 'दुजो' की कीमत। क्योंकि औसत विद्युत बिल अन्यथा दो सौ डॉलर प्रतिवर्ष तक हो सकता था — एक साल के जीवाष्म ईंधन की कीमत, जैसे कोयला — अतः दीवार की लागत दो सर्दियों के मौसम से भी कम में निकल आती है।

हमारी पहली ट्रोम्बे वाल को बनाने से पहले, कई लोगों को उसके बारे में शंका थी। फुन्सोग दावा, जो आगे चलकर इसे अजमाने वाला पहला व्यक्ति बना, ने इस विचार पर हँस कर कहा, "मूर्ख न बनो, गर्मी दरवाजा खोलते ही बाहर निकल जाएगी।" और जब हम उसकी दीवार बना रहे थे, घास का तापरोधीकरण मिश्रियों के मनोरंजन का स्रोत बना गया, उन्होंने उसे "चूहों का घर कहा।" लेकिन उसके बाद से ट्रोम्बे वाल एवं अन्य सौर तकनीकों में धीरे-धीरे रुचि बढ़ती ही जा रही है।

लद्दाख में मेरे शुरुआती वर्षों में, मेरा ध्यान भाषा संबंधी अध्ययन पर केंद्रित था। पर जब मैं सारे क्षेत्र में लोक कथाएँ एकत्रित करती घूम रही थी, तो मैंने अपने आपको अनजाने में ही प्रति-विकास में उलझा हुआ पाया। क्योंकि मैं अकेली विदेशी थी, जो लद्दाखी बोल सकती थी, सारे लद्दाख के लोग मुझसे निरंतर पश्चिम के जीवन पर सवाल पूछते थे। विशेषकर युवाओं के मन मस्तिष्क में आधुनिक जगत के विषय में अतिरंजित चित्र उभरने लगा था, इसके फलस्वरूप वे अपनी संस्कृति को सिरे से खारिज करने लगे थे और उस पर शर्मिंदगी महसूस करते थे। लोग स्वयं को गरीब मानने लगे थे। मुझमें यह अहसास बढ़ता गया कि इस त्रुटिपूर्ण प्रभाव को दूर करना और पश्चिम वालों के विषय में अधिक सही जानकारी देना, एक पश्चिम वाले के लिए वैध एवं उपयोगी भूमिका थी।

अनगिनत अनौपचारिक वार्ताओं और बार बार रेडियो पर साक्षात्कारों के बाद, मैंने देखा कि मैं पश्चिम को लेकर अतिशयोक्तिपूर्ण प्रभावों के विरुद्ध लद्दाख की पैरवी कर रही हूँ; प्रति-विकास की अवधारणा धीरे-धीरे मेरे मन में आकार लेने लगी। चूंकि नाटक पारंपरिक रूप से मनोरंजन का लोकप्रिय रूप था, मैंने नाटकों की एक श्रृंखला ग्येलांग पाल्दान के साथ लिखना आरंभ की, जिनके साथ मैं शब्दकोश पर काम कर चुकी थी। सबसे पहला: लद्दाख, लुक बिफोर यू लीप (लद्दाख, छलांग लगाने से पहले देख लो) हमारे काम का सार प्रस्तुत करता है।

नौजवान रिगजिन पुरानी संस्कृति को अमान्य करता है और यथाशक्य प्रयत्न करता है कि वह आधुनिक पाश्चात्य व्यक्ति की भाँति रहे। वह लद्दाखी भोजन खाने से और मक्खन वाली चाय पीने से इनकार करता है। वह अपने माता-पिता की "पुराने फैशन के" कह कर खिल्ली उड़ाता है और धूम्रपान करता व मोटर-बाइक पर घूमता रहता है। वह और उसके मित्र अपना



नाटक का एक दृश्य: लदाख, लुक बिकोर यू लीप।

समय तथा पैसा डिस्को में कानफोडू पाश्चात्य संगीत पर नाचते हुए बिताते हैं। वह जीन्स पहनता तथा डिजाइनर धूप का चश्मा लगाता है।

एक दिन उसके दादा बीमार पड़ जाते हैं और रिगजिन अपने माता-पिता को मना लेता है कि एक पश्चिम में प्रशिक्षित डॉक्टर को बुलाएँ, जो हाल ही में अमेरिका से लौटा है। वह डॉक्टर पर सवाल की झड़ी लगा देता है कि पश्चिमी दुनिया के जीवन के बारे में बताएँ। परंतु वह अचंमित रह जाता है, जब डॉक्टर उसे बतलाता है, “अमेरिका में,” सबसे आधुनिक लोग चक्की में पिसे गेहूँ के आटे की रोटी खाते हैं। वह हमारी पारंपरिक रोटी जैसी ही होती है, परंतु वहाँ वह सफेद पाव रोटी से बहुत महंगी होती है। वहाँ के लोग प्राकृतिक सामग्री से घर बनाते हैं, बिल्कुल हमारे जैसे। चलन यह है कि ऐसे कपड़ पहनो, जिन पर लेबल लगा हो ‘100% प्राकृतिक’ और ‘शुद्ध ऊन’। गरीब लोग पॉलिएस्टर के वस्त्र पहनते हैं। मैंने इतने की आशा नहीं की थी। अमेरिका में जो आधुनिक है वह लदाख के जैसा ही है, दरअसल लोग मुझसे कहा करते थे; “तुम किस्मत वाले हो जो लदाख में पैदा हुए हो।”

पाँच सौ लदाखी प्रेक्षागृह में नाटक का पहला प्रदर्शन देखने आए, जो बहुत सफल रहा। तत्पश्चात, स्थानीय नेता जिनमें छेवांग फोनसोंग भी थे, विकास आयुक्त तथा स्थानीय प्रशासन के उच्चाधिकारियों ने सांस्कृतिक स्वाभिमान के महत्व पर व्याख्यान दिये। किंतु अन्य प्रतिक्रियाएँ भी थीं; सोनम पालजोर नाराज था, “आपने बड़ा चढ़ा कर दिखलाया है” उसने

कहा। “हालात इतने खराब नहीं हैं।” परंतु कुछ वर्षों के बाद उसने कहा, उसका ही पुत्र बड़ा होने पर नाटक के युवा जैसा आचरण करने लगा है।

भाषा के जरिये, मैं लदाखियों की सोच के तरीके को समझ सकी और उनके समाज में घुल मिल गई। पाश्चात्य तरीके किस प्रकार लदाख को बदल रहे हैं, इसे देखते हुए, मैं अपनी ही संस्कृति को अलग दृष्टि से देखने लगी। हमारी पूँजी-और-ऊर्जा-केंद्रित जीवन शैली की बर्बादी व अन्याय मुझे स्पष्ट नज़र आने लगा। मैं पहली मर्तबा उस उच्च मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कीमत के बारे में कुछ समझ पाई, जो इस तरह के विकास का नतीजा है और जो लोगों को एक दूसरे से अलग कर देता है।

मैंने यूरोप और उत्तरी अमेरिका में व्याख्यानों तथा गोष्ठियों का सिलसिला आरंभ किया। पारंपरिक लदाख के सामाजिक व परिवेशीय संतुलन का विवरण देकर और किस तरह वर्तमान विकास उसे नष्ट कर रहा है। मैं पश्चिम में अपनी समस्याओं के कुछ मूल कारणों को रेखांकित करने में भी सफल हुई। मुझे उम्मीद थी कि पश्चिम के श्रोताओं को हम से भिन्न सिद्धांतों पर आधारित संस्कृति की झलकियाँ दिखाकर मैं उनमें यह विश्वास जगा सकूँगी कि जीवन का अधिक मानवीय एवं टिकाऊ उपाय भी संभव है।

1980 तक, लदाख और पश्चिम में मेरी गतिविधियाँ एक लघु अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में बढ़ चुकी थीं, जिसे लदाख प्रोजेक्ट नाम दिया गया जो कि 1991 में इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर ईकालॉजी एंड कल्चर बन गई। हमारा प्रयास प्रगति को इस तरह बदलने हेतु प्रोत्साहित करना है जो अधिक पारिस्थितिक (ईकालॉजीकल) तथा समुदाय-आधारित जीवन शैली पर आधारित हो। हम राजनैतिक एवं आर्थिक केंद्रीकरण को उलटने की तात्कालिक आवश्यकता पर बल देते हुए, असली अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अधिक सांस्कृतिक विनिमय के द्वारा प्रोत्साहित करते हैं। हम यह भी सोचते हैं कि निरंतर संकीर्ण होते विशेषीकरण से अधिक व्यापक एवं व्यवस्थित दृष्टिकोण की ओर जाना — ऐसी सोच जो संबंध तथा संदर्भ के प्रति आग्रही है, बजाएँ एकांतिक घटना के — यह और अधिक सामाजिक और पर्यावरणीय विनाश को रोकने के लिये आवश्यक है। अपने विचारों के प्रचारार्थ, हम कार्यशालाएँ एवं व्याख्यानों का आयोजन करते हैं तथा शैक्षणिक उद्देश्य से वीडियो और प्रकाशनों का उत्पादन करते हैं, जिनमें ऊर्जा, कृषि तथा स्वास्थ्य जैसे प्रमुख मुद्दों पर पत्रों की शृंखला भी वैश्विक प्रवृत्तियों का परीक्षण करने हेतु होती है। ये सामग्रीयाँ, जो हमारे लदाख के तजुबों पर आधारित हैं, वैश्विक मामलों पर बहस उकसाने हेतु उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। हमने पाया है कि लोग आम तौर पर अपने विभाग उन प्रश्नों के प्रति खुला रखते हैं जो लदाख उठाता है, बजाय उन उदाहरणों के जो उनके निकटस्थ क्षेत्र के हों। जब मैं अमेरिका या इंग्लैंड में व्याख्यान देती हूँ, लदाखियों

के मुस्कुराते चेहरे और उनमें झलकती संतुष्टि, उन्हें पुनर्मूल्यांकन हेतु प्रोत्साहित करती है, प्रगति के सर्वाधिक दबे हुए दृष्टिकोण को भी।

लद्दाख में, परियोजना उन बदलावों की सूचना लाती है जो विश्व के सर्वाधिक “आधुनिक” क्षेत्रों में, ज्यादा परिवेशीय मामलों में हुए हैं। हमने कोशिश की है कि हम स्वीडन या अमेरिका में जीवन के टिकाऊ उपायों की खोज का व्योरा दें, जिससे कि लद्दाखी इन प्रवृत्तियों और स्वयं अपनी औद्योगिकीकरण के पूर्व के तरीकों से तुलना कर सकते हैं।

इसके पहले, ट्रॉम्बे वाल के प्रदर्शन की अनुक्रिया में एवं रेडियो कार्यक्रम और नाटकों के मंचन के कारण, विचारशील लद्दाखियों का एक समूह और भी उपयुक्त टिकाऊ विकास मार्ग की खोज में लग गया। वे लद्दाख के अग्रणी चिंतकों, उच्च निष्ठा एवं समर्पण वाले लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से कई लद्दाख से बाहर गए, आधुनिक शिक्षा प्राप्त की, पर अपनी पारंपरिक संस्कृति एवं मूल्यों को उन्होंने नहीं छोड़ा। 1983 में हम विधिवत — लद्दाख ईकोलाजिकल डेवलेपमेंट ग्रुप (एलइडीजी) के रूप में पंजीकृत हुए। वर्तमान में चालीस कर्मियों के स्टाफ सहित एलइडीजी इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावी अशासकीय संगठन बन गया है। लद्दाख प्रोजेक्ट के साथ, एलइडीजी ने उचित तकनीकों का विकास करना और उनका प्रदर्शन करना जारी रखा है और उसे इतने अधिक आवेदन प्राप्त होते हैं, जिनकी पूर्ति करना उसकी क्षमता से बाहर है। ट्रॉम्बे वाल के अतिरिक्त, हमने स्पेस हीटिंग के लिये डायरेक्ट-गेन पद्धति बनाई है। अन्य सौर अभियांत्रिकियों में चावल व सब्जियाँ बनाने हेतु भट्टियाँ, डबल रोटी एवं केक सेकने के ओवन, वाटर हीटर — बैच और थर्मोसायफनिंग प्रणाली दोनों किस्म के — तथा ग्रीन हाउसेज हैं, जिनमें लोग साल भर सब्जियाँ पैदा कर सकते हैं।

हमने अपने खुद के तकनीकी कर्मचारियों द्वारा हाइड्रोलिक रेम पम्प, पूर्णतः मानक प्लंबिंग पुर्जों को लेकर विकसित किया है। ये गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से पानी को ऊपर उठाते हैं, न कि आयातित पेट्रोलियम से। हमने जिन पंपों को सर्वप्रथम लगाया, उनमें से एक ने मैथो मठ के शीर्ष तक, 150 फुट ऊपर तक पानी को खींचा, जिससे वहाँ के भिक्षु चकित रह गए और हमारी प्रशंसा की; उन्हें अब तक नीचे से पीठ पर लाद कर पानी लाना पड़ता था। एक अन्य परियोजना पारंपरिक पानी की चक्कियों के संशोधन में लगी है, जिससे कि न केवल अनाज को अधिक गति से पीसा जा सकता है, अपितु चलाने के औजारों हेतु यांत्रिक शक्ति भी उपलब्ध होती है। 1989 से विद्युत की बढ़ती लालसा के कारण, हमारे तकनीकी कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य गाँवों में घरों की बतियाँ जलाने हेतु सूक्ष्म जल-विद्युत संयंत्रों पर केन्द्रित किया गया।

ये सारे तकनीकी विकल्प आर्थिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से व्यावहारिक हैं। अधिक मानव केंद्रित एवं विकेंद्रित विकास मानदंडों को प्रोत्साहित करते हुए, वे सक्रिय



लेह में सेंटर फॉर इकोलाजिकल डेवलेपमेंट

रूप से पारंपरिक संरचनाओं की सहायता करते हैं, बजाय उन्हें नष्ट करने के। ऐसा भी नहीं है कि वे “गरीबों के लिये तकनीक” है, जो केवल सर्वहाराओं के लिये उपयुक्त है। हम इसे स्पष्ट करने का पूरा प्रयास करते हैं कि प्रदूषण न फैलाने वाली, नवीनीकृत की जा सकने वाली ऊर्जा पर आधारित तकनीक, घटिया किस्म की ‘नहीं’ है, अपितु अत्यंत प्रभावी है एवं विकसित तथा विकासशील, दोनों तरह के देशों की दीर्घकालिक आवश्यकताओं के लिये कुशल समाधान उपलब्ध करती हैं।

हमारी सभी परियोजनाओं में लाभार्थियों की भागीदारी होती है। हमारे द्वारा टर्बाइन लगाने से पहले, उदाहरण के लिये, ग्रामवासियों को ही उपयुक्त स्थान चुनने, वर्तमान नाली को सुधारने तथा टंकी बनाने में मदद करनी होती है। उसके बाद एक या दो ग्रामवासी लेह में हमारी कार्यशाला में आकर संयंत्र को चलाने तथा उसके रखरखाव करने का छः माह तक प्रशिक्षण लेते हैं। जब टर्बाइन चालू हो जाता है, तब गाँव की जिम्मेदारी छोटा बिजलीघर बनाने की होती है।

एलइडीजी का मुख्यालय लेह के हृदयस्थल में सेंटर फॉर इकोलाजिकल डेवलेपमेंट है। इसका उद्घाटन 1984 में इंदिरा गांधी ने किया था तथा पुण्यार्पण दलाई लामा ने किया। यह हमारे कार्यों की प्रयोग एवं निर्माणशाला है तथा इसके पीछे सोच है लद्दाख के नीति निर्धारकों एवं बाहर से आने वालों का ध्यान आकर्षित करना। इसमें न केवल लद्दाख के अंदर बल्कि शेष

भारत में भी पर्याप्त रुचि पैदा हुई है। यहाँ आने वालों में शासकीय अधिकारी, पत्रकार, शिक्षक और पर्यटक एवं लद्दाखी जीवन के हर क्षेत्र के लोग होते हैं। यहाँ लद्दाखी, विदेशी पर्यटकों से बराबरी की हैसियत से रू-ब-रू होते हैं। इस वजह से दोनों संस्कृतियों के बीच संवाद की सहूलियत हो जाती है, पश्चिम वालों के दिमाग में जमी धुंध दूर होती है और लद्दाखियों को पता चलता है कि विदेशी भी पारंपरिक संस्कृति को कितना महत्व देते हैं और वे यह भी देख पाते हैं कि हम लोग कैसा काम कर रहे हैं।

भवन भी इसका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस तरह पारंपरिक लद्दाखी शिल्प का उन्नयन करके उसे बदलती हुई आकांक्षाओं व आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जा सकता है। भवन का एक भाग सौर ऊर्जा से गर्म होता है और गर्म पानी छत पर स्थापित सौर वाटर हीटिंग पैनलों से प्राप्त होता है। एक छोटा पवन जनरेटर बेक-अप बत्तियों के लिए बिजली प्रदान करता है। एक उद्यान में सोलर कुर्स तथा डायर्स की कतार है और सौर ऊर्जा से चलित ग्रीन हाउस हैं। इन सभी तकनीकों का सक्रिय उपयोग हो रहा है और उनके साथ लिखित एवं चित्रमय सामग्री भी मौजूद है, जिसमें समझाया गया है कि वे कैसे काम करते हैं और उन्हें कैसे बनाया गया है।

केन्द्र में एक स्वल्पाहार ग्रह है, जहाँ हमारी सौर ओवनो में बना भोजन परोसा जाता है। साथ ही, एक सतत बढ़ता पुस्तकालय है जिसमें विश्व भर में परिवेशीय मामलों और टिकाऊ विकास में बढ़ती रुचि को प्रदर्शित किया गया है। हमारे पास एक कार्यशाला भी है, जहाँ हम लगभग सभी तकनीकों को स्वयं बनाते हैं और ग्रामवासियों के लिये प्रशिक्षण पाठ्यक्रम चलाते हैं। 1989 में हमने हस्तकला कार्यक्रम आरंभ किया। हमें आशा है कि उससे स्थानीय आत्मनिर्भरता बढ़ेगी तथा लोगों का भूमि से विलग होना रोका जा सकेगा। सर्दियों के महीनों में, जब अत्यल्प कृषि कार्य होता है, हस्तशिल्प की वस्तुएँ बनाकर लद्दाखी धनार्जन कर सकेंगे, बिना सामाजिक व पर्यावरणीय कीमत के, जो वे ग्राम्य-जीवन को छोड़ कर अदा करते हैं। प्रतिवर्ष लगभग पंद्रह हजार पर्यटक लद्दाख आते हैं और वर्तमान में पर्यटक जो स्मृति चिह्न खरीदता है वह अपवाद स्वरूप ही लद्दाखी होता है या जो लद्दाख में बना हो। सेंटर में आने वाले पर्यटक जुलाहों, सुनारों व लकड़ी पर कारीगरी करते लद्दाखियों को देख सकते हैं, जो पारंपरिक, हाथ के बने औजारों का प्रयोग करते हैं। केंद्र के अंदर दर्जी, कशीदाकारी करने वाले तथा पेंटर, युवा लद्दाखियों को 'थंका' एवं ऊनी 'गोन्वा' बनाना सिखाते हैं।

हमारे पास व्यापक शैक्षिक कार्यक्रम भी हैं, जिसके अंतर्गत परिवेशीय विकास हेतु रेडियो वार्ताएँ एवं नियमित प्रकाशन हैं, जिनमें से एक लद्दाखी में वहाँ के परिवेश पर पहली पुस्तक थी। निरंतर बैठकें, कार्यशालाएँ और गोष्ठियाँ हमारे शैक्षणिक कार्यक्रम के मुख्य अंग हैं। 1986 व 1989 में हमने अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया, जिसका मकसद लद्दाखियों

का ध्यान विश्व के अधिक औद्योगिक भागों के अनुभवों की ओर आकृष्ट करना था। ग्रामीणों की अन्य समूह बैठकों में उनकी शीशे की बनी पौधशाला व सौर ओवनों के उपयोग पर अनौपचारिक चर्चा से लेकर, पूरे क्षेत्र के सैकड़ों कृषकों द्वारा एकत्रित होकर लद्दाख में कृषि के भविष्य की संभावनाएँ तलाशी जाती हैं। हमने अनेक गोष्ठियाँ भी आयोजित की जिनमें बौद्ध व मुसलिम समुदायों ने सांप्रदायिक टकराव से बचने के उपायों पर विचार विमर्श किया। हमने महिलाओं को भी शिल्प कलाओं पर चर्चा हेतु, एस्बेस्टास पर रोटी बनाने के खतरों पर और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय — कृषि पर चर्चा के लिये एकत्रित किया।

कृषि — जो कि पारंपरिक अर्थव्यवस्था का आधार है — के अस्तित्व पर भोजन अनुदान और नगद फसल से, ज़मीन से लोगों के दूर होने एवं रासायनिक खादों व कीटनाशकों के प्रयोग से खतरा मंडरा रहा है। अनेक लद्दाखी कृषि को "आदिम" मानने लगे हैं और जो खेती कर रहे हैं, वे मानने लगे हैं कि कृत्रिम खाद, कीटनाशकों का उपयोग करना "आधुनिकता" की निशानी है। वे नहीं जानते कि इससे मिट्टी व स्वयं उनके स्वास्थ्य को आगे चलकर कितने भारी नुकसान की संभावना है। अपनी बैठकों के जरिये व सूचना-पत्रों के माध्यम से हम लोगों को विश्व भर में जैविक कृषि के तरीकों में बढ़ती रुचि के बारे में बतलाते हैं तथा कृषि की स्थिति को ऊपर उठाने का यथासंभव प्रयत्न करते हैं।

ग्राम बैठकों में कभी-कभी जीवंत बहस होती थी। उदाहरण के लिये सक्ती की कृषि गोष्ठी में एक नवयुवक ने इस धारणा का प्रबल विरोध किया कि नवयुवक अनभिज्ञ हैं और पारंपरिक कृषि उपायों से घृणा करते हैं। जब वह बोल रहा था, एक अर्धेड़ व्यक्ति ने हस्तक्षेप करते हुए कहा, "बिलकुल ठीक। उनसे कहो कि घोड़े पर जीन कस दे, तो वे उलटी लगा देंगे। उनसे कहो कि 'दज़ा' के कंधों पर हल डालें, तो वे डर कर भाग जाते हैं। वे महंगे रबड़ के जूते खरीदते हैं, जिनके घाटी पार करने के पहले ही दो टुकड़े हो जाते हैं। हम अपने ही बनाए जूते पहनते थे, जो गर्म एवं आरामदेह होते थे, सुई-धागा साथ रखते थे और जिस चीज़ की ज़रूरत हो उसे मिनटों में ठीक कर लेते थे। हम अपने ही दो पैरों पर खड़े रहते हुए जानते थे कि हमारे चारों ओर जो भी है, उसका कैसे उपयोग हो सकता है। ईकोलाजी (परिवेश शास्त्र) से आपका यही आशय है ना?" उसने एलइडीजी कर्मियों से पूछा।

कार्यक्रम ज्यादातर एलइडीजी द्वारा लद्दाख प्रोजेक्ट की मदद से लागू किये जाते हैं। हम स्टूडेंट्स एजुकेशनल एंड कल्चरल मूवमेंट आफ लद्दाख (सेकमोल) के साथ मिलकर भी काम करते हैं। सेकमोल की स्थापना 1988 में हुई थी और यह विकास में युवाओं को जोड़ने एवं औपचारिक शिक्षा के विकल्प तलाशने का प्रयास करता है। सेकमोल को हमारी सहायता का एक भाग यह है कि उनके नेताओं का, शेष भारत तथा यूरोप के एक जैसी सोच वाले संगठनों

और व्यक्तियों से परिचय कराया जाए। हमने उनके लिये तथा एलडीजी के सदस्यों के लिये अध्ययन दौरों का प्रबंध किया है, जिनमें वे औद्योगिक संसार की समस्याओं और उन समस्याओं से होने वाली अनुक्रियाओं को प्रत्यक्ष देखते-समझते हैं।

साल-दर-साल हमारा काम फैलता जा रहा है और प्रगति के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने लगे हैं। पर सब कुछ आसान न था। चूँकि लद्दाख सैनिक दृष्टिकोण से रणनीतिक क्षेत्र है, आम तौर पर विदेशियों को वहाँ रहने या काम करने की अनुमति नहीं होती। लद्दाख में मेरे दूसरे वर्ष के दौरान, 'हिंदुस्तान टाइम्स' में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें मुझे "रहस्यमयी महिला बतलाया गया, जिसने इतने कम समय में लद्दाखी भाषा सीख ली कि शंका होने लगती है," अर्थात् लद्दाख में मेरी उपस्थिति का कोई अमंगलकारी उद्देश्य था। लगातार उच्च स्तरीय शासकीय समर्थन, मेरी व्यक्तिगत मुलाकातों और प्रधानमंत्रियों एवं राज्यपालों के मेरे पक्ष में लिखे गए पत्रों के बावजूद, अनेक सतर्कता अधिकारियों का संदेह दूर नहीं हुआ कि मैं सी.आई.ए की एजेंट हूँ और इस संवेदनशील सीमा क्षेत्र के विषय में सूचनाएँ एकत्रित करती हूँ। अभी हाल ही में, मुझ पर यह भी आरोप लगाया गया कि मैंने अकेले अपने दम पर सांप्रदायिक दंगे आरंभ करवाए, जो 1989 में मुसलिमों व बौद्धों के बीच भड़क उठे थे।

इसके अलावा, हमारे काम को कुछ युवाओं ने भी पसंद नहीं किया जो आधुनिक क्षेत्र में रास्ता तलाश रहे थे — विशेषतः वे, जो पर्यटन कार्य से जुड़े थे। उन्हें उस हर वस्तु का नशा हो गया था, जो आधुनिक है और यह नहीं समझ पाते थे कि हमारे कार्यक्रम पर्यावरणीय शिक्षा की आवश्यकता का समर्थन करते थे। उनके विचार से हमें अपना ध्यान "गाँवों के गरीब किसानों" को तात्कालिक भौतिक लाभ दिलाने पर केंद्रित करना चाहिये।

वैचारिक दृष्टिकोण से भी हमारा काम कठिन रहा। बुनियादी तौर पर एकदम अलग विकास का पथ बनाने में हमारे सामने सिर्फ कुछ ही प्रादर्श (मॉडल) थे। हमें कुछ काँटेदार मुद्दों से उलझना पड़ा: क्या हमारे प्रयासों से लाभ कम और हानि अधिक हो सकती है? क्या बिना किसी विकास के ही लद्दाख बेहतर स्थिति में होगा? क्या विकास सिर्फ स्वयं लद्दाखियों की तरफ से और बगैर किसी बाहरी मदद के होना चाहिए? लद्दाखी किस प्रकार प्रभावी ढंग से विकास द्वारा लाए गए परिवर्तनों से संगठित होकर निपट पायेंगे — पारंपरिक संस्कृति को क्षति न पहुँचाते हुए? इन प्रश्नों का उत्तर देने हेतु हमें इस बात को ध्यान में रखना पड़ा कि गत दो दशकों से एकल संस्कृति ने लद्दाखियों पर अत्यधिक आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दबाव डाला है। दुनिया-भर में पश्चिमी हित, गैर-औद्योगिक समाजों को बंधक बनाए हुए हैं और वास्तविक, स्थानीय विकास को उन्होंने असंभव बना दिया है।

वास्तविक जीवन की स्थितियाँ अत्यंत जटिल हैं, वे ऐसी अनुक्रियाओं की माँग करती हैं, जो सतह पर विरोधाभासी दृष्टिगत होती हैं। इस प्रकार हमारे काम में अनेक विरोधाभास नज़र आते हैं। उदाहरणार्थ, हम दरअसल लद्दाखियों और पश्चिम के लोगों के बीच संपर्क को प्रोत्साहित करते हैं, लद्दाख में तथा विदेशों में, क्योंकि असली संवाद, जैसे कि अध्ययन दौरे जिन्हें हम सेकमोल व एलडीजी के सदस्यों के लिये प्रायोजित करते हैं, ताकि वे पश्चिम के विषय में अधिक संतुलित राय कायम कर सकें।

इसी प्रकार, यद्यपि लद्दाख प्रोजेक्ट सक्रिय रूप से विकेंद्रीकरण को आगे बढ़ाता है, किंतु सामाजिक-राजनैतिक हकीकत ऐसी है कि केंद्र का लेह में ही होना उचित है। हम इसे पसंद करें या न करें, वहीं (लेह में) लद्दाख के भविष्य के विषय में अधिकांश निर्णय लिये जाते हैं (जैसे कि वे लद्दाख में ही लिये गए हों)। अपने सीमित बजट को देखते हुए भी, यही आर्थिक दृष्टि से अधिकाधिक ग्रामीणों तक पहुँचने का रास्ता है।

हालाँकि मुझे लगता था कि सौर ऊर्जा से उत्पन्न ऊष्मा जीवन के मानकों का संवर्धन करेगी, मैं नहीं चाहती थी कि मेरी जैसी बाहरी महिला इस टेकनालॉजी को लागू करे, परंतु कम टिकाऊ उपाय — जैसे कोयला और तेल — ने पहले ही पारंपरिक रीतियों को गड़बड़ाना आरंभ कर दिया था। मैंने सोचा कि लोगों को चुनने के लिए भी जानकारी चाहिये; जीवन के ऊँचे स्तर का अर्थ यह नहीं है कि आर्थिक स्वतंत्रता एवं पारंपरिक मूल्यों को त्याग दिया जाए। परंतु, अनुभव से हमारी समझ में आया कि केवल प्रदर्शन (डिमांस्ट्रेशन) ही पर्याप्त नहीं है। ऐसे विकल्पों को सक्रियता से प्रचारित करने व उनकी सहायता करने की आवश्यकता थी और सरकार पर दबाव बनाने की, कि वह अपने अनुदानों को पूँजी-और ऊर्जा-केंद्रित स्थापनाओं से नवीनीकरण करने योग्य ऊर्जा आधारित, विकेंद्रीकृत अभियांत्रिकियों की ओर मोड़े।

मैं इसका दावा नहीं करूँगी कि जो समझौते हमने किये वे समस्या रहित हैं। हो सकता है, लिये गये निर्णय व गतिविधियाँ कुछ अलग भी हो सकती थीं। लेकिन कुल मिला कर, मैं आश्वस्त हूँ कि हम सही रास्ते पर बढ़ रहे थे और इसके उत्साहवर्धक संकेत मिले हैं कि हमारी मेहनत रंग लाने लगी है। हमने विकास पर दूरगामी परिवेशजन्य दृष्टिकोण की आवश्यकता के प्रति जागरूकता फैलाने में अपनी भूमिका का निर्वहन किया है और यह आत्मनिर्भरता एवं स्वाभिमान आधारित विकास के लिये हैं। अब "इकोलॉजी" और "सौर ऊर्जा" शब्द पूरे लद्दाख में प्रयुक्त होते हैं और लोग उनका मतलब जानने लगे हैं। और ऐसे लोगों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है, जिनकी दृष्टि में पर्यावरण तथा भविष्य में लद्दाख की खुशहाली पहली प्राथमिकता है। इनमें हैं त्सेवांग रिगजिन लाग्रुक, लद्दाख के विख्यात उद्यान विज्ञानी, जिन्होंने कृषि की जैविक पद्धति को पुनः लागू करने हेतु आंदोलन आरंभ किया है — और यह मुनाफा

कम होने पर भी; सोनम आंगचुक और सोनम दोरजी जो सेकमोल से हैं, जिन्होंने साहसिक फैसला लेते हुए शासकीय सेवा के कैरियर को छोड़ दिया और पूरे समर्पण के भाव से बड़ी संख्या में युवकों को सामाजिक सेवा के लिये प्रेरित किया; तथा सोनम दावा, जिन्हें सारे लद्दाख में अपनी अद्वितीय निष्ठा तथा दूर दृष्टि के लिये जाना जाता है, जिन्होंने राज्य सरकार में उच्च पद से समय पूर्व सेवानिवृत्त होने का अतुलनीय निर्णय लिया और एलडीइजी का निदेशक बनना मंजूर किया।

अभी भी लद्दाखियों के पास वर्तमान विकास के अंधकूप में गिरने से बचने को मौका है, क्योंकि जनसंख्या का बड़ा भाग अभी भी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे काम ने तारों को झंकृत कर दिया है। लद्दाख के अंदर ही, अब विकास को भिन्न आलोक में देखा जाता है, जबकि बाहरी दुनिया में लद्दाख की कहानी — उसकी पारंपरिक संस्कृति की सफलता तथा पारिस्थितिक विकास की क्षमता के मॉडल के रूप में समझी जा रही है — इससे हम सभी के लिये एक टिकाऊ भविष्य हेतु आवश्यक आधार को रेखांकित करने में मदद मिलती है।

उपसंहार

“प्राचीनता का भविष्य”

मुझे ऐसा लगता है कि आज पश्चिमी समाज दो पृथक और विपरीत दिशाओं की ओर जा रहा है। एक ओर, मुख्य धारा संस्कृति है, जो सरकार और उद्योगों के नेतृत्व में निर्बाध गति से आर्थिक वृद्धि एवं अभियांत्रिकीय विकास की ओर, प्रकृति की सीमाओं को तोड़ते हुए एवं बुनियादी मानव आवश्यकताओं की पर्वाह न करते हुए बढ़ रही है। दूसरी ओर प्रति-धारा है, जिसमें अनेक प्रकार के समूह एवं विचार हैं, जिन्होंने प्राचीन समझ को जीवित रखा है, कि समस्त जीवन अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

वर्तमान में, यह केवल अल्पमत की आवाज़ है, पर उसकी शक्ति बढ़ती जा रही है, क्योंकि अधिकाधिक लोग प्रगति की पूरी अवधारणा पर अब सवाल उठाने लगे हैं। ग्रीन पार्टियों (हरित दलों) और पर्यावरणीय संगठनों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि इस बात का संकेत है कि पर्यावरण की रक्षा के लिये समर्पण का दायरा व्यापक होता जा रहा है। उपभोक्ता अब अपनी ताकत को समझने लगे हैं, जिससे अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हो सकता है और व्यापारी स्वयं को “पर्यावरण मित्र” सिद्ध करने हेतु एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। सरकारों तथा प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों पर दबाव बढ़ रहा है कि वे पर्यावरण को अपने राजनैतिक कार्यक्रम में सबसे ऊपर रखें।

अभी भी हमारे पास अवसर है कि समाज को सामाजिक एवं परिवेशीय संतुलन की ओर ले जाएँ। किंतु यदि हम सिर्फ लक्षणों के उपचार से कुछ अधिक करना चाहते हैं, तो यह महत्वपूर्ण है कि हम आसन्न खतरे की योजनाबद्ध प्रकृति को भी समझें। सतह के नीचे की कई ऐसी समस्याएँ जो ऊपर से पृथक नज़र आती हैं, जैसे जातीय हिंसा, जल एवं वायु का प्रदूषण,

टूटे परिवार और सांस्कृतिक बिखराव, आपस में जुड़ी हुई हैं। यह समझ, कि समस्याएँ आपस में जुड़ी हैं, भले ही भाव विहल कर दे, किंतु उन बिंदुओं को ढूँढ़ना जहाँ वे मिलती हैं, से हम उनका समाधान अधिक प्रभावी ढंग से कर सकेंगे। फिर केवल सही धागे को खींचना बाकी रह जाता है जो पूरे वस्त्र को प्रभावित करे, बजाय इसके कि प्रत्येक समस्या का अलग-अलग निदान ढूँढ़ा जाए।

औद्योगिक समाज का ढाँचा बड़ी हद तक विज्ञान, तकनीक और संकीर्ण आर्थिक रूपतालिका की आपसी क्रियाओं द्वारा निर्धारित होता है — ऐसी अंतर्क्रिया जो अधिकाधिक केंद्रीकरण एवं विशेषीकरण की ओर हमें ले जा रही है। औद्योगिक क्रांति के बाद व्यक्ति का दृष्टिकोण अधिक सीमित हो गया है, जबकि राजनैतिक एवं आर्थिक इकाइयाँ बड़ी हो गई हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि हमें अपने राजनैतिक एवं आर्थिक ढाँचे को विकेंद्रित करने और अपने ज्ञान को व्यापक बनाने का मार्ग ढूँढ़ने की आवश्यकता है, ताकि अधिक संतुलित एवं समझदार समाज बनाया जा सके। लद्दाख में मैंने देखा है कि किस प्रकार मानवीय स्तर की संरचनाओं ने धरती से जुड़ाव वाले और सक्रिय एवं सहभागीदार लोकतंत्र का पालन-पोषण किया है — सुदृढ़ तथा महत्वपूर्ण समुदायों, स्वस्थ परिवारों और पुरुष एवं महिला में अधिक संतुलन स्थापित करते हुए। बदले में ये संरचनाएँ वैयक्तिक खुशहाली के लिए भी आवश्यक सुरक्षा उपलब्ध करवाती हैं। अन्य शब्दों में कहें तो स्वतंत्रता की भावना के लिए।

जिन परिवर्तनों को लाना हमारे लिये आवश्यक है, वे हमारे जीवन को समृद्ध कर सकते हैं। इसके बावजूद, पर्यावरणीय आंदोलनों के अंदर भी, उन्हें कुर्बानी माना जाता है। जोर कुछ चीजों को छोड़ने तथा कम से कम करने पर है, बजाय यह सोचने के कि हमें कितना लाभ होगा। हम यह भूल जाते हैं कि अंतहीन आर्थिक वृद्धि और भौतिक समृद्धि का कितना मूल्य हम सामाजिक निर्धनता, मनोवैज्ञानिक असुरक्षा एवं सांस्कृतिक तेजस्विता की क्षति के रूप में अदा करते हैं। हम स्वयं के विषय में मानते हैं कि “हमारे पास सब कुछ है,” और हमें तब आश्चर्य होता है जब हम जवान लोगों को नशे और विचित्र गुरुओं की ओर, अपने जीवन की रिक्तता की पूर्ति हेतु जाते हुए देखते हैं।

कदाचित् लद्दाख के सबसे अहम सबक का संबंध सुख से है। इस सबक को सीखने में मुझे समय लगा। अनेक वर्षों तक पूर्व अवधारणाओं की परतें उधेड़ने के बाद ही मुझे दिखाई देने लगा कि लद्दाखियों के आनंद एवं हँसी का राज क्या है: जीवन की एक असल, अटूट सराहना। लद्दाख में मैंने उन लोगों को देखा जो मन की शांति और जोए डी विवरे को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं। मैंने देखा कि समुदाय और ज़मीन से निकट संबंध मानव जीवन को इतना समृद्ध कर सकते हैं, जिसकी तुलना भौतिक संपत्ति अथवा अभियांत्रिकीय जटिलता से नहीं की

जा सकती। मैंने सीखा है कि एक अन्य रास्ता भी संभव है।

वर्तमान में उदित होती हुई वैश्विक अर्थव्यवस्था तथा विज्ञान एवं तकनीक का बढ़ता वर्चस्व न केवल प्रकृति से हमारे जुड़ाव को और एक-दूसरे से संबंधों को तोड़ रहे हैं, अपितु प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक वैविध्य को भी खंडित कर रहे हैं। ऐसा करके, हम अपने अस्तित्व को ही समाप्त करने में लगे हैं। प्राकृतिक जगत में विविधता जीवन का अटल सत्य है। हमने अब इसकी तलाश करना आरंभ कर दिया है कि एकदम “महत्वहीन” कीड़ा या पौधे हमारे जीवन के लिये कितना महत्वपूर्ण है। जिस भयावह रफ्तार से हम वनस्पति एवं पशु जीवन को समाप्त करते जा रहे हैं, वह वस्तुतः एक प्रमुख मुद्दा बन गया है। प्राणीशास्त्री अब दृढ़तापूर्वक प्रजातियों के वैविध्य के महत्व का समर्थन कर रहे हैं और कुछ का तो कहना है कि अल्पकालीन लाभ हेतु उन्हें नष्ट करने के खतरे भारी पड़ेंगे। विश्व भर के लोग उन पौधों व पशुओं को बचाने के लिये संगठित हो रहे हैं, जिनका अस्तित्व खतरे में है। वन्य जीवों के भविष्य को सुरक्षित रखने के अलावा, अब लोग ऐसे बकरो, भेड़ों, घोड़ों तथा अन्य पालतू पशुओं का प्रजनन करा रहे हैं, जो लुप्त होने की कगार पर हैं। कुछ किसान अब स्थानीय पारंपरिक किस्म के सेब उगा रहे हैं, इसके पहले कि गोल्डन डिलीशस जैसा एक संकर ही अकेला न रह जाए।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस बात पर विश्वास करना सरल है कि आर्थिक विकास ने विविधता में वृद्धि की है। कुशल परिवहन और संचार के कारण विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ व अन्य उत्पाद भिन्न संस्कृतियों से आते हैं। परंतु, वही व्यवस्था जो इस बहु सांस्कृतिक अनुभव को सरल बनाती है, वही दुनिया भर में स्थानीय, सांस्कृतिक भिन्नताओं को मिटाने में भी सहायक हो रही है। लिंगन बेरी और अनानास का रस, कोकाकोला के लिये रास्ता छोड़ रहे हैं, ऊनी लबादे और सूती साड़ियों को जीन्स बेदखल कर रही हैं, याक व ऊँचाई पर रहने वाले जानवरों को जर्सी गायें हटा रही हैं। विविधता का मतलब यह नहीं है कि आप दस भिन्न प्रकार की नीली जीन्स में से एक को चुने, जो सभी एक ही कंपनी द्वारा निर्मित हों।

सांस्कृतिक वैविध्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितनी प्रकृति की विविधता है और सच तो यह है कि वह उसी का अनुगामी होता है। पारंपरिक संस्कृतियाँ अपने विशिष्ट पर्यावरण को प्रतिबिंबित करती हैं; अपना भोजन, वस्त्र और आवास अपने स्थानीय संसाधनों से प्राप्त करती हैं। पश्चिम में अभी भी, विविधता से स्थानीय अनुकूलन के चिह्न मिल जाएँगे। अमेरिका के दक्षिण-पश्चिम में आपको सपाट छतों वाले एडोब घर मिलते हैं, जो अतिशय मरुस्थलीय जलवायु के अनुरूप होते हैं, जबकि न्यू इंग्लैंड में घर लकड़ी के बने होते हैं, जिनकी छतें नुकीली होती हैं और जो वर्षा एवं हिमपात से बचाव के लिहाज से उपयुक्त हैं। विभिन्न संस्कृतियों के व्यंजन अभी भी स्थानीय भोजन के स्रोत की झलक प्रस्तुत करते हैं,

भूमध्यसागरीय जैतून के तेल से बने भोजन से लेकर स्काटलैंड के लोगों के नाश्ते की मेज़ पर जई के आटे की रोटी के साथ किपर्ड हेरिंग मछली तक।

सांस्कृतिक अथवा आर्थिक एकाकीकरण पर लौटे बिना ही हम अपने क्षेत्रों की परंपराओं को पुष्ट कर सकते हैं। सांस्कृतिक विविधता के सही रसास्वादन का अर्थ न तो अपनी संस्कृति को दूसरों पर लादना है और न अपने उपभोग हेतु विदेशी संस्कृतियों की पैकेजिंग, शोषण या वाणिज्य को अपनाना है।

सांस्कृतिक विविधताओं को पुनर्जीवित करने के सबसे प्रभावी उपायों में से एक है, अनावश्यक व्यापार में कमी लाने हेतु प्रचार किया जाए। अभी तो हाल यह है कि हमारे करदाताओं का पैसा परिवहन अधोसंरचना को बढ़ाने तथा व्यापार के लिये व्यापार पर खर्च किया जाता है। हम एक से दूसरे महाद्वीपों को अनेक प्रकार के उत्पाद, दूध से लेकर सेब से फर्नीचर तक परिवहन करके भेजते हैं; जिनका उत्पादन बड़ी सरलता से उनके गन्तव्य पर ही किया जा सकता है। इसलिए हमें स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं का पुनरुत्थान और वैविध्यीकरण करना चाहिये। परिवहन पर अनुदान को पूर्णतः हटाकर या कम कर के हम बर्बादी और प्रदूषण कम कर सकते हैं, लघु कृषकों की स्थिति को सुधार सकते हैं और एक ही झटके में समुदायों को सशक्त बना सकते हैं।

“अनावश्यक” व्यापार के बरखिलाफ, वस्तुतः “स्थानीय” क्या है और “आवश्यक” क्या है, इन्हें शब्दों में पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता है। किंतु अहम बिंदु यह है कि भारी अनुदान प्राप्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के ‘सिद्धांत’ का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन होना चाहिये — संरक्षणवाद को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु विश्व भर में प्राकृतिक संसाधनों के टिकाऊ एवं समान उपयोग को सुनिश्चित करने की गरज से। हम स्थानीय स्तर की सुदृढ़ अर्थ व्यवस्थाओं में ही असली “मुक्त” बाज़ार देखते हैं; जो निगमित चालाकियों, अदृश्य अनुदानों, बर्बादी और अकूत संवर्धन लागत से मुक्त हो — जो कि वर्तमान वैश्विक बाज़ार की विशेषता है।

बाज़ार के भूमंडलीकरण की प्रवृत्ति न केवल ताकत व संसाधनों को कम से कम हाथों में केंद्रित करती जाती है, बल्कि वह नगरीय केंद्रों पर निर्भरता को भी प्रत्यक्ष रूप से बढ़ाती है। हो सकता है कि अनेक पश्चिमी नगरों में निवास करने वालों की संख्या घट रही हो, परंतु केंद्र की ओर खिंचाव बढ़ रहा है। सावधि टिकट पर प्रतिदिन एक से दूसरे स्थान की यात्रा करने वाले अधिक और अधिक दूरी तय करते हैं, जिसका पूरे क्षेत्र पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ताकत कुछ ही बड़े शहरों में अधिकाधिक केंद्रित होती जा रही है। ऐसे केंद्रों की पहुँच से बाहर रहना व काम करना अत्यधिक कठिन होता जा रहा है।

अक्सर यह कहा जाता है कि लोगों की संख्या बहुत है और भूमि इतनी नहीं है कि लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा जा सके। किंतु अनेक अदृश्य उपायों से आज की केंद्रीकृत व्यवस्था अत्यधिक भूमि हड़प लेती है। आज के विस्तृत नगरीय केंद्रों और उनकी भौतिक आवश्यकताओं के बीच का संबंध, हमारे द्वारा अधिक भूमि के उपयोग तथा हमारे द्वारा खाई जाने वाली भोजन श्रृंखला के समरूप है। गोमांस देने वाली गाय उतना स्थान नहीं लेती, जितना एक सब्जी का बाग लेता है। लेकिन जब आप अन्य घटकों पर विचार करते हैं, जैसे गाय के आहार हेतु अनाज के खेत, खेतों की सिंचाई के लिये लगने वाला पानी और वह ज़मीन जो पानी की दिशा को मोड़ने के कारण सूख गई, तो यह साफ हो जाता है कि दरअसल गाय के लिये अधिक भूमि की आवश्यकता होती है। बड़ा शहर कम स्थान घेरता है, बजाय उसके जब जनसंख्या को छोटे समुदायों में बिखरे दिया जाए; पर वह अधिक बड़ी ऊर्जा श्रृंखला पर टिका है और शहरों में प्रति व्यक्ति उपभोग भी अधिक होता है। सड़कें, परिवहन, उपयोग की जा चुकी कारों को रखने की जगह, पेट्रोल पम्प, आहार-प्रसंस्करण कारखाने, जल एवं वायु का प्रदूषण और भूमि का अर्थ यही होता है कि वर्तमान नगरीय केंद्र अधिक संसाधनों का और अंततः अधिक स्थान, उन समुदायों की अपेक्षा घेरते हैं जो विकेंद्रकृत हैं तथा प्रकृति के समीप हैं।

विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया में संपूर्ण सामाजिक-आर्थिक प्रणाली में कई परिवर्तन एक के बाद एक होंगे। किंतु यह याद रखना आवश्यक है कि हम किसी बने बनावे ढाँचे को तोड़ने की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि बदलाव की दिशा में चलने को कह रहे हैं। हमारे समाज का पैमाना साल-दर-साल बढ़ता जा रहा है और केंद्रीकरण का तर्क नई पराकाष्ठाओं तक खींचा जा रहा है। गति इतनी है कि हमें विकेंद्रीकरण की ऐसी योजना लागू करनी होगी कि हम वहीं पर रुक जाएँ, जहाँ हैं। इतना भी हम कर सके तो वह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

किसी समूह में रहने की ज़रूरत ही अपने आप में मानव-पैमाने की सामाजिक इकाइयों के लिये विशेष महत्व का है। यहाँ हम सीधे लड़ाख से सीख सकते हैं, जहाँ परिवार बड़ें हैं, किंतु समुदाय छोटे हैं। बच्चों का लालन-पालन विविध पीढ़ियों द्वारा होता है, विशेषतः दादा-नाना के साथ स्नेहिल संबंधों का लाभ उन्हें प्राप्त होता है। यद्यपि इस बड़े परिवार में रिश्ते नज़दीकी होते हैं, वे उतने अधिकारवादी नहीं होते जैसे नाभिकीय परिवार में होते हैं। हर एक व्यक्ति को घनिष्ट संबंधों के संजाल से लाभ मिलता है — और किसी एक रिश्ते पर अत्यधिक बोझ भी नहीं आता। लड़ाख में, मैंने कभी भी ज़रूरतमंद अपनत्व या अपराधबोध और तिरस्कार नहीं देखा, जो नाभिकीय परिवार की खासियत होती है।

हालांकि अपवाद भी होते हैं पर विस्तारित परिवार प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को अधिक जगह एवं

नमनीयता प्रदान करता है और जहाँ तक उत्तरदायित्व का या भावनात्मकता का प्रश्न है, कम दबाव डालता है। यह विशेषतः बुजुर्गों, महिलाओं तथा बच्चों के लिये लाभकारी है। विस्तारित परिवार के अंदर, वयोवृद्ध लोगों को उनकी बुद्धि और अनुभव के कारण सराहा जाता है और काम करने में उनकी धीमी गति उन्हें समुदाय के हित में महत्वपूर्ण योगदान देने से नहीं रोकती। इसके विपरीत, हमारे समाज में तकनीकी परिवर्तन इतनी तेजी से होते हैं कि अनुभव का मूल्य कम से कमतर होता जाता है। हमने अपने आसपास की दुनिया को इतनी नाटकीयता से बदल दिया है कि वृद्धजनों के पास अपने जीवन से कुछ देने के लिए बचा ही नहीं। जिन लदाखियों ने पश्चिम की यात्राएँ की हैं, वे बुजुर्गों के तिरस्कार की भयावह कहानियाँ सुनाते हैं; वे अकेले रहते हैं, कोई उनसे बात करने वाला तक नहीं होता। “दादियाँ, नानियाँ अपने नाती-पोतों को थोड़ी-सी देर देखने के लिये महीनों तक प्रतीक्षा करती हैं,” ग्येलांग पालदान ने कहा, “और तब गालों पर एक छोटा सा चुंबन हासिल हो पाता है।”

वृद्धजनों को अलग थलग करने के साथ ही नाभिकीय परिवार औरतों को कैद कर लेता है। पारंपरिक समाजों में स्त्रियों को घर और काम में से चुनाव नहीं करना पड़ता, क्योंकि घर अर्थव्यवस्था के केंद्र में होता है और दोनों क्षेत्र एक ही होते हैं। इसके उलट आधुनिक संसार की विवाहित महिलाओं के समक्ष दो विकल्प होते हैं; दोनों में से किसी का भी चयन करना आसान नहीं होता। वे घर में बच्चों के साथ रह सकती हैं, वहाँ जो काम वे करती हैं, उसका कोई मूल्य नहीं होता; या फिर वे दो काम कर सकती हैं, जिसमें उन्हें अपने पतियों से कोई मदद नहीं मिलती।

सभी संकेत हमें बतला रहे हैं कि नाभिकीय परिवार ठीक से नहीं चल रहे हैं। तलाकों की दर, किशोरों की अपने पालको से दूरी, परिवार के अंदर घरेलू हिंसा और यौन अत्याचार की हैरान करने वाली घटनाएँ इस विघटन के उदाहरण हैं। मनोवैज्ञानिक अब प्रतिनिधिक (टिपिकल) परिवार को “असफल (डिसफंक्शनल) परिवार” कहते हैं। अभी मात्र पचास वर्ष पूर्व तक के औद्योगिक संसार में परिवार, वर्तमान से अधिक स्वस्थ एवं एक दूसरे के अधिक सहायक हुआ करते थे। दादी माँ पड़ोस में रहती थी, तो चचेरे भाई-बंधु और चाचियाँ आसपास रहती थीं; वृहत समुदाय से जुड़ाव अधिक मजबूत और स्थायी होते थे। अब, जब आर्थिक दायरा बढ़ रहा है, तो किसी परिवार के लिये छः अलग-अलग घरों में रहना आश्चर्यकारक नहीं होता जबकि बच्चे बड़े हो रहे होते हैं। अब दादी माँ के लिये शारीरिक, आर्थिक या मनोवैज्ञानिक रूप से कहीं जगह नहीं है।

प्रायः जब मैं पश्चिम के लोगों से परिवार के विषय में बातें करती हूँ तो वे कहते हैं, “मेरी माँ हमारे साथ रहे यह विचार अच्छा है, परंतु यह कारगर नहीं होगा। हम सब दो या तीन दिनों

में पागल हो जाएँगे।” वे सही कहते हैं — फिलहाल वह कारगर नहीं होगा। क्योंकि जिस तरह से हमारे परिवार का ढाँचा बनाया गया है, उसमें बुढ़ाते माँ-बाप बोझ हो जाते हैं। पर वह कारगर हो सकता है, बशर्ते कि हम अपनी राजनैतिक प्राथमिकताओं को बदलें और बुनियादी मानवीय जरूरतों की ओर अधिक ध्यान दें।

नाभिकीय परिवार के ठीक विपरीत जो अपने को बाहरी दुनिया से अलग कर लेता है, लदाखी परिवार में रिश्ते स्वाभाविक रूप से वृहत समुदाय के रूप में विस्तारित होते हैं। कभी-कभी यह कहना मुश्किल होता है कि परिवार कहाँ खत्म होता है और समुदाय कहाँ शुरू होता है। कोई भी महिला जो आपकी माँ की आयु की हो, को “माँ” कहा जाता है। सही उम्र का कोई लड़का जो आपका भाई हो सकता है, “भाई” कहलाता है। इसके अवशेष हमें अभी भी औद्योगिक समाज में मिल जाते हैं। स्वीडन और रूस के अत्यधिक पारंपरिक भागों में, उदाहरणार्थ, एक बच्चा किसी भी पहचान के वयस्क को “अंकल” या “आंटी” कहकर संबोधित करेगा।

अधिकांश पश्चिमी लोग, इस बात से सहमत होंगे कि हमने अपनी सामुदायिक भावना को खो दिया है। हमारा जीवन खंड-खंड है और दिन भर में हमारा जितने लोगों के साथ संपर्क होता है, हम अक्सर अपने आप को एकाकी पाते हैं। हम अपने पड़ोसियों तक को नहीं पहचानते। लदाख में, लोग समुदाय के अंग होते हैं जो कि आध्यात्मिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे पर निर्भर हैं।

पाश्चात्य समाज में समुदाय को पुनर्जीवित करने के लिये विकेंद्रीकरण पहली शर्त है। गतिशीलता समुदाय को काट देती है। पर जब हम अपनी जड़ों को अंदर डालें और अपने स्थान से मोह का अनुभव करें, तो हमारे मानवीय संबंध गहराते हैं, वे अधिक सुरक्षित होते हैं और — जब वे इसी प्रकार बने रहते हैं — तो अधिक विश्वसनीय हो जाते हैं।

पारंपरिक लदाखी समाज में स्व का व्यापक मायने में अर्थ पाश्चात्य संस्कृति की व्यक्तिवादिता का ठीक विपरीत है। लदाखी की पहचान बहुत कुछ उसके अन्य लोगों से अंतरंग संबंधों से होती है और पारस्परिक निर्भरता का बौद्ध सिद्धांत उसे पुष्ट करता है। लोगों को रिश्तों के जाल (नेटवर्क) से सहायता मिलती है, जो उसके इर्दगिर्द केंद्रीय घरों में बढ़ती है — परिवार, खेत, पड़ोस, गाँव। पश्चिम में हम अपनी व्यक्तिवादिता पर गर्व करते हैं, परंतु कभी-कभी वह एकाकीपन का पर्याय बन जाती है। हम ऐसी प्रवृत्ति में विश्वास करना चाहते हैं कि व्यक्ति को पूरी तरह से आत्मनिर्भर होना चाहिये, कि उसे कभी किसी की जरूरत पड़नी ही नहीं चाहिये। मेरी एक मित्र है, जिसका उस वर्ष तलाक हुआ था जब उसका एकमात्र पुत्र स्कूल जाने लगा

था। उसका दुःखी होना स्वाभाविक था। परंतु वह सोचती थी कि दुख व्यक्त करना दुर्बलता की निशानी है और उसे अपने आप में रहना सीखना चाहिये। अपने खाली घर में शांति महसूस करना चाहिये।

लद्दाख के घनिष्ठ संबंध मुक्तिदायक होते हैं, दमनकारी नहीं और उन्होंने मुझे बाध्य किया कि मैं स्वतंत्रता की संपूर्ण अवधारणा पर पुनर्विचार करूँ। यह उतना आश्चर्यजनक नहीं है जितना नजर आ सकता है। मनोवैज्ञानिक शोध अब घनिष्ठ, विश्वसनीय और स्थायी संबंधों के महत्व की जाँच कर रहा है — संबंध जो दूसरों के साथ सकारात्मक आत्म-छवि बनाते हैं। हमारी समझ में अब यह आने लगा है कि किस तरह से ये ही स्वस्थ विकास की नींव हैं। आत्म-छवि के मामले में लद्दाखियों को सबसे उपर रखना चाहिये। यह सोच समझ कर नहीं होता; शायद इसकी वजह आत्म-संदेह का नितांत अभाव और सुरक्षा की सशक्त भावना है। यह आंतरिक सुरक्षा, सहिष्णुता एवं दूसरों को उनकी समस्त विभिन्नताओं के साथ स्वीकार करने से आती है।

एक बार गर्मियों के दौरान जब मैं झंस्कार घाटी में शिशु विकास और बच्चों की परवरिश के तौर तरीकों पर अध्ययन कर रही थी, तब मैंने माताओं के एक समूह से पूछा कि अगर बच्चा चलना सीखने में देर कर रहा हो तो क्या वे कभी चिंता करती हैं। वे हँस-हँस कर दोहरी हो गई: “ऐसी बात के लिये हमें चिंता क्यों करनी चाहिये? वे चलना सीख जाएँगे, जब वे इसके लिए तैयार होंगे।” पश्चिम की मुख्यधारा संस्कृति में हम लगातार सावधानीपूर्वक हमारे बच्चों की ऊँचाई और वजन का प्रतिशत चार्ट रखते हैं, क्योंकि हम ऐसे समाज में रहते हैं जो दिन-प्रति-दिन अधिक असुरक्षित और प्रतिस्पर्धी होता जा रहा है। एक पीढ़ी पहले माताओं से कहा जाता था कि वे नवजात शिशुओं को कठोर कार्यक्रमानुसार ही दूध पिलाएँ ताकि वे “बिगड़” न जाएँ। मेरी एक मित्र बतलाती है कि जब उसकी बिटिया झूले में भूख से रो रही थी तो वह भी बगल के कमरे में रोती हुई बैठी रहती थी, जब तक कि घड़ी का काँटा वह समय न बतलाने लगे जब उसे स्तनपान कराने की अनुमति थी।

पश्चिम की एकल संस्कृति उसके अनुरूप होने के लिये अत्यधिक दबाव डालती है। स्वीडन के एक बस स्टॉप पर मैं दो छोटे बच्चों के बगल में खड़ी थी, जो अपने खेलने के जूतों की तुलना कर रहे थे। उनमें से एक के आँसू निकल रहे थे जब वह अपने जूतों के तले को बदहवासी से खींचने की कोशिश कर रहा था, ताकि वह दिखा सके कि उसके पास सही ब्रांड के जूते हैं। क्षति हमारे बहुत अंदर तक हुई है, जब हमारा लिंग, चमड़ी का रंग, या आयु जो कि सही ब्रांड नहीं है। वाणिज्यिक विराट संस्कृति में सिर्फ गोरी चमड़ी वाला युवा ही सही ब्रांड है। इसके फलस्वरूप महिलाएँ, अल्पसंख्यक तथा वृद्धजन घाटे में रहते हैं। हमारे पास उतनी वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं है, जितनी कि हम समझते हैं।



दो बहनें। बड़े परिवारों और अंतरंग समुदायों में रहने के कारण लद्दाखी मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक रूप से सुरक्षित हैं।

जबकि विकेंद्रीकरण सबसे अधिक आवश्यक ढाँचागत परिवर्तन है, जो हमें लाना है, परंतु उसके साथ-साथ विश्व परिदृश्य में भी उसी अनुपात में बदलाव होना चाहिये। बढ़ती हुई पारिस्थितिक परेशानियों ने प्राकृतिक पद्धतियों के आपसी जुड़ावों को दूर-दूर तक साबित कर दिया है, लेकिन अधिकांश शैक्षणिक संस्थाएँ अभी भी लगातार संकरे होते हुए विशेषीकरण की वकालत किये जा रही हैं। यह न्यूनीकरण दृष्टिकोण वस्तुतः औद्योगिक संस्कृति के असंतोष का मूल कारण है। इसके उलट, छोटे पैमाने की राजनैतिक एवं आर्थिक इकाइयाँ हमें विश्व का एक व्यापक दृष्टिकोण विकसित करने हेतु सहायता करेंगी — वह जो आपसी जुड़ाव पर आधारित हो। अपने दृष्टिकोण को संकरा करने के बजाय, समुदाय तथा स्थान से घनिष्टता पारस्परिक निर्भरता की समझ को प्रोत्साहित करेगी। जब आप अपने पैरों के नीचे की धरती पर जीवन के लिये आश्रित हैं और उस समुदाय पर जो आपके आसपास है, तो आप पारस्परिक निर्भरता को अपने दैनिक जीवन के एक सत्य के रूप में समझ सकेंगे। पारस्परिक जुड़ाव की ऐसी गहरी अनुभवजन्य समझ — स्वयं को जीवन के सातत्य का भाग समझने की भावना — आधुनिक समाज की विश्लेषणात्मक, खंडित और सैद्धांतिक सोच के ठीक विपरीत है।

हमारे लिये ज़रूरी है कि हम जीवित संसार के साथ और अधिक स्पष्ट एवं सहानुभूतिपूर्ण

संबंधों की ओर लौटें तथा ज्यादा व्यापक मानदंडों, प्रक्रियाओं व परिवर्तनों को देखना सीखें। आजकल एक जीव-विज्ञानी दूसरे की भाषा नहीं बोलता है, बरश्ते कि वे एक ही किस्म की तितली पर अध्ययन न कर रहे हों। हम जीवन को कैसे समझ सकते हैं जब हम उसे समय के टुकड़ों में बाँटकर रख देते हैं। हमारा दुनिया के प्रति स्थिर एवं यांत्रिक नज़रिया अपनी सीमाओं तक पहुँच गया है और कुछ वैज्ञानिक — विशेषतः भेदन (क्वान्टम) भौतिक शास्त्री — अब यथार्थ के पुराने “बिल्डिंग ब्लॉक” दृष्टिकोण की क्रिया रूपावली से हट कर अधिक जैविक नज़रिये की बात करते हैं। मुख्यधारा संस्कृति में ओर अधिक विशेषीकरण की प्रवृत्ति के सीधे विरोध में, हमें सामान्यीकरणकर्ता को आगे बढ़ाना चाहिये — वह जो जुड़ावों को देख सकता है और विभिन्न अनुशासनों को जोड़ता है। इस बाबत, सर्वाधिक तसल्लीबख़्श प्रवृत्ति स्त्रियोचित मूल्यांकन एवं सोच के तरीकों के प्रति बढ़ता आदर है।

महिलाओं के सोचने के तरीकों पर शोध से इस दावे की पुष्टि होती है कि उनका दृष्टिकोण, रिश्तों और जुड़ावों के प्रति सहानुभूति एवं भाववाचक दोनों ही अर्थों में, अधिक आग्रही है। ऐसा दृष्टिकोण यकीनन स्त्रियों की मालिकियत नहीं है और हाल ही के वर्षों में पुरुषों ने अपने अंदर के मादा पक्ष को सोच समझ कर ज्यादा अहमियत देना शुरू किया है। परंतु सैकड़ों वर्षों से इस अधिक संदर्भागत ढंग से सोचने तथा रहने को न केवल नज़रअंदाज किया गया है बल्कि औद्योगिक संस्कृति द्वारा उसे दबाया गया है। अब हमारे समाज का प्रमुख दृष्टिकोण असंतुलित हो गया है। नारी सुलभता की ओर झुकाव आज की आवश्यकता है।

यह बदलाव अनुभव आधारित ज्ञान पर भी बल डालेगा। पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में महिलाएँ अपने निजी अनुभवों से सारतत्व निकाल सकती हैं। रोचक तथ्य यह है कि, यही बात लद्दाखियों तथा अन्य कई पारंपरिक एवं गैर-पश्चिमी संस्कृतियों के विषय में भी कही जा सकती है। प्राकृतिक जगत की पेचीदगियों को समझने के लिये सिद्धांत को अनुभव पर आधारित होना चाहिये। अनुभव आधारित सीख गड्ड-मड्ड यथार्थ पर आधारित होती है, अपने सारे विरोधाभास और अस्त व्यस्तता से, अपने सतत् बदलते प्रारूपों से, उसके हमारी आकांक्षाओं से अनुकूलन करने के इन्कार से। अतः, वह अंततोगत्वा नम्रता की ओर ले जाती है। यदि हमारे अध्ययन प्रयोगशाला में कम और बाहर अधिक किये जाते — मैदानों में, तो वस्तुतः वैज्ञानिक प्रगति अधिक सावधानी से आगे बढ़ती। यदि हमने अपनी नई तकनीकों को लागू करने के पहले, कुछ समय तक संभावित प्रभावों का परीक्षण किया होता, तो हमने और गैर इरादतन प्रभाव उत्पन्न करने वाली विनाशक शृंखला का आगाज़ नहीं किया होता।

पश्चिम में, हमारी प्रवृत्ति इस प्रकार रहने की है, जो यथार्थ से परे है और छवियों एवं अवधारणाओं पर विश्वास करती है। जैसा कि ताशी राबग्यास ने लंदन में चंद महीने रह कर

लौटने पर कहा, “यह विस्मयकारक है कि यहाँ पर हर वस्तु कितनी परोक्ष है। वे प्रकृति के सौंदर्य के विषय में लिखते हैं, उस पर बातें करते हैं और वहाँ सब तरफ गमलों में पौधे हैं, या प्लास्टिक के पौधे हैं और दीवारों पर वृक्षों के चित्र हैं। और सारे समय प्रकृति पर टेलीविज़न कार्यक्रम चलता है पर उनका प्रकृति से वास्तविक संपर्क भी है, ऐसा लगता ही नहीं।”

अपनी हाल की स्वीडन यात्रा के दौरान मैंने दिन का भोजन अपनी एक दोस्त करीन के साथ उसके बागान में किया, जो स्टाकहोम के बाहर स्थित है। वह एक सफल अधिवक्ता एवं दो किशोर लड़कियों की माँ है। वह लद्दाख प्रोजेक्ट में गत गर्मियों में स्वयं सेविका थी और हम दोनों में मैत्री हो गई थी।

“लद्दाख मेरे साथ यहाँ आ गया,” उसने कहा। “मैं यह जानने का प्रयास करती रहती हूँ कि उसने मुझे किस सीमा तक प्रभावित किया है।” स्वीडन लौटने के बाद उसे महसूस हुआ कि अपने जीवन में कुछ बदलाव लाना आवश्यक है। उसने अपनी वकालत कम कर दी ताकि वह पर्यावरणीय संगठन के लिये काम कर सके। उसने अपनी ज़िंदगी की रफ्तार को धीमा किया, सब्जियों का बगीचा तैयार किया और बच्चों के साथ अधिक समय बिताना आरंभ किया।

करीन ऐसा करने वाली अकेली नहीं हैं। ईको-ग्राम बनाने का आंदोलन पूरे स्वीडन में चल पड़ा है: दो सौ की योजना पहले ही बन चुकी है, जो सभी नवीनीकृत ऊर्जा तथा कचरे के पुनर्चक्रीकरण पर आधारित है। अधिकाधिक लोग जैविक भोज्य पदार्थ खरीद रहे हैं और अपने घरों के निकट के किसानों से खरीदकर स्थानीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ कर रहे हैं। सरकार ने भी पर्यावरणीय खाता प्रणाली स्थापित की है, जिसमें प्राकृतिक संसाधनों की बर्बादी को सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से घटा दिया जाएगा।

स्वीडन में हो रहे ये परिवर्तन सही दिशा की ओर जा रहे महत्वपूर्ण बदलावों को प्रतिबिंबित करते हैं। सारे औद्योगिक विश्व में लोग प्रकृति से बेहतर संतुलन की तलाश में हैं और इस प्रक्रिया में वे पारंपरिक संस्कृति की ओर उन्मुख हो रहे हैं। ऐसे विविध क्षेत्रों में यथा मरणासन्न लोगों के लिये आश्रम और विवादों के निपटान हेतु मध्यस्थ — सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वाधिक आधुनिक के बीच उदित होती एक समानांतर व्यवस्था। ठीक उसी प्रकार जैसा लद्दाखी ग्रामीण सदा से करते आए हैं, बड़ी तादाद में लोग कर रहे हैं, घर-गृहस्थी की गतिविधियों के केंद्र में रसोई, संपूर्ण आहार लेना जो प्राकृतिक रीति से उगाए गये हों और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के लिये युगों पुरानी उपचार पद्धतियाँ। अत्यंत दुर्बोध ढंग से भी, जैसे कथा-कहानियों में पुनः रुचि का उत्पन्न होना, शरीरिक कार्यों के प्रति फिर से उत्साह तथा वस्त्र तथा निर्माण हेतु प्राकृतिक सामग्री का प्रयोग, परिवर्तन की दिशा स्पष्ट है। हम घुमावदार पथ से अपने और धरती के बीच के प्राचीन संबंधों की ओर अग्रसर हैं।

यह प्रक्रिया 'लेकिन' प्रायः अवचेतन रूप से होती है। हमारी मुख्यधारा संस्कृति प्रगति के एक घातीय परिदृश्य को प्रोत्साहित करती है, वह जिसमें लक्ष्य यह होता है कि हम अपने अतीत से और प्रकृति के नियमों से मुक्त हो जाएँ। आज का मंत्र है "हम वापस नहीं लौट सकते, हम वापस नहीं लौट सकते" और उसे हमारी सोच में गहराई से उभार दिया गया है। ये सच है कि हम वापस नहीं जा सकते, अगर हम चाहें तो भी, किंतु भविष्य के लिये हमारी खोज हमें घुमा फिरा कर कुछ बुनियादी प्रारूपों की ओर ले ही आती है जिसका प्रकृति से बेहतर समन्वय है — और उसमें मानव स्वभाव भी शामिल है।

हमारे उस प्रयास में कि हम एक ऐसा जीवन का मार्ग पा सकें जो हमारे अंदर के स्व के ज्यादा करीब हो, कुछ बड़े कदम शिशुओं के पालन-पोषण के सम्बन्ध में उठाए गए हैं। क्या यह इसलिए हुआ कि महिलाओं के दृष्टिकोण को ज्यादा ठीक से महसूस किया गया? शुक्र है कि घड़ी के कांटे के अनुसार स्तनपान के तरीके को छोड़ दिया गया है, क्योंकि हम अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के प्रति उचित सम्मान की ओर लौट आए हैं; और अब माता एवं पिता दोनों ही बच्चों को गोद में लिये घूमते हैं। हम वह सब सीखने लगे हैं, जो पारंपरिक लदाखी कभी भूले ही नहीं थे — कि प्रत्येक मनुष्य जो जन्म लेता है उसे बिना किसी शर्त के प्यार पाने का अधिकार है और यह कि बच्चे केवल परिवार प्रणाली में ही फल-फूल सकते हैं, जिसमें खुद को साबित करने की आवश्यकता नहीं होती, इस हक को पाने की जरूरत नहीं होती कि तुम क्या हो।

अखिल विश्व में, जीवन के हर क्षेत्र में, मनोविज्ञान से भौतिकी तक, खेती से परिवार की रसोई तक, समस्त जीवन के पारस्परिक जुड़ाव के प्रति जागरूकता बढ़ रही है। नए-नए आंदोलन खड़े हो रहे हैं, जो मानव पैमाने पर जीने के प्रति कृतसंकल्पित हैं और अधिक स्त्रियोचित व आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति भी। संख्या बढ़ रही है और परिवर्तन की बयार बह चली है। इन प्रवृत्तियों को प्रायः "नया" कहा जाता है, पर जैसी कि मेरी उम्मीद है और जैसा लदाख ने दिखाया है, महत्वपूर्ण अर्थ में वे अत्यंत प्राचीन हैं। दरअसल वे उन मूल्यों की पुनः खोज है जो सहस्रों वर्षों तक अस्तित्वमान थीं — मूल्य जो प्राकृतिक व्यवस्था में हमारी जगह को मान्यता देते हैं, हमारा एक दूजे से एवं धरती से अटूट रिश्ता।

बाद में

सुख का अर्थशास्त्र

जब 'एन्शेन्ट फ्यूचर्स' पहली बार प्रकाशित हुई थी, तब से लेकर मेरा दुनिया भर के सैकड़ों ज़मीनी समूहों से संपर्क हुआ। इस प्रकार मैंने देखा कि व्यक्तियों का पूरा ब्रह्माण्ड विनाशकारी विकास के आक्रमण से अपने समुदायों और पर्यावरण को बचाने के लिये काम कर रहा है। स्वीडन से ज़ाम्बिया तक, यूनाइटेड स्टेट्स से लदाख तक मैंने अनगिनत प्रयास देखे हैं, जो असाधारण साहस, करूणा, विवेक और दृढ़ता को प्रदर्शित करते हैं। वे सब मानवीय सद्भाव और समझ के प्रेरणादायी गवाह हैं।

ये शक्तियाँ जो 'नीचे' जड़ तक गई हैं, लोगों की उस इच्छा की अभिव्यक्ति हैं, जो परिवार, समुदाय एवं प्रकृति से जुड़ाव को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं तथा जीवन को अर्थपूर्ण बनाने के इच्छुक हैं। बुनियादी स्तर पर, ये आंदोलन "स्थानीयकरण" के लिये हैं — स्थान आधारित संस्कृति के वस्त्र को दोबारा बुनने के लिये।

इसके समानान्तर ही, जबकि कई सकारात्मक पहल नीचे से ऊपर की ओर की जा रही है, राजनैतिक व आर्थिक शक्तियाँ 'ऊपर' से वृद्धि एवं "प्रगति" के पुराने पड़ चुके एवं विनाशक माडल का भूमंडलीकरण करना जारी रखे हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक और परिवेशीय विघटन में नाटकीय वृद्धि हुई है और उनका आकार इतना बड़ा हो गया है कि अब उनकी अनदेखी अत्यंत उदासीन राजनेता भी नहीं कर सकते। मौसम का बदलाव हमारे जीवन के लिये खतरा बन चुका है, तेल का प्रदाय घटता जा रहा है, वैश्विक वित्त-व्यवस्था अन्यायपूर्ण तथा अस्थिर है, धनिकों व निर्धनों के बीच का अंतर बढ़ता जा रहा है तथा अनाज की बढ़ती कीमतें और अनाज की कमी के चलते लाखों को भूखा रहना पड़ रहा है।

ऐसी व्यापक रूप से मान्य समस्याओं के अतिरिक्त, एक अन्य संकट को अब स्वीकृति मिलना आरंभ हुआ है। यह मानव की पीड़ा है — मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक निर्धनता — उन लोगों की, जिन्हें निरंतर बढ़ती रफ्तार से उत्पादन और उपभोग की तरफ धकेल दिया गया है। इसके कारण जो अवसाद और समय का दबाव पड़ता है, वह असह्य हो चुका है। सर्वाधिक औद्योगिक देशों में अवसाद तथा हिंसा बढ़ रही है, विशेषतः बच्चों और किशोरों में। विश्व भर में लोग असहिष्णु राष्ट्रवाद और धार्मिक कट्टरता के साथ-साथ आतंकवाद की काली छाया के भय में जी रहे हैं।

अपनी यात्राओं में मेरा तमाम उन लोगों से मिलना हुआ जो उस दुनिया को लेकर बेहद चिंतित हैं, जो विरासत में उनके बच्चों को मिलनी है। पर अधिकांश स्वयं को बहुत असहाय और चिंतातुर पाते हैं और “तबाही” एवं “विध्वंस” की बातें करते हैं। उन्होंने यह मान लिया है कि अब कुछ नहीं किया जा सकता, कि ये समस्या इतनी विकराल हो गई है कि उसका कोई हल नहीं निकाला जा सकता। कुछ की सोच है कि यह मनुष्य के स्वाभाविक लालच का परिणाम है। अन्यो का मानना है कि यह सब प्रगति के बढ़ते कदमों का फल है और यह विकास की ऐसी प्रक्रिया है, जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।

लद्दाख में तीस वर्षों से अधिक के अनुभव ने मुझे एकदम अलग दृष्टिकोण दिया है। मैंने देखा है कि किस प्रकार बाहरी आर्थिक दबाव ने न केवल प्रदूषण एवं संसाधनों की कमी पैदा की है, बल्कि बेरोजगारी और सांस्कृतिक हीनता की भावना भी उत्पन्न की है, जो वहाँ पहले नहीं थी। मैंने देखा है कि कैसे इन दबावों ने जीवन की गति को बढ़ाया है और कैसे उन्होंने लोगों को अपने आसपास के जीवित जगत और एक-दूसरे से अलग कर दिया है, जिसके फलस्वरूप प्रकृति के प्रति अनादर एवं परिवार तथा समुदाय में बिखराव हुआ है। सर्वाधिक नाटकीय परिवर्तनों में से एक उन समूहों के बीच हिंसक झगड़े हैं, जो सदियों से शांतिपूर्वक साथ-साथ रहते आए थे।

लद्दाख के तजुर्बे ने मेरे इस विश्वास की पुष्टि की है कि हमारे संकट का मूल कारण न तो मानव स्वभाव है और न क्रम-विकास अपितु निर्दयतापूर्वक विस्तारित होती अर्थव्यवस्था है, जो लोगों और धरती, दोनों ही को कुचलती जा रही है। दुर्भाग्यवश यह व्यवस्था इतनी विराट हो गई है कि वह मानव निर्मित है, इस रूप में पहचानना कठिन हो गया है: हमारी प्रवृत्ति उसकी ओर बजाए एक तरह से न रोके जा सकने वाली विकास प्रक्रिया के रूप में देखने की बढ़ रही है। केवल पीछे हट कर और बड़ी तसवीर को देखकर ही हम वैश्विक अर्थव्यवस्था तथा अपने सामने की समस्या के बीच की कड़ी को पहचान पाएँगे। व्यापक दृष्टिकोण स्पष्ट कर देता है कि हमारे लिये नीतियों और ‘मानवीय संस्थानों का बदलना’ ज़रूरी है न कि अपनी प्रजाति के

स्वभाव अथवा क्रम-विकास (इवोल्यूशन) को। हम यह भी देख सकते हैं कि एकदम दृष्टिगत प्रभावों से पीछा छुड़ाने हेतु सबसे अधिक प्रभावी उपाय है, — वनों की तबाही से प्रदूषण तक, गरीबी से लेकर जातीय संघर्ष तक — इस विकराल होती अर्थव्यवस्था को बदलना। सबसे अहम है, उस दबाव का सामना करना जो हमें एक दूजे से और प्राकृतिक संसार से अलग करता है, तभी हमारी गंभीर मानवीय आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी और हमारी खुशहाली व सुख का मार्ग प्रशस्त होगा।

वैश्विक गाँव बतौर वैश्विक एकल संस्कृति

दुनिया भर की सरकारें, राजनैतिक इंद्रधनुष के एक छोर से दूसरे छोर तक (वामपंथी हों या दक्षिणपंथी), ऐसी संधियों पर हस्ताक्षर कर रहे हैं जो वैश्विक व्यापार व वित्त के मुक्त कारोबार के जरिये आर्थिक वृद्धि को और भी गतिमान करे। तथाकथित वैश्विक गाँव — जिसकी प्रशंसा सरकार और उद्योग करते नहीं अघाते हैं कि वह सभी देशों को जोड़ देगी, जिससे कि वे वैश्विक अर्थव्यवस्था का लाभ उठा सकें — किंतु वास्तव में यह अत्यधिक ज्वलनशील एकल संस्कृति पर आधारित है, न कि समुदाय या स्थान के जुड़ाव पर। वास्तव में यह वैश्विक उपभोक्तावाद पर आश्रित है।

जैसे-जैसे, अरबों-खरबों डॉलरों का निवेश और विकास सहायता अधिकाधिक लोगों को उपभोक्ता संस्कृति की ओर खींच रहे हैं, वैसे-वैसे आर्थिक शक्ति कम-से-कम कार्पोरेट्स (निगमों) के हाथों में केंद्रित होती जा रही है। ये निगम सट्टे की अर्थव्यवस्था चला रहे हैं जिसमें पल-पल बदलने वाली तकनीक पर्यावरण के विध्वंस की गति बढ़ा रही है, जैसे कि वे हमारे जीवन की रफ्तार और रहन-सहन बढ़ाती हैं — गुमनामी, प्रतिस्पर्धा और गरीबी भी इसी प्रक्रिया में बढ़ती जाती है। आज ज्यादातर सरकारें, स्केंडीनेविया की भी, वैश्विक पूँजी के दबाव में टूट रही हैं; नागरिकों के बहुमत की इच्छा के विरुद्ध वे नाभिकीय ऊर्जा, बायो-ईंधन, जीनांतरित विज्ञान (जेनेटिक यांत्रिकी) एवं सेना पर अधिक व्यय कर रही हैं।

मेरा सरकार, व्यापार क्षेत्र के दिग्गजों और शिक्षा शास्त्रियों के साथ दर्जनों देशों में काम करने के अनुभव का निचोड़ यही है कि नीति निर्धारकों को इस बात का किंचित भी ज्ञान नहीं है कि वे प्राकृतिक व मानवीय समुदायों को कितनी क्षति पहुँचा रहे हैं। जिसका हम सामना कर रहे हैं, वह जानबूझ कर रचा जा रहा षड़यंत्र उतना नहीं है, जितना वास्तव में वह ढाँचागत षड़यंत्र है। अन्य शब्दों में, परस्पर जुड़े हुए ढाँचे योजनाबद्ध तरीके से षड़यंत्र रच रहे हैं, जिससे ऐसा विकास पथ विकसित होता है, जो जीवन के लिये ही खतरा बन जाता है।

पिछले कुछ दशकों में हमने दृष्टि को संकरी होते हुए देखा है — सच कहा जाए तो कपट

पूर्वक समाज को बेवकूफ बनाए जाते हुए देखा है — आर्थिक गतिविधि के वैश्विक होने के साथ-साथ। जब हम अपने जीवनदाता स्रोतों से व अन्य आवश्यकताओं से और भी दूर हो जाते हैं तब शेष जगत पर अपने प्रभाव को देखना हमारे लिये और कठिन हो जाता है। हम कैसे जान सकते हैं कि जो अनाज हम खरीद रहे हैं, उसे गुलामों द्वारा खेती करवा कर नहीं उगाया गया है, जिसमें शाकनाशक और खुम्भीनाशक कीटनाशकों का उपयोग नहीं किया गया है? अर्थव्यवस्था के वृहत आकार के कारण वे लोग भी जो अच्छा करना चाहते हैं, अनजाने में ऐसी कूट व विध्वंसक असर डालने वाली चालों में शामिल हो जाते हैं। और जैसे-जैसे निगम “हरित विनाश” में अधिक प्रभावी होते जाते हैं, यह जानना और भी मुश्किल हो जाता है कि क्या हम वास्तव में नैतिक विकल्पों का चयन कर रहे हैं या नहीं।

जो लोग सक्रिय रूप से भूमंडलीकरण को आगे बढ़ा रहे हैं, वे अपने कार्यों के दूरगामी परिणामों से और भी अधिक अनभिज्ञ हैं। कार्पोरेट व शासन के नेता — अक्षरशः — प्राकृतिक जगत और उन तमाम लोगों के जीवन से बहुत दूर होते हैं, जिन पर उनके निर्णयों की मार पड़ती है। इसके अलावा, उन्हें ऐसा बौद्धिक आहार दिया जाता है, जो प्रगति के मिथकों से लबरेज होता है, जिसमें आज की उपभोक्तावादी जीवन शैली की तुलना 100 या 150 वर्ष पूर्व के जीवन से की जाती है। डिकेन्सियन युग के लंदन की कृत्रिम आधार रेखा, औद्योगिक क्रांति के आरंभिक चरणों की। उस समय ग्रामीण समुदायों को उखाड़ कर उन्हें गंदगी, दोहन व शोषण की ओर धकेल दिया गया था। अपराध, खराब सेहत और प्रदूषण चहुँ और व्याप्त था। हालात के इस बिंदु से, हमारे बाल श्रम कानून, सप्ताह में 40 घंटे काम और अपेक्षाकृत समृद्धि, वास्तविक प्रगति लगती है। इसी प्रकार वैश्विक दक्षिण पर जो आधार रेखा लागू की जाती है, वह उपनिवेशवादी युग के तत्काल बाद की है, जब स्थानीय अर्थव्यवस्थाएँ तहस-नहस थीं, गरीबी एवं अस्थिरता का नग्न नृत्य हो रहा था। उत्तर व दक्षिण, दोनों में समाज की स्थिति, संस्कृतियों एवं समुदायों के चीरे जाने से पूर्व को, या तो महत्व नहीं दिया जाता या उन्हें विस्मृत कर दिया गया है।

आज जबकि प्रगति का भ्रम अच्छे से स्थापित हो चुका है, हमारे नेता सोचते हैं कि वे उच्च नैतिक भूमि पर खड़े हैं। किंतु वे मध्यस्थों, बिचौलियों और विशेषीकृत सूचनाओं पर दिन-ब-दिन अत्यधिक निर्भर होते जा रहे हैं, उदाहरण के लिये — नवजात मृत्यु दर, निरक्षरता और वित्तीय आय। उनके लिये, विरोधी मांगों को सुलझाने तथा अधिकचरी सूचनाओं के ढेर को सरल बनाने का सबसे सरल उपाय यह है कि वे निरंतर बढ़ते सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) से चिपके रहें, जो अर्थयुक्त लक्ष्य है। (व्यापार क्षेत्र के नेताओं के लिये राजस्व वृद्धि और शेयरधारक का बढ़ता हुआ मुनाफा, केवल जानने का सरलतम लक्ष्य है: खेल के नियम उनके

लिये किसी अन्य ढंग से विचार करना असंभव बना देते हैं।)

दुनिया भर के राजनेता, वृद्धि दर को बढ़ाने हेतु वह सब करते हैं जो उनके वश में हो: वे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अनुदान देते हैं और उसका विनियमितीकरण (डीरेगुलेट) करते हैं, वे नई ज़रूरतों के सृजन को प्रोत्साहित करते हैं जो उपभोक्ता के खर्च को बढ़ाए; और ऐसी विकास नीतियों को प्रश्रय देते हैं, जो और भी अधिक लोगों को उपभोक्ता संस्कृति की परिधि में लाए। ये सभी नीतियाँ, सच तो यह है कि “निगम कल्याण” (“कार्पोरेट वेलफेयर”) की रचना करती है, जो न केवल आम जनता को अपितु स्वयं सरकारों को गरीब बनाती हैं। फिर भी अपनी पृथक सोच के विश्वास से सुरक्षित — कि आर्थिक वृद्धि ऐसा ज्वार है, जो सभी नौकाओं को ऊपर उठाता है — और विश्व को वास्तविक परिणामों से बेखबर रखकर राजनीतिज्ञ एक ही लक्ष्य को सामने रख कर आर्थिक जगन्नाथ को विस्तारित करते जा रहे हैं।

इन प्रवृत्तियों का अंतिम परिणाम ऐसी व्यवस्था है जो अंधी तो है ही, अपने अंधत्व के प्रति भी अंधी है; व्यवस्था जो जड़ से ही मानवीय दृष्टिकोण से अतार्किक है, जो जीवन को जोड़ने वाले संबंधों को ढंकने एवं नष्ट करने पर आमादा है। वस्तुतः यह एक कड़वी विडंबना है कि वृद्धि शब्द का प्रयोग आधुनिक आर्थिक गतिविधि के साथ किया जाता है, जबकि वे गतिविधियाँ पूरे संसार की जैविक वृद्धि के लिये वास्तविक संकट बन चुकी हैं।

मौसम में परिवर्तन — जिसकी मुख्य वजह वैश्विक अर्थव्यवस्था की जीवाष्म ईंधनों के लिये कभी न तृप्त होने वाली प्यास है — के कारण संपूर्ण परिवेश पद्धति के बदलने, बल्कि नष्ट होने का खतरा मंडरा रहा है — स्थायी रूप से मौसम, परिदृश्य और जीविका के साधन को बदलकर। अंधाधुंध दोहन और प्रदूषण महत्वपूर्ण संसाधनों के लिये खतरा बन चुके हैं: जीव विज्ञानियों के अनुसार सभी बड़ी प्रजातियों की मछलियाँ, जैसे तूना, सोर्डफिश, काड, हालिबट, स्केट्स और फ्लाउंडर की मात्रा 1950 के मुकाबले 90 प्रतिशत घट गई है। एक तिहाई मूंगे की चट्टानें मर चुकी हैं और बची हुई में से 90 प्रतिशत में क्षय के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। 1990 और 2000 के बीच के दस वर्षों में 94 मिलियन हेक्टेयर से अधिक जंगल दुनिया भर में समाप्त हो गए थे। और प्रजातियों के लुप्त होने की दर तेजी से बढ़ रही है; जीव विज्ञानी ई.ओ. विल्सन का अनुमान है कि यदि हम वर्तमान दर पर जीवमंडल (बायोस्फीयर) के साथ समझौता करते रहेंगे, तो विश्व की आधी प्रजातियाँ अगली सदी तक विलुप्त हो जाएँगी।

उतना ही गंभीर मामला विश्व की कृषि विविधता पर उच्च तकनीक (हाई-टेक) एकल संस्कृति को लादने की कोशिश है, जबकि इसी विविधता पर अंततः मानव जीवन की निरंतरता आश्रित होती है। परंपरा से संस्कृतियों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी

स्थानीय अनुकूलन के द्वारा की है। प्रायः परिवेश को बदलते हुए, किंतु लगभग कभी भी उन्होंने अपनी स्थिरता से समझौता नहीं किया। कई मामलों में, मानव संस्कृतियों ने वास्तव में अन्न सुरक्षा तथा परिवेश प्रणाली की स्थिरता को आगे बढ़ाया है, स्थानीय जैव-विविधता को, सचेत रहते हुए बढ़ा कर। आज कृषि में जैव विविधता जो हम देखते हैं, वह किसानों की कई पीढ़ियों का उत्पाद है, जो विभिन्न मौसमों और परिवेश प्रणालियों में उगाने हेतु बीजों का चयन करते रहे हैं।

भूमंडलीकरण, इसके उलट इन स्थानीय परिस्थितियों से अनुकूलित कृषि की रीतियों का एकरूपीकरण कर रहा है, क्योंकि वह स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को एकीकृत कर देती है। कितने ही विविध किस्म के खेतों को समाप्त करके उन्हें केंद्र प्रबंधित तथा ऊर्जा-एवं-रसायन-केंद्रित औद्योगिक प्रणाली के अंतर्गत लाया जा रहा है — एक ऐसी संरचना जो दुनिया भर के बाजारों में भेजे जा सकने वाले सीमित खाद्य पदार्थों का उत्पादन करे। इस प्रक्रिया के कारण खर्चीली तकनीक किसानों को विस्थापित करती है, विविधतापूर्ण अन्न उत्पादन जो स्थानीय समुदायों के लिये होता था, उसका स्थान निर्यात आधारित एकल संस्कृति ले रही है और हजारों स्थानीय पौध-वनस्पतियों एवं जीव जगत की किस्में लुप्त हो गई हैं।

वैश्वीकृत आर्थिक गतिविधि के चलते भारी संख्या में लोगों का ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों में पलायन हो रहा है। अनुमान है कि 2025 तक दुनिया-भर की 60 प्रतिशत से अधिक आबादी नगरीय केंद्रों में निवास करेगी। नगरीकरण, विशेषतः उन देशों में जहाँ औद्योगीकरण कम हुआ है, अनेक समस्याओं का समानार्थी है: अत्यधिक भीड़ वाली गंदी बस्तियाँ, बेरोजगारी, गरीबी, कूड़ा-करकट हटाने की खराब व्यवस्था और प्रदूषण। अत्यधिक संपन्न राष्ट्रों में भी वृहद स्तर पर शहरीकरण का सीधा प्रभाव समुदाय के टूटने पर पड़ा है। इसके पार्श्व-प्रभाव — अलगाव, अपराध, हिंसा और नशाखोरी के रूप में दिखाई देते हैं।

वैश्विक अर्थव्यवस्था का मनोवैज्ञानिक प्रभाव — उसका वास्तविक मानवीय आवश्यकताओं का चालाकी पूर्ण उपयोग — कपटी और सर्वव्यापी है। मंगोलिया से पेटागोनिया और मेलबोर्न से न्यूयार्क तक लाखों बच्चों को लक्षित करके उन्हें उपभोक्ता संस्कृति के घेरे में लाने का सतत अभियान चल रहा है। ऐसा अनुमान है कि यूनाइटेड स्टेट्स में औसत बच्चा साल भर में 40,000 टी.वी. कमाशियल्स देखता है। इसमें निहित संदेश है: “कि यदि तुम अपने बराबर के बच्चों का सम्मान पाना चाहते हो, यदि तुम चाहते हो कि लोग तुम्हें प्यार करें व तुम्हारी तारीफ करें, तो तुम्हारे पास सही दौड़ने के जूते, जीन्स, खिलौने और बिजली की चीजे होनी ही चाहिये। परन्तु चूँकि बच्चे अधिक वस्तुएँ पाते हैं, उनके मन में यह भावना नहीं आती कि उनके पास अमुक वस्तु है बल्कि प्रतिस्पर्धा, पृथक्त्व और द्वेष की भावना आती

है। विश्व-भर में अवसाद की बीमारी की समस्या बढ़ रही है, सभी आयु समूहों में और लगभग हर समुदाय में जिस दर से यह रोग बढ़ रहा है, वर्ष 2020 तक औद्योगीकृत देशों में अवसाद, दिल की बीमारी के बाद दूसरे क्रम पर होगा। अवसाद का गहरा संबंध एकाकीपन व असुरक्षा की भावना से है — टूटे हुए समुदायों में यह सामान्य बात है, जहाँ लोगों का एक दूसरे से, या प्राकृतिक जगत से थोड़ा सा संबंध होता है।

हाल के वर्षों में भूमंडलीकरण ने आतंकवाद को बढ़ाने में भी अनर्थकारी भूमिका का निर्वाह किया है। 9/11 के बहुत पहले से ही क्रोध और हिंसा में इजाफा हो रहा था, खास कर दक्षिण में। हममें से अधिकांश को केवल धुंधली सी याद होगी कि जातीय संघर्ष जो सुलगते रहते हैं वे समय-समय पर श्रीलंका से तुर्की तक भड़क उठते हैं। ये झगड़े पश्चिम के औद्योगीकृत देशों से अपनी निकटता के कारण ही समाचार योग्य बनते हैं — जैसे चेचन्या और बोस्निया — या फिर जब उनसे मीडिया की सनसनी फैलाने की प्यास शांत हो जाए, जैसा कि रवांडा के मामले में हुआ। लेकिन अधिसंख्य पश्चिम वालों की जानकारी के बिना मतांधता, धार्मिक कट्टरता और जातीय झड़पे दशकों से बढ़ती गई हैं और केवल इसलामी जगत में ही नहीं।

इस प्रवृत्ति को यदि हम समझने में असफल रहे तो वह हमें उस व्यापक ढाँचे की समझ से दूर ले जाएगी, जिसका आतंकवाद एक हिस्सा है। धार्मिक कट्टरता और जातीय दंगों में वृद्धि को सही मायनों में समझने हेतु हमें उसके गहरे प्रभावों की ओर देखना होगा, जिसे वैश्विक उपभोक्ता संस्कृति का ‘जेहाद’ कहा जा सकता है, जो धरती के समृद्ध सांस्कृतिक वैविध्य के खिलाफ है। वैसा करने पर हम न सिर्फ हाल की त्रासदियों को ठीक से समझ पाएंगे अपितु भविष्य के लिये रास्ता भी ढूँढ़ पाएंगे, जो हर तरफ से हिंसा को कम कर सके।

हम लद्दाख की मिसाल लें, जिसके बारे में मैं बेहतर जानती हूँ, जहाँ आत्मनिर्भर स्थानीय अर्थव्यवस्था पर बाहर की आर्थिक शक्तियों ने इतना ढाँचागत और मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला है कि जिससे धार्मिक कट्टरता और हिंसा में वृद्धि हुई है। जैसा कि मैंने पुस्तक में बतलाया है, ढाँचागत दबावों में आयातित अन्न पर अनुदान शामिल था, जिसके कारण स्थानीय उत्पादकों का बाजार नष्ट हो गया और गाँव की जीविका के साधन नहीं रहे। और इस प्रकार बेरोजगारी और थोड़ा-सा नकद हाथ में देने वाली कुछ ही नौकरियों के लिये गलाकाट प्रतिस्पर्धा आरंभ हो गई।

उसी समय, विज्ञापनों और पाश्चात्य शैली के स्कूलों ने नगरीय उपभोक्ता जीवन शैली का ऐसा आकर्षक माहौल बनाया, जिसके कारण पारंपरिक जीवन शैली आदिम और पिछड़ी लगने लगी। इसके फलस्वरूप लद्दाखी नवयुवकों ने अपनी संस्कृति के लगभग हर पहलू को तिरस्कृत करना शुरू कर दिया। मीडिया छवि की बमबारी ने नीली आँखों और सुनहरे बालों वाले रोल

मॉडलों का इस कदर महिमामंडन किया कि युवा 'अपने आपको ही' अमान्य करने लगे, इस प्रवृत्ति का खुलासा फेयर एंड लवली नामक चमड़ी को गोरा बनाने का दावा करने वाली खतरनाक क्रीम की बढ़ती बिक्री के रूप में देखा गया। अपनी कमजोरियों से वाकिफ होते हुए भी वे मीडिया मॉडल से खुद की तुलना करने लगे, अपने हुनर और ज्ञान के प्रति अविश्वास, जिसने लड़ाखियों को शताब्दियों तक बचाकर रखा था, युवावर्ग में उन तीव्र मनोवैज्ञानिक दबावों का विपरीत प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा, जिसे वे महसूस कर रहे थे। विशेषतः नौजवानों में ये दबाव "दूसरों" के प्रति क्रोध के रूप में व्यक्त हुए। इसके साथ ही आधुनिक क्षेत्र में ताकत, नौकरियाँ और संसाधनों के लिये प्रतिस्पर्धा के कारण, यह क्रोध इतने नाटकीय ढंग से बढ़ा कि बौद्ध व मुसलमान — जो गत पाँच सौ वर्षों से शांतिपूर्ण सत्ता संतुलन को बनाए हुए थे — अब एक दूसरे के विरुद्ध प्रबल हिंसा की ओर अग्रसर हो गए : दोनों समुदाय वस्तुतः एक दूसरे को "समाप्त" करने की बातें करने लगे ताकि वे स्वयं जीवित रह सकें।

लद्दाख में शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का विघटन 1975 से 1989 के बीच होता गया। उसी अवधि में मैंने लगभग इसी तरह का बदलाव भूटान राज्य में देखा, जहाँ बौद्ध और हिंदू लड़ पड़े। जैसे-जैसे विकास और आधुनिकता, विभिन्न संस्कृतियों को ग्राम्य जीवन की अवहेलना करके एक स्तर पर लाने का जतन कर रहे हैं, उसकी वजह से इसी प्रकार के परिणाम लगभग हर ओर देखने में आ रहे हैं। एकीकृत, समरूप वैश्विक गाँव का सपना ही मूल रूप से दोषपूर्ण है। जिस प्रकार जीवमंडल (बायोस्फीयर) को अपनी शक्ति के लिये विविधता की आवश्यकता होती है, वैसा ही मानव संस्कृतियों के साथ भी है, जहाँ वैविध्य तथा भिन्नताओं की स्वीकृति, शांतिपूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण संबंधों के वास्तविक आधार होते हैं।

परिवर्तन के उद्दोलक

औद्योगिक बाजीगरी का विस्तार अपने साथ, अपने ही विनाश के बीज भी लाता है। जब पहचान, समुदाय और जीवन के ताने-बाने के लिये संकट उत्पन्न होता है, तो लोगों में मूल प्रवृत्ति की और लौटने की — समुदाय एवं प्रकृति से संपर्क की आवश्यकता की अनुभूति उत्पन्न होती है। इस आवश्यकता की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में प्रकट हो रही है। कई अलग-अलग धर्मों के अनुयायी अब अपने धार्मिक जीवन के भाग के रूप में धरती की देखभाल के महत्त्व को स्वीकारने लगे हैं। शिल्पज्ञ अब प्राचीन भवन निर्माण की तकनीकों और प्राकृतिक निर्माण सामग्रियों की पुनः खोज में लगे हैं। साल-दर-साल स्वास्थ्य संधारण के प्राकृतिक उपायों की माँग बढ़ रही है। बढ़ती संख्या में कृषक और माली रासायनिक खादों और विषैले कीटनाशकों से विमुख होकर ऐसे उपाय तलाश रहे हैं जो प्रकृति के अनुकूल हों, प्रतिकूल नहीं। यहाँ तक

कि उपनगरीय दिखावटी बगीचों को सब्जियों के बागों में बदला जा रहा है। और जैसे-जैसे लोगों में कृत्रिम रंगों, अनुरक्षकों और प्रसंस्करित भोज्य वस्तुओं के खतरों के प्रति जागरूकता बढ़ रही है, वे अधिक स्थानीय, प्राकृतिक आहार की ओर उन्मुख हो रहे हैं।

ये सब वास्तव में उत्साहवर्धक संकेत हैं, किंतु स्थायी सफलता सुनिश्चित करने के लिये, हमारे लिये आवश्यक है कि हम विभिन्न संकटों और वैश्विक अर्थव्यवस्था के बीच की कड़ियों की ओर ध्यान दें। प्रायः होता यह है कि हम किसी एक लक्षण का उपचार करने लगते हैं और उसके नीचे के कारण की ओर ध्यान नहीं देते। फिर भी जो समस्या हमारे सामने है, उसका सबसे अहम समाधान होगा, आर्थिक प्रणाली को बदलने हेतु व्यापक आधार वाला प्रयास। आर्थिक भूमंडलीकरण को त्याग कर स्थानीय की ओर मुड़ना, हमारे लिये उसकी प्राप्ति में सहायक होगा, जिसे मैं "सुख का अर्थशास्त्र" कहती हूँ। दूसरे शब्दों में, 'स्थानीयकरण' के जरिये हम अपनी भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों आवश्यकताओं को पूरा कर सकेंगे — और धरती पर जीवन के बचाव के लिये हमें समझौता नहीं करना पड़ेगा।

आर्थिक प्रणाली को बदलना उतना कठिन नहीं होगा जितना कि पहली बार में लगता है। पहला कदम तो यह स्वीकार करना होगा कि मौजूदा प्रणाली गलत धारणाओं और अर्ध सत्यों के द्वारा चालू रखी जा रही है। अर्थ विज्ञानी "बाज़ार" और "वृद्धि" का हवाला देते हैं, जैसे कि ये दोनों अलग घटनाएँ हों : हम सुनते हैं कि "सरकारों को रास्ते से हट जाना चाहिये और बाज़ार को निर्णय करने देना चाहिये; या "सर्वाधिक उपभोक्ता खर्च स्वस्थ और समृद्ध समाज के लिये आवश्यक है।" दरअसल, "बाज़ार" और "वृद्धि" वे सिद्धांत हैं, जिनकी परिभाषाएँ विशेष हितों के लिये गढ़ी गई हैं। जब शासन के नीति निर्धारक इन सिद्धांतों के आधार पर फैसले लेते हैं, तब वे अर्थव्यवस्था की दिशा को निर्धारित करते हैं और समाज को प्रभावी ढंग से अंतर्राष्ट्रीय निगमों (टीएनसीज़) एवं बैंकों की आवश्यकताओं के मद्देनज़र बदलते हैं। इसके कारण धन विश्व की आबादी के अति सूक्ष्म भाग के हाथों में, बहुमत की कीमत पर चला जाता है।

इसके बावजूद कि जो हमें "माँग और पूर्ति" या "प्राकृतिक अभाव" के विषय में पढ़ाया गया है, बाज़ार में आज कीमतें राजनैतिक पसंदगियों का उत्पाद हैं। उत्तर व दक्षिण दोनों में विश्व के एक से दूसरे कोनों में, प्रसंस्करित व डिब्बाबंद खाद्य पदार्थ, घर के बाजू में मिल रहे ताज़ा भोजन से सस्ते हैं। यह नीति का प्रभाव है, कोई प्राकृतिक हालात की हकीकत नहीं।

अर्थव्यवस्था की दिशा को बदलने हेतु तीन उद्दोलकों (लीवर्स) का उपयोग किया जा रहा है: नियमों में ढील, कर और अनुदान (सबसिडी) ; और वह रीति (जीएनपी) जिसके अनुसार हम समाज की खुशहाली को नापते हैं।

विनियमन (रेग्युलेशन)

बुनियादी रूप से भूमंडलीकरण का अर्थ वैश्विक व्यापार एवं वित्त को विनियमित करना है, व्यापार जगत के बड़े खिलाड़ियों तथा विदेशी निवेश को विश्व भर में नियमों से मुक्त करना है; तथा ऐसे नियम-कायदों को समाप्त करना है जो समाज और पर्यावरण की रक्षा के लिये बनाए गए थे। दक्षिण में यत्र-तत्र “विशेष आर्थिक क्षेत्र” (“एसइज़ेड”) स्थापित किये जा रहे हैं, जिनमें अंतर्राष्ट्रीय निगमों (“टीएनसीज़”) को पूरी आज़ादी देने हेतु पाबंदियाँ हटाई जा रही हैं। जहाँ ये प्रतिबंध वैश्विक व्यापार पर से हटाए जा रहे हैं, वहीं छोटे, स्थानीय व्यापारों पर और अधिक नियम नौकरशाही के लाल फीते में उलझने के लिये लागू किये जा रहे हैं। ऐसा कुछ तो बड़े निगमों के हानिकारक कारनामों के कारण और कुछ राजनीति पर उनके असर के कारण संभव होता है — क्योंकि वे ऐसे नियम बनवाते हैं जिससे कि छोटे प्रतिस्पर्धा से ही बाहर हो जाएँ। उदाहरणार्थ, अमेरिका की बड़ी होटल शृंखलाओं ने वाशिंगटन में सांसदों पर प्रभाव बनाया कि बिस्तर और नाश्ते के लिये और कड़े नियम बनाए जाएँ; यूरोपीय यूनियन में कृषक जो कई पीढ़ियों से सुस्वादु, स्वास्थ्यवर्धक चीज बनाते रहे हैं, उन्हें स्वच्छता के नाम पर दबाया जा रहा है कि वे महंगे उपकरण खरीदें।

कर एवं अनुदान (सबसिडी)

भूमंडलीकरण युग के आगमन से पहले ही, आर्थिक नीतियों ने व्यापार को बड़ा और बड़ा बनाने में मदद की है। कोई उद्यम जो लोगों को नौकरी देता है — वह चाहे बेकरी हो या अस्पताल — को भारी कर लगा कर दंडित किया जाता है। दूसरी ओर, ऐसे व्यापार जो टेकनालॉजी पर अधिक निर्भर होते हैं और भारी मात्रा में ऊर्जा खपाते हैं, को करों में अवकाश और अनुदान (सबसिडी) देकर पुरस्कृत किया जाता है। जितनी ही अधिक ऊर्जा का आप उपयोग करेंगे, उतना ही कम भुगतान आप करेंगे। इस प्रकार हमारी अर्थव्यवस्था एक साथ बेरोजगारी सृजित करती है और बड़े पैमाने पर प्रदूषण बढ़ाती है।

जैसे-जैसे भूमंडलीकरण आगे बढ़ता है और बड़ी कंपनियाँ (कार्पोरेशन्स) छोटे प्रतिस्पर्धियों को रास्ते से हटाने में सफल हो जाती हैं, नीति निर्धारकों का ऐसा सोच होता जाता है कि बड़ा व्यापार ही शहर का एकमात्र खेल है। इसके परिणाम स्वरूप सरकारों में होड़ लग जाती है और वे निगमों को न सिर्फ कम प्रतिबंधात्मक स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय विनियमों में छूट देती हैं, न केवल सस्ता श्रम एवं संसाधन उपलब्ध कराती हैं, बल्कि अत्यधिक सबसिडियाँ और कर अवकाश भी देती हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय निगमों को सार्वजनिक निधि से यातायात अधोसंरचना बना कर देती हैं — राजमार्ग, हवाई अड्डे, रेल और शिपिंग टर्मिनल। वे वृहद,

केंद्रीकृत विद्युत प्लांट उपलब्ध करती हैं और सुनिश्चित करती हैं कि उन्हें जीवाष्म ईंधन, नैगमिक उत्पादन तथा यातायात आवश्यकताओं के लिये अबोधित रूप से मिलता रहे। वे शिक्षा में ऐसे बदलाव करती हैं, जिससे और भी अधिक हाई-टेक, व्यापार केंद्रित शिक्षा दी जाए और पढ़-लिख कर निकलने वाले छात्र ऐसे कौशल व ज्ञान से लैस हों, जो निगमों द्वारा रचित अर्थव्यवस्था की ज़रूरतों को पूरा कर सकें। यद्यपि इन रियायतों से छोटे व्यापार एवं अधिसंख्य नागरिकों को नगण्य या शून्य लाभ मिलता है, पर इन बड़े खर्चों के लिये अधिकांश धनराशि उनसे ही कर के रूप में वूसली जाती है।

सामाजिक खुशहाली के पैमाने

इसे वैध बताने हेतु नीति निर्धारक सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की ओर देखते हैं, यह मान कर कि जिस दर पर जीडीपी ऊँची होती है, वह समाज व अर्थव्यवस्था को नापने का वैध पैमाना है। यह सिर से ही गलत है। जब नल का पानी इतना प्रदूषित है कि हमें प्लास्टिक की बोतलों में पेय जल क्रय करना पड़ता है, तो जीडीपी बढ़ जाती है। जीडीपी तब भी बढ़ती है, जब हम भूमि के अंदर से तेल खींच कर उसे जलाते हैं, जैसे कि हम उसे अनंत काल तक जला सकेंगे। वह तब भी बढ़ती है, जब हम हरे-भरे वनों को काट कर उससे स्नान कक्ष टिशू बनाते हैं, जैसे कि ये वनों की परिवेश प्रणाली द्वारा प्रदत्त सेवाएँ हों — साफ हवा एवं जल तथा सम जलवायु का कोई खास महत्व ही नहीं है। जब लोग अधिक बीमार पड़ते हैं और उन्हें दवाओं और चिकित्सालय सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है, तब जीडीपी में वृद्धि होती है। यदि प्रदूषण कम हो जाए तथा लोग शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रहें, तो जीडीपी में गिरावट आती है। अन्य शब्दों में, जितना ही अधिक प्रदूषण, बीमारियाँ और रुकावटें होंगी, उतनी ही अर्थव्यवस्था “बढ़ेगी” और हमें बेहतर स्थिति में माना जाएगा।

कुछ वैकल्पिक संकेतक भी हैं, जैसे कि वास्तविक प्रगति संकेतक (जेनुइन प्रोग्रेस इंडिकेटर), जिसकी रचना 1990 के दशक में “रीडिफाइनिंग प्रोग्रेस” नामक केलिफोर्निया स्थित एक संगठन ने की थी। ऐसे मापक उन अनेक सेवाओं को उचित मान्यता देते हैं, जो स्वस्थ पारिस्थितिक प्रणाली से उपलब्ध होती हैं और उनमें से उन खर्चों को घटाते हैं जो खराबी (ब्रेकडाउन) के कारण होते हैं — कारागार निर्माण, कैंसर चिकित्सा, अवसादरोधी औषधियाँ आदि। एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन ऐसे संकेतकों को विकसित करने में लगा है, जो भूतान के पूर्व नरेश द्वारा व्यक्त विचार पर आधारित हैं और जिन्होंने “सकल राष्ट्रीय सुख” (जीएनएच) का प्रस्ताव रखा था बजाय जीडीपी के, कि वह आर्थिक व सामाजिक खुशहाली का सही पैमाना है। जीएनएच को मानक के रूप में स्वीकार करने पर वैश्विक व्यवस्था का सर्वथा भिन्न चित्र

प्राप्त होगा। 1999 से 2001 तक पैंसठ से अधिक देशों में किये गए एक सर्वेक्षण में पता चला कि नाइजीरिया में सर्वाधिक प्रतिशत ऐसे लोगों का है जो स्वयं को सुखी मानते हैं। इस पैमाने पर ब्रिटेन का क्रम चौबीसवाँ था, जो शेखी बघारता था कि उसका जीडीपी नाइजीरिया से बाईस गुना ऊपर है।

वर्तमान में इन उद्वोलकों का प्रयोग हम सब को खुदकुशी के रास्ते पर ठेल रहा है। मेरी मान्यता है कि खुद को और पृथ्वी को बचाने हेतु हमें इन उद्वोलकों का नियंत्रण अपने हाथों में आर्थिक सक्रियता के द्वारा लेना होगा; और उसके लिये भूमंडलीकरण की कार्य पद्धति को समझना होगा। यदि तमाम सामाजिक और पर्यावरणीय आंदोलन एकजुट होकर एक सर्वमान्य कार्यक्रम पर काम करें, तो नीतियों में उचित परिवर्तन के लिये पर्याप्त दबाव बनाया जा सकता है।

लद्दाख का उपचार और नवीनीकरण

मेरे लद्दाख पहली दफा आने के बाद के तीन दशकों में भूमंडलीकरण तथा स्थानीय के पुनर्जागरण के बीच संघर्ष जारी रहा और तीव्रतर होता गया। बाहरी दबाव अभी भी लद्दाखियों को वैश्विक, उपभोक्ता एकल संस्कृति को अपनाने हेतु प्रभावित करते हैं। टेलीविजन और अन्य मुख्यधारा मीडिया गहराई तक प्रविष्ट होते जा रहे हैं, जबकि अनुदान प्राप्त रसायन युक्त आयातित भोजन स्थानीय पौष्टिक-जैविक अन्न को हटाता जा रहा है। कोका कोला, पेप्सी और नेस्ले का शीत-शोषित नूडल्स एवं संघनित दुग्ध बलपूर्वक लाए जा रहे हैं और उन्हें दूर-दराज के गाँवों के बच्चों तक पहुँचाया जा रहा है।

इन नकारात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद, लेकिन, वास्तविक आशा के लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि इनके निकृष्टतम प्रभाव को महसूस किया जा चुका है। हालाँकि अनेक किशोर बाह्य संसार की चकाचौंध करने वाली छवियों के जाल में फँसते जा रहे हैं, परंतु अब प्रतिरोधी एवं बढ़ती जागरूकता आ रही है कि लद्दाख दुनिया को क्या दे सकता है। पारंपरिक लद्दाख से जो अति महत्वपूर्ण सबक विकसित जगत सीख सकता है — आत्मनिर्भरता, मितव्ययिता, सामाजिक सामंजस्य, पर्यावरण को बचा कर रखना तथा आध्यात्मिक व्यवहार कौशल — ये सब असली हैं और इनके मूल्य को अधिकाधिक लोग स्वीकार करने लगे हैं। इसके फलस्वरूप लद्दाखियों का स्वयं को नकारने से जो बड़ा घाव हो गया था, वह अब स्वाभिमान की नई भावना से ठीक होने लगा है। और वर्तमान समय में, बौद्धों तथा मुसलिमों के बीच होने वाली झड़पों में कमी आई है; वे एक बार पुनः शांतिपूर्वक ढंग से साथ-साथ रहने लगे हैं, क्योंकि सामाजिक ताने-बाने की दोबारा बुनाई हो रही है।

हमने इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर ईकालॉजी एंड कल्चर (आईसेक) में जो कार्य आरंभ किया है, उसका उल्लेखनीय प्रभाव हुआ है। बढ़ती संख्या में गैर सरकारी संगठन — जिनमें से कई ऐसे हैं जिनके गठन में हमने सहायता की थी — उन शक्तियों के पहाड़ से टक्कर लेने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिन्होंने लद्दाखियों के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाई है। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, अधिसंख्य लद्दाखी नेता यह महसूस करने लगे हैं कि बाहरी प्रभाव के चलते आयातित खाद्य पदार्थों पर निर्भरता खतरनाक रूप से बढ़ गई है और लद्दाख के लिये अब यह अत्यावश्यक हो गया है कि वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के मामले में आत्मनिर्भर बने। पर्वतीय परिषद (हिल काउंसिल), क्षेत्रीय और अर्ध-स्वशासी सरकार अब स्थानीय भोजन एवं जैविक कृषि का समर्थन करने लगे हैं और किसानों के सम्मान को बढ़ावा दे रहे हैं।

देशज पर्यावरण समूह (इंडिजिनियस इकालाजी ग्रुप) जिसकी स्थापना में हमने मदद की थी, ने विकेंद्रीकृत और नवीनीकरण करने योग्य ऊर्जा प्रणालियों को प्रोत्साहित करने में व्यापक सफलता प्राप्त की है। उसने स्थानीय, जैविक कृषि विधियों को बचाने की आवश्यकता के प्रति भी जागरूकता पैदा की है और लोगों को जीनान्तरित बीजों, कीटनाशकों और कुंभीनाशकों आदि के खतरों के प्रति सतर्क किया है। इकालाजी समूह के पूर्व निदेशकों के प्रयासों से ही पर्वतीय परिषद (हिल काउंसिल) की स्थापना हुई थी।

महिला गठबंधन (वूमेन्स अलायंस) जिसके अब 5,000 से अधिक सदस्य हैं और प्रत्येक ग्राम में जिसकी उपस्थिति है, ने लद्दाखी संस्कृति के परिवेशीय एवं आध्यात्मिक आधार को बढ़ाने एवं बचाने के लिये जो काम किया है, इसके लिये उसका सम्मान एवं प्रतिष्ठा निरंतर बढ़ रही है। गठबंधन हस्तकला एवं बीज संरक्षण कार्यक्रम का संचालन करता है और उसके प्रयत्नों के कारण ही राजधानी लेह में प्लास्टिक की थैलियों पर प्रतिबंध लग सका। उसे लोगों एवं सरकार दोनों से वास्तविक आदर प्राप्त हुआ है और वह क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन के लिये एक विश्वसनीय आवाज के तौर पर प्रख्यात हो गया है।

लद्दाख प्रोजेक्ट से हमें जो सीख मिली — जिसके तहत पश्चिम के लोग लद्दाखी परिवार के साथ, कृषि के मौसम के दौरान आकर एक माह तक रहते हैं — ने भाग लेने वालों को देशज संस्कृतियों के मूल्यों एवं वैश्विक अर्थव्यवस्था के विनाशकारी प्रभावों की अत्यधिक समझ पैदा की है। पारंपरिक लद्दाखी संस्कृति एवं खेती अभी भी आर्थिक सत्ता के विकेंद्रीकृत तरीकों को सीखने का अवसर प्रदान करते हैं। परियोजना के भागीदारों के मन में ऐसी जीवन पद्धति के प्रति गहन श्रद्धा पैदा हुई है जिसमें ज्ञान, विवेक तथा जीविका के साधन बहुत ही महान रूप में स्थानीय परिवेश में समाए हुए हैं।

इस धारणा के उन्मूलनार्थ कि पश्चिमी, शहरी उपाय, स्थानीय (देशज) जीवन से श्रेष्ठ

हैं, आइसेक ने लद्दाखियों के समूहों को “यथार्थ यात्राएँ” करवाई, जिससे उन्हें पश्चिम के जीवन का सही और संपूर्ण चित्र दिखाई दे। इन यात्राओं से न केवल बेरोजगारी, नशाखोरी, गरीबी और अलगाव की समस्याएँ उजागर होती हैं, बल्कि यह भी पता चलता है कि कई पश्चिमी लोग उपभोक्ता संस्कृति को छोड़ कर अधिक टिकाऊ और परिवेशजन्य जीवन की ओर जा रहे हैं। अनेक लोग जिन्होंने ऐसी यात्राएँ की हैं, वे अब लद्दाख के नागरिक समाज का नेतृत्व कर रहे हैं।

दक्षिण पर पड़ रहे जबर्दस्त मनोवैज्ञानिक और ढाँचागत दबावों के कारण अंतर्राष्ट्रीय सूचना विनिमय या इस तरह का प्रति-विकास परमावश्यक हो गया है। विश्व के अत्यधिक औद्योगीकृत भागों के लोग अपने ऐसे अनुभव और जानकारी दे सकते हैं, जो पाश्चात्य मीडिया के द्वारा प्रचारित रोमांचक उपभोक्ता जीवन शैली की असलियत की जाँच में सहायक हो सकती हैं। वह चाहे आणविक प्रदूषण का भय हो, यातायात के गुत्थमगुत्था होने से उत्पन्न खीज हो या फिर औद्योगिक रसायनों के अत्यधिक उपयोग के प्रति चिंता, पश्चिम का “वार्ट्स एंड आल” चित्र का ईमानदारी से प्रसारण होना चाहिये। आज यदि कोई वैश्विक दक्षिण की यात्रा करता है, तो वह देख सकता है कि लोग हर प्रकार के विषाक्त रसायनों को बड़ी मासूमियत से हाथों से इधर से उधर करते हैं, डीडीटी के डिब्बों में नमक रखते हैं। यहाँ तक कि कीटनाशकों व फफूंदनाशकों को सीधे अनाज और सब्जियों पर छिड़कते हैं, क्योंकि वे उनके खतरों से अनजान हैं। प्रायः लोग पैकेटों पर मुद्रित निर्देशों को या तो पढ़ते नहीं हैं या पढ़ नहीं सकते हैं और यदि पढ़ भी ले तो उनमें उन खतरों को समझने की पर्याप्त पृष्ठभूमि नहीं है। ऐसी स्थिति में, पश्चिम में सामान्य रूप से उपलब्ध जानकारी जिंदगियों को बचा सकती है।

यह महत्वपूर्ण है कि दक्षिण में कई लोग जो अपनी संस्कृति एवं पर्यावरण बचाने हेतु सक्रियता से कार्यरत हैं, ने उत्तर में समय व्यतीत किया है। जब वे बेघरों को, या मानसिक चिकित्सालयों और वृद्धाश्रमों को देखते हैं और जब वे ऐसे अभियान में शरीक लोगों से मिलते हैं, जो पर्यावरण तथा समाज की समस्याओं को दूर करने में लगे हैं, तो उन्हें वह सशक्त प्रेरणा मिलती है जिससे वे मीडिया द्वारा रचित काल्पनिक छवियों के विरुद्ध प्रचार कर सकें।

दक्षिण के इनमें से अनेक कार्यकर्ताओं ने ‘*ऐन्थोप फ्यूचर्स*’ का अनुवाद कराने का प्रबंध किया है, वे कहते हैं कि लद्दाख की कहानी “उनकी अपनी कहानी” भी है। 1991 में आइसेक ने इसी शीर्षक पर फिल्म भी बनाई है। अलास्का से पेरू तक के स्थानीय समूहों ने पुस्तक तथा फिल्म का उपयोग सांस्कृतिक आत्मगौरव को सुदृढ़ करने के लिये किया और इस सत्य का प्रचार करने हेतु कि पाश्चात्य उपभोक्ता जीवन शैली मूलतः टिकाऊ नहीं है। उनके बीच पुस्तक का अनुवाद चालीस से अधिक भाषाओं में किया जा चुका है, जिनमें हंगेरियन, फ्रेंच,

लाओशियन और मंगोलियन भी हैं। पुस्तक की दक्षिण कोरिया में जबर्दस्त बिक्री हुई, न्यूजीलैंड से न्यू मैक्सिको तक अर्थशास्त्र के आचार्यों ने उसका उपयोग अपने पाठ्यक्रमों में किया है और उसे बर्मा में गुप्त रूप से लाया गया, जहाँ अब उसके अनुवाद का द्वितीय संस्करण आ रहा है। इस रुचि के फलस्वरूप, छोटा संगठन होते हुए भी आइसेक ने दुनिया भर में अपनी पहुँच बना कर उल्लेखनीय काम किया है।

वैश्विक स्तर पर स्थानीयता

‘*आइसेक*’ ने जिन उत्साहवर्धक प्रवृत्तियों का पालन-पोषण किया है वे इक्की-दुक्की घटनाएँ नहीं हैं। आज भूमंडलीकरण के विरुद्ध अधिक स्वर उठ रहे हैं और उसे लगातार बढ़े होते हुए समूहों व व्यक्तियों द्वारा दुनिया भर में चुनौती दी जा रही है। यहाँ तक कि अग्रणी वित्त पोषक और राजनीतिज्ञ भी अपनी चिंताएँ व्यक्त कर रहे हैं। विशेषकर गत दस वर्षों से, प्रतिरोध बढ़ रहा है और वास्तव में अब ऐसा लगने लगा है कि वैश्विक ज्वार को उलटा जा सकेगा।

1999 में मैंने एक ऐसे कार्यक्रमों में भाग लिया, जिसकी खबर सारे संसार में प्रकाशित हुई और भूमंडलीकरण के विरुद्ध बढ़ते प्रतिरोध को मीडिया ने भी प्रचारित किया; 40,000 से अधिक लोग सीएटल में विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की नुकसानदेह नीतियों के खिलाफ विरोध प्रकट करने हेतु एकत्रित हुए। तब से लगभग प्रत्येक आर्थिक शिखर वार्ता के मौके पर ऐसे विरोध किये गए। लोगों की समझ में आ गया है कि भूमंडलीकरण का — उनकी नौकरियों, समुदायों और पर्यावरण के लिये असली अर्थ क्या है। मुझे अखिल विश्व में समाज के एकदम भिन्न क्षेत्रों के लोगों के बीच के सहयोग को देखकर बहुत प्रेरणा मिली है : मजदूर यूनियनों, पर्यावरण कार्यकर्ताओं के साथ हाथ मिला रहे हैं तो शिक्षक, राजनीतिज्ञों के साथ और वैज्ञानिक, धर्माचार्यों के साथ।

यह आंदोलन अब साधारण विरोध से बढ़कर भविष्य के लिये सकारात्मक रास्ते बनाने और उसे आगे बढ़ाने के काम में लगा है। वर्ल्ड सोशल फोरम, जिसकी अब तक बैठकें ब्राजील, भारत, इटली, फ्रांस, इंग्लैंड और केन्या में हो चुकी हैं, इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सोशल फोरम उत्तर-दक्षिण वार्ता के लिये महत्वपूर्ण अवसर उपलब्ध कराता है, सूचनाओं और विचारों का आदान प्रदान, जिससे लोग वर्तमान आर्थिक प्रणाली का प्रतिरोध कर सकें और उसे कार्य रूप में परिणीत करके दिखा सकें, जैसा कि उनका नारा है “दूसरी तरह की दुनिया भी संभव है”।

“स्थानीयता की ओर” लौटने का भी एक उतना ही महत्वपूर्ण तथा विराट आंदोलन जारी है। दरअसल अधिकाधिक समूहों ने अब समझ लिया है कि स्थानीयकरण एक योजनाबद्ध समाधान का विस्तारक है। बुनियादी स्तर पर, केंद्रीकृत, ऊपर की तरफ भारी संरचनाएँ — वे

चाहे पूँजीवादी हों, समाजवादी या साम्यवादी — लोकतांत्रिक नहीं रह सकती। विकेंद्रीकरण करने वाली, या स्थानीयकरण को बढ़ावा देने वाली आर्थिक गतिविधि, वित्त से लेकर उद्योग व कृषि तक, भागीदारी-लोकतंत्र को बहाल करने के साथ-साथ सामाजिक तथा परिवेशीय ताने-बाने का नवीनीकरण भी कर सकती है। बजाय सरकार को ऊपर उठाने के, स्थानीयकरण व्यापार को नीचे लाता है। व्यापार और बैंकिंग को स्थान-आधारित बनाया जाना चाहिये ताकि संस्कृति और नैतिकता वाणिज्य को आकार दे, न कि इसका उल्टा हो।

स्थानीयकरण व्यापार समाप्ति का पक्षधर नहीं है, और न वह केवल स्थानीयता के प्रति आग्रही है। ज़मीनी स्तर पर स्थानीयकरण के प्रयासों की दीर्घकालीन सफलता और वृद्धि के लिये, उसके साथ नीतिगत परिवर्तन भी राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने चाहिये। केवल अलग थलग, बिखरे हुए प्रयासों की दृष्टि से विचार करने के बजाय, हमें ऐसी सरकारी नीतियों की माँग करनी चाहिये जो 'लघु उद्यम को बड़े पैमाने' पर समर्थन दें; और समुदाय-आधारित अर्थव्यवस्थाओं को बढ़ाने, पुष्पित-पल्लवित होने के लिये स्थान दें। आज हमें अपनी समस्याओं को हल करने हेतु अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की, कहीं अधिक ज़रूरत है। क्रमशः, जबकि सरकारें भूमंडलीकरण के वास्तविक विश्वव्यापी प्रयासों के प्रति समझदार हो रही हैं, राष्ट्र-राज्यों के समूहों के अलग से रणनीति बनाने की संभाव्यताएँ बढ़ रही हैं: वे डब्ल्यूटीओ को छोड़ कर, एक दूसरे की सहायता से बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर अपनी निर्भरता कम करने के इच्छुक हैं। बड़े सूक्ष्म रूप में, यह प्रक्रिया आरंभ हो चुकी है। 2006 में दक्षिण (लेटिन) अमेरिका में पाँच देशों ने मैक्सिको सिटी के विश्व जल मंच पर घोषणा की, कि वे मिल कर एक मोर्चा डब्ल्यूटीओ की जल निजीकरण की नीतियों के विरुद्ध बना रहे हैं।

जब भारी संख्या में लोग इस बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत के प्रति जागरूक हो जाएँ, भूमंडलीकरण से स्थानीयकरण की ओर, तब राजनीति के प्रतिनिधियों को इस बात के लिये मजबूर किया जा सकता है कि वे अंतर्राष्ट्रीय संधियों में ऐसी सौदेबाजी करें, जिससे स्थानीय व वैश्विक दोनों हितों की रक्षा हो। आज यह अतार्किक लग सकता है, किंतु स्थानीय व क्षेत्रीय स्तरों पर राजनैतिक पहल इस दिशा में आरंभ हो चुकी है। इस बदलाव की शुरुआत संयुक्त राज्य अमेरिका में देखी जा सकती है, जहाँ स्थानीय नेता, राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत की गई नीतियों को अमान्य कर रहे हैं। अमेरिका के नौ राज्य और 194 महापौरों ने ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन पर क्योटो शैली की कानूनी सीमाओं को अंगीकार किया है।

सारी दुनिया में सामुदायिक पहल, स्थानीय अर्थ व्यवस्थाओं को पुनः निर्मित करने के तमाम फायदों का प्रदर्शन कर रही हैं। इनमें से कई तो मौसम परिवर्तन के बढ़ते संकट और तेल की घटती आपूर्ति के कारण अस्तित्व में आए हैं। वास्तव में "पीक आइल" के प्रति बढ़ती

जागरूकता — वह बिंदु जहाँ विश्व के तेल भंडारों का आधा तेल निकाला लिया जाएगा — ने ज़मीनी स्तर पर संकट की भावना उत्पन्न की है, कि तेल पर निर्भरता को कम करना लाजमी है। इन चिंताओं से उद्देलित होकर, उत्तरी अमेरिका में पुनःस्थानीयकरण आंदोलन अपने पैर जमा रहा है। सैकड़ों समुदाय अपने कार्बन फुटप्रिंट को घटाने की कोशिश, माल परिवहन की दूरी कम कर के, विकेंद्रीकृत और नवीनीकरण योग्य ऊर्जा प्रणाली को स्थापित करके एवं परिवहन पर पुनर्विचार करके कर रहे हैं। इंग्लैंड में लगभग चालीस समुदाय एक समानान्तर प्रयास "ट्रांजिशन टाउन मुवमेंट" के प्रणेता बन गये हैं। इसके प्रमुख आग्रहों में से एक है, ऐसे कौशलों को पुनर्जीवित करना, जिनसे समृद्ध होते टिकाऊ समुदाय तैयार किये जा सकें, वह भी बगैर संसाधनों और ऊर्जा को व्यर्थ करते हुए, जो कि वैश्विक अर्थव्यवस्था की चारित्रिक विशेषता है।

पीक आइल और मौसम में परिवर्तन की हालिया चिंताओं के पहले से ही, हजारों ईको-विलेज (परिवेश-ग्राम) या अंतर्राष्ट्रीय समुदाय स्थानीयकरण को बढ़ाने हेतु, विशेषतः समुदाय तथा प्रकृति के बीच ज्यादा गहरे रिश्ते की पुनर्स्थापना के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। 1994 में वैश्विक ईको विलेज नेटवर्क की स्थापना की गई थी, जिसमें ऐसे समूहों को जोड़ा गया जो उपभोक्ता संस्कृति को त्याग कर ऐसी जीवन पद्धति को अपनाना चाहते हैं, जो आध्यात्मिक एवं परिवेशीय मूल्यों का समर्थन करती हों। अन्य स्थानीयकरण पहलों में स्थानीय मुद्राएँ तथा स्थानीय विनिमय व्यापार प्रणाली (एलइटीएस या लोकल एक्सचेंज ट्रेडिंग सिस्टम) शामिल हैं। संयुक्त राज्य में लोकल अलायंस फॉर लिविंग इकोनोमिज़ सभी लघु व्यापारों को एकजुट कर रहा है ताकि वे मिलकर विराट कार्पोरेट शृंखलाओं के दबावों का प्रतिरोध कर सकें।

स्थानीयकरण आंदोलन के अंदर आज तक की सबसे प्रभावी पहल स्वस्थ खाद्य अर्थतंत्रों को दोबारा सृजित करने की कोशिश है। बिना सरकार या उद्योग की मदद के, ये ज़मीनी स्तर के प्रयास अरबों डॉलर के विज्ञापन, गुप्त अनुदान तथा हंगामों पर जनशक्ति की विजय के सर्वाधिक आशावादी एवं सफल प्रयासों में हैं।

स्थानीय खाद्य अर्थतंत्र के तर्क अकाट्य हैं: स्थानीय रूप से उपजाया गया अन्न ताजा होता है और इसलिए उस भोज्य पदार्थ के मुकाबले अधिक स्वादिष्ट व पौष्टिक होता है, जो लंबी दूरी से परिवहन करके लाया जाता है। उसमें कम अनुरक्षक तथा कृत्रिम रसायन होते हैं, जो परिवहन में लगने वाले समय और अधिक समय तक दूकानों में रखने हेतु प्रयुक्त होते हैं। और जब उत्पादक, उपभोक्ता को व्यक्तिगत रूप से जानता हो, न कि चेहरा विहीन "लक्षित बाजार" को, तो उसके द्वारा उपभोक्ता के स्वास्थ्य से खिलवाड़ करने की संभावना कम हो जाती है। शायद सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि स्थानीय अर्थव्यवस्थाएँ कृषकों को अपने

उत्पादन में विविधता लाने हेतु प्रोत्साहित करती हैं, जिसमें तमाम पर्यावरणीय और आर्थिक लाभ सम्मिलित हैं। वैश्विक अर्थव्यवस्था, अपनी विशाल बिचौलियों और सुपर मार्केट शृंखलाओं के साथ, कृषकों पर दबाव डालती हैं कि वे टनों में एक जैसा उत्पाद पैदा करें, जो बड़े पैमाने की मशीनों — कटाई से लेकर परिवहन और पैकेजिंग तक — के लिये मुफीद हो। दूसरी ओर स्थानीय बाजार टनों से गाजर और आलू को नहीं संभाल सकता। अध्ययनों से यह साबित हुआ है कि वे किसान जो अपने घरों के आसपास बेचना आरंभ करते हैं, वे अपनी फसलों की विविधता को बढ़ाते हैं, क्योंकि स्थानीय बाजार उनकी मांग करता है।

2008 में इंटरनेशनल असेसमेंट ऑफ एग्रीकल्चरल साइंस एंड टेक्नालॉजी फॉर डेवलपमेंट ने एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जो विश्व भर में 400 से अधिक वैज्ञानिकों द्वारा, तीन वर्षीय अध्ययन पर आधारित था और उसका निष्कर्ष था कि औद्योगिक उत्पादन प्रणालियाँ, मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण की दृष्टि से महँगी हैं। उसके निदेशक, राबर्ट वाटसन ने सावधान किया कि यदि क्रांतिकारी बदलाव इस बाबत नहीं किये गए कि हम अन्न को कैसे पैदा और वितरित करते हैं, तो “दुनिया के लोगों को खिलाया नहीं जा सकता” और हमारे पास “ऐसी दुनिया रह जाएगी जिसमें कोई भी रहना नहीं चाहेगा।”

जैसे-जैसे वैश्विक खाद्य पद्धति के नकारात्मक प्रभावों की जानकारी बढ़ती जा रही है, अधिकाधिक लोग स्थानीय खाद्य वस्तुओं की ओर जाने लगे हैं। 1997 के बाद से, जब इंग्लैंड में प्रथम किसान बाजार बाथ शहर में खोला गया था, ऐसे बाजारों की संख्या इंग्लैंड में बढ़ कर 500 से ऊपर जा पहुँची है। कई लोग समुदाय समर्थित कृषि (सीएसए) में भी शामिल हो रहे हैं — वह योजना जो कृषकों और उपभोक्ताओं को एक दूसरे के अधिक समीप लाती है। यह आंदोलन पूरे संसार में फैल रहा है, स्विट्जरलैंड, जहाँ से यह लगभग तीन दशक पूर्व आरंभ हुआ से लेकर जापान तक, जहाँ सैकड़ों लोग इसमें शरीक हो गए हैं। अमेरिका में सीएसए की संख्या कुकुरमुत्तों की भाँति, 1986 में 2 से लेकर अब 1000 से अधिक हो गई है। छोटे किसान — जो उन दूरस्थ बाजारों की सनक के सामने असुरक्षित रहते हैं और जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता — खतरनाक दर से हर साल दीवालिया होते जा रहे हैं, किंतु प्रत्यक्ष विपणन में वह क्षमता है कि वह इस प्रवृत्ति के रुख को बदल दें।

अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर अन्य खाद्य-आधारित आंदोलनों में परमाकल्चर है — जिसने ज़मीनी स्तर की परियोजनाओं को जन्म दिया है — ज़मीन के उपचार तथा आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित करने, वैविध्यपूर्ण खाद्य एवं ऊर्जा प्रणालियों के उन्नयन के लिये; बायोडायनेमिक्स, एक आध्यात्म आधारित जैविक कृषि का मार्ग; तथा स्लो फूड नेटवर्क जो “ईको गैस्ट्रोनामी” की अवधारणा पर आधारित है और जो “प्लेट एवं प्लेनेट” के बीच के जुड़ावों के प्रति

जागरूकता की आवाज उठाता है। 1986 में अपनी स्थापना के बाद आज इसके सदस्यों की संख्या 80000 से अधिक हो गई है।

जीनान्तरित खाद्य के प्रति जागरूकता का जो उबाल आया है, उसने कीटनाशक, कुंभीनाशक और वृद्धिकारक हारमोनों से संबंधित पूर्व की चिंताओं से हाल के वर्षों में हाथ मिला लिया है, जिसके कारण गत कुछ वर्षों में जैविक खाद्य के विक्रय में नाटकीय वृद्धि हुई है। जब इंग्लैंड में मानसैंटो के पहले जीएम सोयाबीन बंदरगाहों पर आए, तब जीएम फसलों के बारे में जनता को कोई जानकारी नहीं थी। आज जीएम खाद्य ज्वलंत मुद्दा बन गया है और यूरोप में जनमत सर्वेक्षण बतलाते हैं कि अधिकांश लोग इनके उपयोग के खिलाफ हैं। ज़्यादा से ज़्यादा लोग अनुभव करने लगे हैं कि वे जो आहार लेते हैं उसकी सुरक्षा तथा पौष्टिकता को सुनिश्चित करने का उपाय और धरती पर कृषि के प्रभाव को कम करने के लिये जैविक, विशेषतः स्थानीय जैविक खाद्य सामग्री खरीदी जानी चाहिये। जैविक खाद्य का वैश्विक बाजार 2003 से तीन गुना बढ़ कर 70 बिलियन डॉलर से अधिक हो गया है।

उपभोक्ताओं और मतदाताओं के इन स्पष्ट संदेशों के बावजूद, सरकार तथा निहित स्वार्थ वाले सुनने को तैयार नहीं हैं। 2008 में जी-8 की बैठक में, प्रतिनिधि इस नतीजे पर पहुँचे कि तेल और खाद्य की कीमतें आर्थिक वृद्धि को हानि पहुँचा रही हैं और उसी वर्ष यूएस इनवायरनमेंटल एजेंसी ने खाद्य प्रदाय पर बढ़ती कीमतों के प्रभाव पर कोई कार्यवाही करने से इनकार कर दिया। वस्तुतः यह मुख्यधारा अर्थतंत्र की अनियंत्रित वृद्धि ही है जो कीमतों को बढ़ा रही है और मूल आवश्यकताओं को क्रय शक्ति के ही बाहर कर देती है।

जैसे-जैसे मौसम में परिवर्तन और अन्न सुरक्षा के खतरे अधिक स्पष्ट होते जा रहे हैं, काल्पनिक बहानों और आँकड़ों से युक्त तर्क गढ़े जा रहे हैं। उदाहरण के लिये यह तर्क दिया जा रहा है कि न्यूजीलैंड से इंग्लैंड आयात किये गये मेमने से इंग्लैंड में उत्पादित मेमने की तुलना में कुल मिलाकर कम कार्बन फ़ूट प्रिंट होता है। यह कृषि एवं व्यापार का संकुचित दृष्टिकोण वैश्विक ढाँचे की मदद करता है और मौजूदा समस्याओं से ध्यान हटाने का काम करता है: हर स्तर पर कृषि को अधिक टिकाऊ बनाने से — आर्थिक, सामाजिक व परिवेशीय। कुछ तो यहाँ तक का दावा करते हैं कि स्थानीय खाद्य “अभिजातीय” है कि वह तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं की उपेक्षा करता है, जबकि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। यदि गरीब देश अपना श्रम और अपनी सर्वाधिक उर्वर भूमि पर अपने लिये अनाज पैदा करेंगे बजाए धनी देशों को आकर्षक निर्यात करने के, तब निर्धनता और भूख दोनों का शमन होगा।

दरअसल स्थानीय खाद्य को आगे बढ़ाने और भूमंडलीकरण का विरोध करने वाले सबसे बड़े समूहों में से एक का उदय दक्षिण अमेरिका में हुआ। छप्पन देशों के लघु एवं मध्यम आकार

के किसानों, देशज लोग, ग्रामीण युवकों और कृषि कार्यकर्ताओं को साथ लाकर, ला विया कैम्पेसिना के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक न्याय को बढ़ावा देने के कार्य को प्रायोजित किया, प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा तथा टिकाऊ, लघु आकार कृषि को प्रोत्साहित किया। इसके काम ने उत्तर व दक्षिण के समूहों को जोड़ कर जो काम किया है, वह सिद्ध करता है कि स्थानीय खाद्य आंदोलन वास्तव में विश्वव्यापी हो गया है।

सुख का अर्थशास्त्र

हममें बदलाव लाने की ताकत है, अपने एवं अपने बच्चों के लिये एक बेहतर भविष्य बनाने की शक्ति है। भूमंडलीकरण अवश्यभावी नहीं है, विकासशील शक्तियाँ और उसके सक्रिय समर्थकों का विश्व की जनसंख्या में प्रतिशत “एक” से भी कम है। चुनाव हमें करना है। हम भूमंडलीकरण के मार्ग पर चलना जारी रख सकते हैं, जो कि किसी भी हालत में मानवीय कष्ट और पर्यावरणीय समस्याओं में इजाफा करता रहेगा, या अपने निकृष्टतम रूप में हमारे जीवन के लिये ही खतरा बन जाएगा। या फिर, स्थानीय अर्थ व्यवस्थाओं को सक्रिय रूप से सहायता करके, हम ज्वार की दिशा को बदलना आरंभ कर सकते हैं।

लोगों एवं धरती के उपचारार्थ, अर्थव्यवस्थाओं का स्थानीयकरण करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण रणनीतिक रास्ता है — एक दूसरे के साथ एवं उस प्राकृतिक विश्व से जिसमें हम रहते हैं, अंतर्निभरता पुनर्स्थापित करना। लदाख ने मेरी आँखें उस खुशी, खुशहाली और संतोष के प्रति खोल दी है जो कि पारस्परिक निर्भरता के जीवंत अनुभव से आते हैं। वहाँ पर किये गए मेरे कार्य ने मुझे दिखाया है कि गहनतम, अत्यंत बुनियादी स्तर पर स्थानीयकरण ही खुशी का अर्थशास्त्र है।

लेखिका के विषय में

हेलेना नार्बर्ग-होज़ अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सांस्कृतिक टीकाकार, लेखिका और पर्यावरणविद् होने के साथ-साथ विश्वव्यापी स्थानीयकरण आंदोलन की प्रणेता भी हैं। स्वीडन, जर्मनी, आस्ट्रिया, इंग्लैंड तथा यूनाइटेड स्टेट्स में शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने भाषा शास्त्र का प्रशिक्षण प्राप्त किया — जिसमें नोअम चोम्स्की के साथ मिलकर डॉक्टरल अध्ययन भी शामिल है — और वे सात भाषाएँ बोल सकती हैं। 1975 में, वे आधुनिक युग में लदाख या “छोटा तिब्बत” आने वाले शुरुआती पश्चिमी लोगों में से थी और उसके बाद से वे पारंपरिक विकास की संभावनाओं की तलाश करने हेतु आ रही हैं। इन प्रयासों के लिये उन्हें राइट लाइवलीहुड पुरस्कार मिला, जो नोबल पुरस्कार का विकल्प है। वे इंटरनेशनल सोसायटी फॉर ईकोलाजी एंड कल्चर (आइसेक) की संस्थापक एवं निदेशक हैं; नार्बर्ग-होज़ इंटरनेशनल कमीशन ऑन द फ्यूचर आफ फूड एंड एग्रीकल्चर की सदस्य हैं तथा वे द ईकोलोजिस्ट मैगजीन के संपादक मंडल के बतौर अपनी सेवाएँ दे रही हैं। वे इंटरनेशनल फोरम आन ग्लोबलाइजेशन एंड द ग्लोबल ईकोविलेज नेटवर्क की भी सह-संस्थापिका भी हैं।

द इंटरनेशनल सोसायटी फॉर ईकोलाजी एंड कल्चर अलाभकारी संगठन है, जो सांस्कृतिक व जैविकीय विविधता दोनों की सुरक्षा के लिये कार्यरत है। आइसेक, नीतियों में बदलाव एवं आर्थिक स्थानीयकरण के हित में रणनीति बनाने का समर्थन करता है, जो कि सामाजिक एवं परिवेशीय नवीनीकरण की कुंजी है। इसके शैक्षणिक कार्यक्रम एकल मुद्दों से आगे जाकर हमारे अनेक संकटों के मूल कारणों पर केंद्रित हैं। आइसेक, लदाख प्रोजेक्ट का पितृ संगठन है, जिसने तिब्बती पठार में अपने अभूतपूर्व कार्य के कारण विश्वव्यापी मान्यता अर्जित की है। आइसेक ने हाल ही में “एन्शेंट फ्यूचर्स नेटवर्क” की स्थापना की है, विश्व के उन तमाम व्यक्तियों और समूहों को एक मंच पर लाने हेतु, जो आर्थिक भूमंडलीकरण के विरुद्ध अपनी सांस्कृतिक निष्ठा को बचा कर रखने के कार्य में लगे हुए हैं। आइसेक के कार्यालय यूनाइटेड स्टेट्स, यू. के. और आस्ट्रेलिया में हैं; और अनुशंगी कार्यालय जर्मनी, फ्रांस एवं लदाख में हैं। अधिक जानकारी के लिये हमारी वेबसाइट www.isec.org.uk देखें।

एन्शेंट फ्यूचर्स तथा उस पर आधारित फिल्म का अनुवाद चालीस से अधिक भाषाओं में हो चुका है और उनका नियमित उपयोग शिक्षकों, कार्यकर्ताओं एवं ज़मीनी स्तर के संगठनों द्वारा दुनिया भर में किया जा रहा है। फिल्म आइसेक से डीवीडी पर उपरोक्त वेब पते पर उपलब्ध है।

बनियन ट्री के बारे में

बनियन ट्री ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण करते हैं, जो जड़ एवं चेतन के संबंधों को आपस में जोड़ती हैं। हमारी पुस्तकें संस्थानीकृत विश्व की पूर्व परिभाषित अवधारणाओं को चुनौती देती हैं; अपनी परंपरागत एवं सांस्कृतिक जड़ों की ताकत की समझ को उसी प्रकार सुदृढ़ करती हैं जैसे कि बरगद की जड़ें।

यहाँ आपको ऐसी पुस्तकें मिलेंगी जो ज्ञान, संस्कृति एवं परंपरा के संस्थानीकरण को चुनौती देती हैं; पुस्तकें जो भोजन, स्वास्थ्य एवं कृषि के नियंत्रण और मिलावट को चुनौती देती हैं; सीखने, स्कूल-विहीन शिक्षा तथा परिवेष के टिकाऊ विकास पर पुस्तकें। हमारा यह अटल विश्वास है कि “कुछ भी पढ़ाया नहीं जा सकता” तथा “काम ही गुरु है”। यहाँ आप अंग्रेजी, हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में पुस्तकें खरीद सकते हैं।

हम उन व्यक्तियों की भी सहायता करते हैं, जो वैकल्पिक मीडिया, सामुदायिक ज्ञान एवं टिकाऊ विकास के क्षेत्र में अपना रास्ता स्वयं तलाशना चाहते हैं। जिन्हें रुचि हो, वे हमें लिख सकते हैं।

बनियन ट्री

1-बी, धेनुमार्केट, दूसरा माला

इंदौर – 452003, इण्डिया

टेली : 91-731-2531488, 2532243

मोबाइल : 9425904428

ई-मेल: banyantreebookstore@gmail.com

वेबसाइट: www.banyantreebookstore.weebly.com

or / www.banyantreebookstore.com



सातत्य की अवधारणा

खोए आनंद की तलाश में

जीन लीडलॉफ

मैं नहीं जानता कि क्या दुनिया की एक पुस्तक से बचाया जा सकता है, परन्तु यदि ऐसा ही सकता तो वो पुस्तक सिर्फ यही हो सकती है।

जॉन होवट

जीन लीडलॉफ ने दक्षिण अमेरिका के घने जंगलों में पाषाण युगीन इंडियनों – सनेमा और येक्वुआना लोगों के साथ करीब ढाई वर्ष बिताये। यहाँ उसे हुए अनुभवों ने उसकी उस पश्चिमी अवधारणा को ध्वस्त कर दिया कि हमें कैसे रहना चाहिये और उसकी एक अलग धारणा बनी कि मनुष्य का स्वभाव आखिर है क्या? “हम अपनी पश्चिमी सभ्यता में स्वयं के स्वभाव को समझ ही नहीं पाए हैं।” अपनी अवधारणा की पुष्टि के लिए वह पाँचवी बार फिर से गई और “द कन्टिन्युअम कान्सेप्ट” लिखी। उसका मानना है कि यह बात तार्किक क्षेत्र में आती ही नहीं कि शिशु के साथ कैसा बरताव किया जाए। शिशु पालन पर अपने समय की एक सर्वश्रेष्ठ पुस्तक।

इसी पुस्तक से...

“...इसमें जितनी भी स्त्रियों या बच्चों ने भागीदारी क्यों न की हो इस स्नान में विलासिता का रोमन गुण मौजूद था। उनका प्रत्येक कृत्य ऐंद्रिक आनंद का बयान करता था और बच्चों को ऐसी अद्भुत वस्तुओं की तरह स्पर्श किया गया जिनके मालिक अपने सुख और गर्व को छिपा ही न पा रहे हों।”

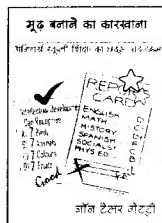
“...अच्छू ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि मुझे तेज़ चलना चाहिए, या अगर मैं आरामदायक गति से चलूँगी तो मेरी प्रतिष्ठा आहत होगी, कि मेरे कार्य प्रदर्शन से मुझे आँका जा रहा है या रास्ते में लगने वाला समय पहुँचने के बाद के समय से कम वांछनीय है।”

सातत्य की अवधारणा एक ऐसी पुस्तक है जो लोगों की जिन्दगी को बदल सकती है और वाकई बदल रही है। इसे जरूर पढ़ना चाहिये।

शिल्पा-हरि, बैंगलौर, एक सातत्य पालक

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने सहजबोध से इतना दूर हो गए हैं कि अब हम इन्सानों को इन्सान कोई डिग्री लिए ही उसने अपनी यात्राएं शुरू कर दी – पहले वह यूरोप को लेकर आकर्षित हुई और फिर दक्षिण अमरीकी जंगलों में। उनकी यह पुस्तक का करीब पन्द्रह से अधिक भाषाओं में छप चुकी है और शीघ्र ही बनियन ट्री द्वारा कई अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराई जाएगी।

योरित-अविराम, ओरोविल, एक सातत्य पालक



मूढ़ बनाने का कारखाना

अनिवार्य स्कूली शिक्षा का छद्म पाठ्यक्रम

जॉन टेलर गेट्टी

In English

DUMBING US DOWN

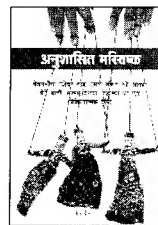
The Hidden Curriculum of Compulsory Schooling

JOHN TAYLOR GATTO

लगातार बजने वाली घंटियाँ, एक कक्ष से दूसरे कक्ष में, प्रतिदिन आठ घंटे की कैद, आयु के अनुसार सब्जी-भाजियों की तरह विभाजन, निजता की कमी और निरंतर निगरानी, क्रियाशील समुदाय से पूरी तरह काटकर तथा स्कूल के बाकि सभी *पाठ्यक्रमों* की रचना इस प्रकार की गई है कि हमारे बच्चों को यह न सीखने दिया जाये कि वे किस तरह सोच समझकर कार्य करें — वे हमेशा दूसरों पर निर्भर बने रहें।

तीस वर्ष तक सरकारी स्कूल में पढ़ाने और लगातार पुरस्कार जीतने के बाद जॉन टेलर गेट्टो इस दुःखद निर्णय पर पहुँचे कि स्कूलिंग का शिक्षा में कोई वास्ता नहीं है — बहुत ही थोड़ा सा — बल्कि युवाओं को यह सीखाना कि कैसे आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की चाकरी की जाये। *डंबिंग अस डाउन* वर्तमान स्कूली शिक्षा प्रणाली की कई *भयानक* वास्तविकताओं को उजागर करती है और उन अभिभावकों के लिए एक पथ-प्रदर्शक बन गई है जो “दूसरा और सही रास्ता” तलाशना चाहते हैं। यह पुस्तक भारतीय संदर्भ में भी उतनी ही प्रासंगिक है और हमें यह सोचने को बाध्य करती है कि हम कैसे हमारे बच्चों को शिक्षित करें — और किसके लिए।

जॉन टेलर गेट्टो ने न्यूयार्क सिटी पब्लिक स्कूल में तीस वर्षों तक पढ़ाया है। उन्हें इस दौरान न्यू यार्क सिटी टीचर अवार्ड और न्यू यार्क स्टेट टीचर अवार्ड से भी पुरस्कृत किया गया था। शिक्षा में नई सोच को लेकर वे काफी लोकप्रिय वक्ता हैं और अपने व्याख्यानों के लिए उन्होंने पुरे उत्तर अमरीका में करीब 15 लाख मील की लंबी यात्राएँ की हैं। उनकी प्रलयकारी पुस्तक “*डंबिंग अस डाउन*” की अंग्रेजी में अब तक *दो लाख* से भी ज्यादा प्रतियाँ छप चुकी हैं। हाल ही में सत्याग्रह की भावना से उन्होंने मानकीकृत परीक्षा को तोड़ने और शिक्षा प्रणाली से असहयोग करने के लिए एक आंदोलन की शुरुआत की है — परीक्षा पुस्तकों में यह लिखना कि “*मैं आपका टेस्ट नहीं लेना पसंद करूँगा।*” उनकी अन्य पुस्तकें हैं, *ए डिफरेंट काइन्ड ऑफ टीचर*, *द अण्डरग्राउन्ड हिस्ट्री ऑफ अमेरिकन एजुकेशन* और *विपन्स ऑफ मास इन्स्ट्रक्शन*।



अनुशासित मस्तिष्क

वेतनभोगी पेशेवर तथा उसके जीवन को आकार देने वाली आत्मा विनाशी व्यवस्था पर एक विवेचनात्मक दृष्टि

जेफ शिमट्

In English

DISCIPLINED MINDS

A Critical Look at Salaried Professionals and the Soul-Battering System that Shapes their Lives

JEFF SCHMIDT

भारत एवं विश्वभर में, काम अधिकाधिक राजनैतिक होता जा रहा है। वेतनभोगी पेशेवरों की संख्या लगातार बढ़ रही है, क्योंकि कामों के लिये ऐसे कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, जो शक्तिशाली हितों का ध्यान रखें और जो अपनी किसी भी सामाजिक दृष्टि को उनके हक में गौण कर दें।

पेशेवर नौकरियों के लिये प्रतिस्पर्धा तीव्र हो गई है, जिसने शिक्षा को ऊँचे दाँव वाला खेल बना दिया है। इसलिये लोग ऐसा प्रमाण-पत्र चाहते हैं जिसकी कार्पोरेट दुनिया में मांग हो। आज हर चरण पर भय की छाया मंडराती रहती है क्योंकि स्कूलों में दाखिले के लिये जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा है, और स्नातक हो जाने के पश्चात् भी नौकरी की निरंतरता, मालिक की इच्छा पर निर्भर करती है। जीवित रहने के लिये, कई लोगों ने निगमित प्रवृत्तियों व मूल्यों को, बेहतर दुनिया के लिये काम करने के अपने संकल्प से अलग रखते हुए अपना लिया है।

परन्तु मालिकों को हमेशा वह नहीं मिल पाता है जैसा वे चाहते हैं। इसे समझ लेने पर कि कार्य मूलतः राजनैतिक क्रिया है, आप शिक्षा और नौकरी की गड़ड़-मड़ड़ को आराम से पार कर सकते हैं, जो कि स्वयं आपकी पहचान की ही लड़ाइयाँ हैं। आप अपनी नैतिक निष्ठा और मूल्यों को बरकरार रखते हुए भी, अपने उद्देश्यों का अनुगमन कर सकते हैं, न केवल अपने निजी सुख के लिये, अपितु समाज के लिये भी। यह पुस्तक बताती है कि कैसे आप ऐसा कर सकते हैं।

आप क्या बनेंगे? यही यक्ष प्रश्न है। *अनुशासित मस्तिष्क* आपको लड़ने के लिये तैयार करती है, ताकि आप स्वतंत्र चिंतन कर सकें और आज के नैगमिक समाज में अपनी द्रष्टि के अनुसार कार्य कर सकें।

जेफ शिमट् उन्नीस वर्षों तक *फिजिक्स टुडे* पत्रिका के संपादक रहे जब तक कि उन्हें इस परिवर्तनवादी पुस्तक लिखने के लिये नौकरी से निकाल न दिया गया। उन्होंने कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय, इरविन से भौतिकी में पीएचडी की और अमरीका, सेंट्रल अमरीका और अफ्रीका में पढ़ाया। वे लास एंजल्स में पैदा हुए, पले-बढ़े और वर्तमान में वाशिंगटन डी.सी. में रहते हैं। आप jeffschmidt@alumi.uci.edu पर उन्हें लिख सकते हैं।



लड़ाई से लगाव

अमेरिका युद्ध छोड़ने में क्यों असमर्थ है।

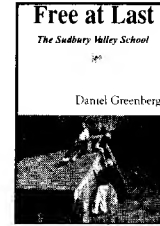
जोल आन्द्रेज़

यह पुस्तक बड़े सरल शब्दों में यह दिखाने का प्रयास करती है कि आखिर अमेरिका को बार-बार युद्ध लड़ने की नोबत क्यों आती है, यह मीडिया, बड़े कॉर्पोरेशंस और युद्ध के मुनाफाखोरों की भी कलाई खोल कर रख देती है जो आम जनता को लगातार युद्ध के लिए उकसाते रहते हैं।

“लड़ाई से लगाव पुस्तक दुनिया की सबसे बड़ी ताकतवार और विनाशकारी सैनिक ताकत से टक्कर लेती है। पिछले कुछ सालों में अन्य देशों की तुलना में अमेरिका बहुत ज्यादा युद्धों में उलझा रहा है। पैना-प्रहार करती और तथ्यों पर आधारित यह किताब अपने पक्ष में 150 सबूत पेश करती है। पुस्तक शुरू करने के बाद आप उसे पूरा पढ़े बिना रख नहीं पायेंगे। दो घंटों में खत्म होने वाली इस किताब को आप जल्दी भूल नहीं पायेंगे।”

अरविन्द गुप्ता
IUCAA

जोल आन्द्रेज़ की चित्र कार्टून पुस्तक लड़ाई से लगाव - ADDICTED TO WAR का हिंदी अनुवाद है। यह पुस्तक अब तक विश्व की सात भाषाओं में छप चुकी है और इसकी दो लाख से भी ज्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं।



FREE AT LAST

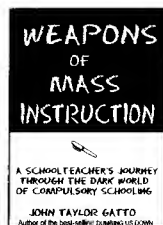
The Sudbury Valley School

Daniel Greenberg

In the late 1960's Daniel Greenberg an American physicist was looking for a child friendly school near Boston for his own children. He couldn't find one. So, a few like minded parents got together and started the Sudbury Valley School.

This book is simply written, shorn of all educational jargon. It recounts the inspiring story of this marvelous school where children can “just be”. There is no curriculum, no classes, no grades, no coercion, no uniforms, no bells and none of the rituals which define a regular school.

Here children are treated as responsible citizens and they carry the burden of their own education. Unless asked, the teachers “stay away” from the children. Here children discover their own innate interests and then gallantly pursue them. And because they chose them, they also rough it out and learn them well. So, children become the true architects of their own education.



WEAPONS OF MASS INSTRUCTION

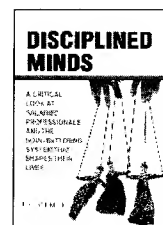
A School Teacher Journey Through the Dark World of Compulsory Schooling

JOHN TAYLOR GATTO

Here again John Taylor Gatto in his famous storytelling style shows that how forced schooling seduces the trapped into believing us that inert knowledge, memorized fact bits and sequences is the gold standard of intellectual achievements. Learning to connect those bits into meanings for oneself is always discouraged. He further demonstrates that this habit training is a major *Weapon of Mass Instruction* and the harm school inflicts is rational and deliberate.

This book is filled with many real life examples of people who escaped the trap of compulsory schooling at the same age when we were once, sitting at our school desks, copying notes from a blackboard, getting yelled at. *Weapons of Mass Instruction* shows us that realization of personal potential requires a different way of growing up and growing competent, one which Gatto calls "open-source learning," which is of much higher quality than rule-driven, one-size-fits-all schooling.

JOHN TAYLOR GATTO has taught for over 30 years in public schools and is recipient of New York City Teacher of the Year Award and New York State Teacher of the Year. He is much sought after speaker on education. Recently he has started *Bartleby Project* to peacefully refuse to take standardized tests or to participate in any preparation of these tests by simply writing, "I would prefer not to take your test." His other books are *A Different Kind of Teacher*, *The Underground History of American Education* and *Dumbing Us Down (Banyan Tree)*.



DISCIPLINED MINDS

A Critical Look at Salaried Professionals and the Soul-Battering System that Shapes their Lives

JEFF SCHMIDT

हिन्दी में

अनुशासित मस्तिष्क

वेतनभोगी पेशेवर तथा उसके जीवन को आकार देने वाली व्यवस्था पर एक विवेचनात्मक दृष्टि
जेफ़ शिमिट्

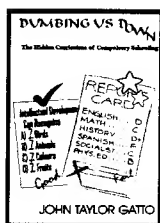
In India and around the world, work is becoming more political. The ranks of salaried professionals are swelling, as more jobs require employees who are sensitive to powerful interests .. and who subordinate any social vision of their own.

Competition for professional jobs has intensified, making education a high-stakes game, as people seek the credentials that corporate employers demand. Fear reigns at every stage, as competition for admission to top schools is fierce, and continued employment after graduation is at the boss's pleasure. To survive, many individuals have adopted corporate attitudes and values, sidelining their commitment to work for a better world.

But the bosses don't always get what they want. By understanding that work is an inherently political activity, and that education and employment are battles for your very identity, you can safely navigate the minefields of schooling and employment. You can hold on to your values, keep your moral integrity and pursue your vision, not only for your own personal happiness, but for society's sake as well. This book shows you how.

Who will you be? That is the question. *Disciplined Minds* arms you for the battle to think independently and pursue your own vision in today's corporate society.

Jeff Schmidt was an editor at *Physics Today* magazine for nineteen years, until he was fired for writing this provocative book. He has a PhD in physics from the University of California, Irvine, and has taught in the United States, Central America and Africa. Born and raised in Los Angeles, he now lives in Washington, D.C. You may write to him at jeffschmidt@alumni.uci.edu.



DUMBING US DOWN

The Hidden Curriculum of Compulsory Schooling

JOHN TAYLOR GATTO

हिन्दी में “मूढ़ बनाने का कारखाना - स्कूली शिक्षा का छद्म पाठ्यक्रम”

Gatto comes down hard on the industrial one-size-fits-all schooling model. He argues that not only are schools irrelevant to the lives of children, they are in fact damaging. His central thesis is that factory schooling is causing great harm to children and communities. It is an anti-learning, anti-social, anti-democratic activity.

Manish Jain, *Shikshantar Andolan*

Continuous ringing of the bells, from one compartment to another compartment, every day eight hours of confinement, the age-segregation like vegetables, the lack of privacy and constant surveillance, the crazy sequences, cut-off from the working community and all the rest of the curriculum of schooling are designed exactly as if someone had set out to prevent children from learning – how to think and act – to coax them into addiction and dependent behavior.

After teaching for years, John Taylor Gatto reached to the sad conclusion that schooling has nothing to do with learning – but to teach young people to conform to the economic and social order. *Dumbing Us Down* reveals shocking reality to today's school system and has become a beacon for parents seeking alternatives to it.

JOHN TAYLOR GATTO has taught for over 30 years in Government Public Schools and is recipient of the New York City Teacher of the Year Award and New York State Teacher of the Year. He is much sought after speaker on Education. Recently he has started Bartleby Project to peacefully refuse to take standardized tests or to participate in any preparation of these tests by simply writing “*I would prefer not to take your test.*” His other books are *A Different Kind of Teacher*, *The Underground History of American Education* and *Weapons of Mass Instruction* (Banyan Tree).

“लद्दाख में मैंने देखा है कि प्रगति जे लीनों की धरती से अलग कर दिया है, एक-दूसरे से अलग और अंततः स्वयं अपने से अलग। मैंने सुखी लीनों की अपनी प्रगति की खोती देखा, जब उन्होंने हमारे मानदंडों के अनुसार रहना शुरू किया। इसके फलस्वरूप, मुझे इस कृती पर पट्टी बना पड़ा कि व्यक्ति की बताते में संस्कृति की भूमिका उससे कहीं अधिक होती है, जितना मैं पहले सोचती थी।”

लद्दाख या “छोटा तिब्बत” की संस्कृति, परंपरा तथा हो रहे परिवर्तनों पर एक चलता फिरता दर्पण है ‘प्राचीनता का भविष्य’। यह पुस्तक विकराल होती वैश्विक अर्थव्यवस्था की सच्चाई उजागर करने के साथ ही आर्थिक स्थानीयकरण के पक्ष में समर्थन जुटाने की जरूरत के लिये अंतिम चेतावनी भी देती है।

1975 में, हेलेना नार्बर्ग-होज़ जब पहली बार लद्दाख आई तब परिवार और समुदाय स्वस्थ एवं सुदृढ़ थे, लोग सौम्य थे और अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी। फिर विकास की एक लहर आई। गत तीन दशकों से हिमालय का यह हिस्सा बाहरी बाज़ारों और पश्चिम आधारित प्रगति की चपेट में आ गया है। इसके नतीजे बड़े ही भयावह हैं – प्रदूषित हवा और पानी से लेकर खाने संबंधी विकार से लेकर सांप्रदायिक झगड़े – सब कुछ पहली बार।

लेकिन यह कहानी निराशा से दूर, आशा की ओर ले जाती है। हेलेना नार्बर्ग-होज़ का तर्क है कि यह सामाजिक और पर्यावरणीय विघटन न तो अपरिहार्य है और न ही क्रम-विकास की देन, अपितु एक खोची समझी चाल के तहत राजनीतिक और आर्थिक फैसलों का उत्पाद है। अपने नए “बाद में” में वे लिखती हैं कि लद्दाख की सांस्कृतिक विरासत को पुनर्स्थापित करने के प्रेरणादायी प्रयास शुरू हो चुके हैं, जिसमें पाँच हजार महिलाओं का सशक्त समूह और गाँव के स्तर पर नवीनीकरण करने योग्य ऊर्जा परियोजनाएँ शामिल हैं। वे विश्वभर में चल रहे स्थानीयकरण आंदोलनों के बारे में भी बतलाती हैं कि किस तरह लोगों ने शोषण की अर्थव्यवस्था को त्याग कर स्थान आधारित संस्कृति की ओर देखना शुरू कर दिया है, जो फिर से समुदायों को सुदृढ़ करने और प्रकृति से हमारे संबंधों को मज़बूत बनाने का काम करती है।



हेलेना नार्बर्ग-होज़ अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सांस्कृतिक आलोचक, लेखिका और पर्यावरणविद होने के साथ-साथ विश्वव्यापी स्थानीयकरण आंदोलन की प्रणेता भी हैं। 1975 से वे पारंपरिक विकास की संभावनाओं की तलाश करने हेतु लद्दाख आ रही हैं। इन प्रयासों के लिये उन्हें राइट लाइवलीहुड पुरस्कार मिला, जो नोबल पुरस्कार का विकल्प है। वे इंटरनेशनल सोसायटी फॉर ईकोलाजी एंड कल्चर (आइसेक) की संस्थापक एवं निदेशक हैं; नार्बर्ग-होज़ इंटरनेशनल कमीशन ऑन द फ्यूचर ऑफ़ एंड एंथ्रोक्लेश्म की सदस्य हैं तथा वे द ईकोलोजिस्ट मैगज़ीन के संपादक मंडल के स्तौर अपनी सेवाएँ दे रही हैं। वे इंटरनेशनल फोरम ऑन ग्लोबलाइज़ेशन एंड द ग्लोबल ईकोविलेज नेटवर्क की सह-संस्थापिका भी हैं।

इस पुस्तक को प्राप्त करने के लिए संपर्क करें

बनियन ट्री

1-बी, घेनुमार्केट, दूसरा माला

ईंदौर - 452003, इण्डिया

टेली : 91-731-2531488, 2532243

मोबाइल : 91-9425904428

e-mail: banyantreebookstore@gmail.com

website: www.banyantreebookstore.weebly.com

www.banyantreebookstore.com

BANYAN
TREE ₹ 250

ISBN: 978-93-82400-03-1



9 789382 400011